...lombo

...oping countries, the
... the West has been
...inadequate.
...communique broadly
... the well-known
...the two countries with
... West Asia and Viet-
... insistence on Israel's
... the June 4 positions
... be unrealistic in view
...rcumstances that pre-
... conflict and the fact
... territorial adjust-
...ould be necessary in
... to ensure the main-
...f peace in the area.
...ring that the West
...lem should be solved
...-range basis and with
...ct to "the territorial
... and sovereignty of
... in this area", the
... Ministers have made
...at they recognise the
...Israel to survive in
...h her Arab neigh-
... that they desire an
... peace settlement
...l cover the refugee
...nd other issues like
...om of passage in the
...al and the Tiran
...ich affect the rela-
...veen Israel and the
...es.

... the most welcome
... in the communique,
...icates that the two
...are earnestly seeking
... in the wider
... regional defence, is
...nation of their con-
... "the Indian Ocean
...d be an area of
...is implies that India
...lue course be prepar-
... over the burden of
... peace in the Indian
..., which previously
... solely borne by the
...gdom.
...ion friendship is so
... to the evolution of
...ke a system of re-
...peration in South-
...that the Colombo
...ld be hailed as a
... India's post-Inde-
... diplomacy. Mrs
... consolidated what

... on March 2, 1953. He, too, spent several hours sitting in the big room that was so crowded with people. But he was drunk and he soon left. He went on drinking in the servants' quarters. He gave the doctors hell and shouted that they had killed or were killing our father. Finally he went home.

He was attending the General Staff Academy. My father had been outraged at Vassily and compelled him to go. But my brother no longer was capable of study — he was an alcoholic.

He started the war as a captain at 20 and finished it as a lieutenant-general at 24. He was pushed higher and higher. Those responsible couldn't have cared less about his strength and weaknesses. Their one thought was to curry favour with my father. Yet he could no longer fly his own plane.

Shady companions

My father saw the state he was in. He scolded him unmercifully. Vassily was ill and what he needed was to be cured. He was surrounded by shady characters, masseurs and soccer players, trainers and "promoters" who put him up to all kinds of "deals" such as tampering with hockey and soccer teams and having swimming pools and palaces of culture and sport put up at public expense.

He lived in a big government dacha. It had an enormous staff, a stable and kennels, all, of course, at government expense.

Vassily stopped at nothing. He exploited his proximity to my father. Anybody who'd fallen out of favour with him was kicked out of his path and some even went to jail. He was championed by bigger fry, by Beria, Abakumov and Bulganin. They twisted him around their little fingers. They gave him medals, higher and higher rank...

... of using the wrong treatment on my father and failing to give him a proper funeral. He ranted and raved like the crown prince who'd just inherited the throne. If anybody had megalomania, it was he.

He was summoned to the Ministry of Defence and it was suggested that he quiet down. They offered him command of one of the military districts. He refused. He would take nothing but Moscow and the aviation command of the Moscow Military District. They ordered him to a post away from Moscow. He refused. What, they asked, you refuse to accept an order from the Minister of Defence? You don't consider yourself an army officer any more? No, I do not, was his reply. Take off your stars then, the Minister, Bulganin, concluded in anger.

Retired general

And so he left the army, —a retired general with nothing to do but sit at home and drink. He'd thrown his third wife out and persuaded his second wife to come back. He was so impossible that even she left. He was arrested on April 28,

the
poli
the
any dict
emergency
rdination
s fs y
ss Steel
the fam
OK
LES
STAINLESS

हिन्दी-उपन्यास : सिद्धान्त और विवेचन

(साहित्य-सन्देश में प्रकाशित कतिपय लेखों का संग्रह)

सम्पादक

महेन्द्र

मक्खनलाल शर्मा



साहित्य रत्न भंडार
आगरा

मूल्य	*	४.५०
पुस्तक का नाम	*	हिन्दी-उपन्यास : सिद्धान्त और विवेचन
सम्पादक	*	महेन्द्र, मक्खनलाल शर्मा
प्रथम संस्करण	*	जनवरी १९६३
मुद्रक	*	साहित्य-प्रेस, साहित्य-कुञ्ज, आगरा
प्रकाशक	*	साहित्य-रत्न-भण्डार, साहित्य-कुञ्ज, आगरा

दो शब्द

हिन्दी-साहित्य में आज उपन्यास ही सर्वाधिक संख्या में लिखे और पढ़े जाते हैं। हिन्दी-उपन्यास की परम्परा यों तो दश-कुमारचरित और कादम्बरी से जुड़ी हुई है, किन्तु उसका वर्तमान रूप पाश्चात्य उपन्यास-कला से ही अधिक प्रभावित है, अतः इस पुस्तक में विवेचन का आधार सभी विद्वानों ने पाश्चात्य उपन्यास-कला को ही स्वीकार किया है। हिन्दी-उपन्यास पर यथेष्ट लिखा गया है, किन्तु इस वैविध्यपूर्ण क्षेत्र में आज भी ऐसे अनेक उलझे प्रश्न हैं जिन पर विवेचन की अपेक्षा है। इस पुस्तक में ऐसे ही कुछ लेखों को संगृहीत किया गया है जो उपन्यास-क्षेत्र के विद्यार्थी को आलोक की दिशा में ले जायेंगे। इसके अधिकांश लेख 'साहित्य-सन्देश' में छप चुके हैं किन्तु इनका स्थायी महत्त्व है—अतः अब इन्हें पुस्तक का रूप दिया गया है। आशा है इससे हिन्दी-उपन्यास अध्येता को नवीन समस्याओं को उनके सही परिप्रेक्ष्य में समझने और उनका निराकरण खोजने में सहायता मिलेगी।

—सम्पादक

विषय-सूची

———

उपन्यास

[श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी]

नये यंत्र-युग ने जिन गुण-दोषों को उत्पन्न किया है उन सब को साथ लेकर उपन्यास और कहानियाँ अवतीर्ण हुई हैं। छापे की कला ने ही इनकी माँग बढ़ाई है और छापे की कल ने ही उनको पूर्ति का साधन बताया है। बहुत से लोगों की धारणा है कि संस्कृति की आख्यायिकाएँ और कथाएँ इन उपन्यासों की पूर्वजा हैं। इसमें सन्देह नहीं पर ये चीजें उनकी सन्तान नहीं हैं। एक युग था, जब 'कादम्बरी' की रीति पर सभी प्रान्तीय भाषाओं में उपन्यास लिखे गये थे। महाराष्ट्र में तो उपन्यास का पर्याय कादम्बरी ही है। हिन्दी में व्रजनन्दनसहाय के उपन्यास और श्री हृदयेश की कहानियाँ उसी रीति पर अर्थात् शब्दों में झंकार देकर गद्य-काव्य बनाने का उद्देश्य लेकर लिखी गयी थीं। पर शीघ्र ही सर्वत्र यह भ्रम टूट गया। झंकार कविता का प्राण हो सकता है, पर वह उपन्यास का प्राण नहीं हो सकता। वह शुद्ध गद्य-युग की उपज है और उसकी प्रकृति में गद्य का सहज स्वाभाविक प्रभाव है। मौलिक अन्तर जो कथा-आख्यायिका जातीय साहित्य से इस नवीन साहित्यांग का है वह है आदर्शगत। यंत्र-युग की विशेष देन वैयक्तिक स्वाधीनता उपन्यास का आदर्श है। और काव्य-काल का पूर्व निर्धारित और परम्परा समर्थित सदाचार कथा-आख्यायिका का आदर्श है। उपन्यास में दुनिया जैसी है वैसी चित्रित करने का प्रयास रहता है। कुछ थोड़े से ऐतिहासिक और जासूस आदि श्रेणी के उपन्यास समाज की वर्तमान अवस्था से दूर हट सकते हैं; परन्तु वे भी इतिहास और जासूसी की वर्तमान पहुँच की सहायता पर से ही कल्पना को दौड़ाते हैं। कथा और आख्यायिका में कवि कल्पना के बल पर अपनी वास्तविक दुनिया से भिन्न एकदम नयी दुनिया बना सकता है। उपन्यास और काव्य में यह मौलिक अन्तर है कि उपन्यास मौजूदा हालत को भुला कर भविष्य की कल्पना नहीं कर सकता पर काव्य वर्तमान परिस्थिति की सम्पूर्ण उपेक्षा कर के अपने आदर्श गढ़ सकता है। यही कारण है कि उपन्यासकार का सबसे बड़ा कार्य माना जाता है कि वह समाज की स्थिति और गति को ठीक-ठीक चित्रित करता है। प्रेमचन्द को पढ़ने का अर्थ है, भारतवर्ष के गाँवों को ठीक-ठीक देख सकना।

मगर उपन्यास एक स्थायी साहित्य है। यंत्र-युग की प्रधान साहित्यिक देन समाचार पत्रों की तरह घण्टे भर में बासी होने वाला साहित्य नहीं। फिर भी इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अधिकांश छपे हुए उपन्यासों का मूल्य किसी बाहरी दैनिक पत्र से किसी प्रकार कम नहीं ! यह विचित्र बात है कि उपन्यासों का वह गुण जो उनके प्रसङ्ग में बार-बार दुहराया जाता है—अर्थात् समाज को ठीक-ठीक उपस्थापित करना—बड़ी आसानी से दैनिक पत्रों में भी सिद्ध किया जा सकता है। एक अमेरिकन लेखक ने लिखा है कि अमेरिका को ठीक-ठीक समझना चाहते हो तो वहाँ के किसी लोकप्रिय दैनिक के किसी एक अङ्क को देख लो। अमेरिका अपने सब गुण-दोषों के साथ सामने खड़ा हो जायगा। उसके स्त्री-पुरुष क्या पहनते हैं, क्या खाते हैं, कैसी बातों में रुचि रखते हैं, किन रोगों के शिकार हैं आदि कोई भी बात अप्रकट नहीं रह जायगी। यह ठीक है। हिन्दी पत्रों में जो विज्ञापन छपा करते हैं वे उनमें छपी हुई काम-काज की बातों से अधिक सही होते हैं। क्योंकि लेखक और संपादक लोग जो काम-काज की बातें छापते हैं उनमें कुछ खर्च नहीं होता, पर विज्ञापन दाता जो बात छपाते हैं उसके लिए उन्हें पूरा पैसा देना पड़ता है। इसीलिए उनके अध्ययन से समाज को बड़ी आसानी से समझा जा सकता है। अच्छी साहित्यिक-पुस्तकों के विज्ञापनों की अपेक्षा शास्त्र-विशेष की पुस्तकों का विज्ञापन कहीं अधिक होता है। तो फिर स्वाभावतः ही प्रश्न होता है कि उपन्यास का कार्य यदि समाज को सही ढङ्ग से पाठक के सामने उपस्थित ही करना है तो दैनिक पत्र क्या बुरे हैं ? प्रश्न ठीक है पर उत्तर भी बहुत कठिन नहीं है।

उपन्यास इसलिए स्थायी साहित्य नहीं है कि वह उपन्यास है, बल्कि इसलिए कि उसके लेखक का एक जबर्दस्त मत जिसकी सचाई के विषय में उसे पूरा विश्वास है। यह मत उसका अपना है। वैयक्तिक स्वाधीनता का यह सर्वोत्तम रूप है। घासलेटी उपन्यास लेखक का कोई अपना ऐसा मत, नहीं होता जो एक ही साथ उसका अपना भी हो और उस पर उसका अखण्ड विश्वास भी हो। वह भीड़ के आदमियों की रुचि को नजर के सामने रख कर लिखता है। वह उप मत पर विश्वास नहीं करता। प्रेमचन्द का अपना मत है और उस मत पर वे पहाड़ के समान अटल हैं। जैनेन्द्र हिन्दी में केवल इसी एक महान् गुण के कारण निरन्तर विरोध के होते हुए भी अपना स्थान बनाते जा रहे हैं। जैसा कि शुरू में ही कहा गया है। उपन्यास यंत्र-युग के समस्त गुण-दोषों को साथ लेकर उत्पन्न हुआ है। वैयक्तिक स्वाधीनता की जैसी अधोगति इस क्षेत्र में हुई वैसी और कहीं भी नहीं हुई। उसी प्रकार

वैयक्तिक स्वाधीनता की जैसी सुन्दर परिणति इस क्षेत्र में हुई वैसी और कहीं भी नहीं। उपन्यासकार, उपन्यासकार है ही नहीं, यदि उसमें उपर्युक्त दृष्टिकोण न हो और अपनी विचार बुद्धि का विश्वास न हो और सभी चीजें उसके लिए गौण हैं।

उपन्यास ने मनोरंजन के लिए लिखी जाने वाली कविताओं की ही नहीं नाटकों की भी कमर तोड़दी है। क्योंकि ५ मील दौड़ कर रंगशाला में जाने की अपेक्षा ५ सौ मील से किताब मँगा लेना आज के जमाने में सहल है। साथ ही उपन्यास ने उन सब टंटों को हटा दिया है जो नाटक के लिए रंगमंच सजाने में होते हैं! किसी लेखक ने ठीक ही कहा है कि इस युग में उपन्यास शिष्टाचार का संप्रदाय, वहस का विषय, इतिहास का चित्र और पाकेट का थियेटर हो गया है। इसने कल्पना-प्रसूत साहित्य को अन्य किसी भी साहित्यांग की अपेक्षा अधिक नजदीक ला दिया है। यह साहित्य में मशीन की विजय-ध्वजा है।

नाटक निश्चय ही उपन्यास से प्राचीन वस्तु है। बहुत प्राचीन युग में शायद यह अभिनय प्रधान था। पर साहित्य में घुसते ही यह साहित्य का एक निश्चित अंग हो गया। ऐसे बहुतेरे नाटक संस्कृत में लिखे गए जो कभी खेले नहीं गये। हिन्दी-साहित्य के आधुनिक अभ्युत्थान का आरम्भ नाटकों से होता है। ये नाटक अधिकतर संस्कृत से अनुवादित थे। प्रधान मार्गदर्शक बाबू हरिश्चन्द्र ही थे। ये आधुनिकता से परिचित थे; पर नख से शिख तक हिन्तुस्तानी थे। भारतेन्दु ने उपन्यास लिखने का प्रयत्न नहीं के बराबर किया। शायद वे इस अंग की गैर भारतीय प्रकृति को पहचान गये थे। जो हो भारतेन्दु ने नाटकों से हिन्दी-साहित्य का आरम्भ किया पर विडंवना यह है कि हिन्दी भाषा अन्यान्य गिनी जाने योग्य भारतीय भाषाओं की तुलना में नाटकीय साहित्य में अब भी पिछड़ी हुई है। इसका कारण क्या है? आये दिन उन पर बहुत विचार किये जाते हैं परन्तु फल कुछ नहीं होता।

असल में जिन दिनों हिन्दी में नाटक साहित्य उत्पन्न करने की प्रेरणा आने लगी थी, उन दिनों मशीन ने नाटक के विभाग पर अपना पूरा कब्जा जमा लिया था। बिजली की बत्ती के आविष्कार ने नाटक के सब टेकनीक बदल डाले। पात्रों के प्रवेश और प्रस्थान की विधि में बहुत परिवर्तन हुआ। पर यह सब हो ही रहा था कि कैमेरा का आविष्कार हुआ। किताबों के लिए जो काम छापे की मशीन ने किया नाटकों के लिए वही काम कैमेरा ने किया। इसने नाटकों का प्रचार ही नहीं किया उसकी माँग भी बढ़ाई। आकाश, पाताल, समुद्र, जङ्गल कोई ऐसी जगह नहीं बच रही जहाँ से कैमेरा दृश्य लाकर न दे

सके । नतीजा यह हुआ कि नाटकों की पुरानी रूढ़ियाँ तड़ातड़ टूट गयीं । अमुक दृश्य रंगमंच पर दिखाया जाय और अमुक न दिखाया जाय इस प्रकार की सभी रूढ़ियाँ जाती रहीं । सूत्रधार और नटी के संवाद विष्कम्भक और प्रवेशकों की कल्पना सभी व्यर्थ सिद्ध हुई । चलती हुई तस्वीरें सब कुछ करने में समर्थ हो गयीं । पर अभी तक भी भाषागत् माधुर्य उसमें नहीं दिया जा सका था । ऐसी हालत में अगर अपने साहित्य में रंगशाला की प्रतिष्ठा का उद्योग होता और मशीन के साथ सुलह कर ली गयी होती तो कुछ आशा थी पर हम तब भी सोते रहे । अचानक विज्ञान ने एक और अध्याय जोड़ कर नाटक को विशुद्ध साहित्य की गोद से एक दम छीन लिया, चलती हुई तसवीरें बोलने लगीं । जहाँ एक तरफ इसने मशीन को प्राधान्य दे दिया वहाँ सुष्ठभाषी मनुष्य की सहायता भी उसके लिए आवश्यक हो गयी । अब निश्चित है कि हिन्दी नाटकों की प्राण-प्रतिष्ठा का एक-मात्र मार्ग है बड़ी पूँजी लगाकर मशीन को अपने वश में करना उपन्यासों की भाँति सवाक् चित्र पटों ने भी भीड़ की रुचि को सामने रखा पर साहित्यिक सहायता की उसे जरूरत थी । ऐसा नहीं होने से प्रचार नहीं हो पाता । इस तरह यद्यपि नाटक मशीन के घर चला गया है, पर समालोचना नामक साहित्यांग ने उसकी नकेल एकदम छोड़ नहीं दी है ।

[साहित्य-सन्देश, मार्च १९४० ।

———

'नया उपन्यास'---नया शिल्प

[श्री विनयमोहन शर्मा]

कथा कहना और कथा सुनना (और अब पढ़ना भी) मानव मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। कथा आपबीती हो सकती है, परबीती हो सकती है और ऐसे भी हो सकती है जो वस्तुतः न आपबीती होती है और न परबीती पर आपको परबीती जैसी भासती है। यही भासना ही कथा का सत्य है, जो वास्तविकता के रूप को कल्पना के अरूप से सज्जित कर रंजक बना देता है। कथा में रंजन-गुण की अनिवार्यता असंदिग्ध है। कथा यदि आदि से अन्त तक हमें उलझाए रख सकती है—हमें अपने में खींचे रख सकती है तो वह सचमुच 'कथा' है।

कथा को हम उसके कहने के ढङ्ग से पृथक नहीं करना चाहते। हम कथा के कथन प्रकार (शिल्प) को भी कथा का अंग मानते हैं। शिल्प का वैचित्र्य भी उसमें रोचकता भरता है। वस्तु और रूप की सभ्यता ही हमारे मन में उस भाव की सृष्टि करती है जिसे 'आनन्द' की संज्ञा दी जा सकती है। 'कथा' जब जीवन के एक अंग तक सीमित रहती है तब वह कहानी और जब उसके व्यापक भाग को घेर लेती है तब 'उपन्यास' कहलाती है।

कहानी और उपन्यास के उपदानों में कोई अन्तर नहीं है—दोनों में कथा होती है, पात्र होते हैं, देश-काल की सीमा होती है और दोनों ही उद्देश्य की ओर अभिमुख रहते हैं। अन्तर इतना ही है कि एक (कहानी) में संक्षिप्तता रहती है—और दूसरे (उपन्यास) में विस्तृति। पर कुछ उपन्यास ऐसे भी होते हैं जो जीवन की व्यापकता का बन्धन भी स्वीकार नहीं करते, वे जीवन के एक अंग का ही तनिक विस्तार पाकर उपन्यास बन जाते हैं। इन्हें अंग्रेजी में 'नॉवलेट' और हिन्दी में 'लघु उपन्यास' कहते हैं। इनमें पात्रों की संख्या बहुत कम होती है, उनका संकेतात्मक चरित्रांकन होता है। वातावरण के घटाटोप से कथा बोझिल नहीं हो पाती। उसकी घटना बहुत छोटी और बहुत मामूली भी हो सकती है।

"उपन्यासों ने हजारों मनुष्यों की सामान्य भावनाओं को उद्वेलित किया है। अतएव उसे 'कला' की संज्ञा नहीं दी जानी चाहिए" यह मत श्रीमती वर्जीनिया वुल्फ ने व्यक्त किया है जिसका श्री स्कॉट जेम्स ने उचित ही प्रतिवाद किया है। साहित्य की सभी विधाएँ जिनसे कि मनुष्य प्रभावित होता है और क्षणभर उत्फुल्ल हो उठता है, 'कला' के ही अन्तर्गत आती हैं। उपन्यास जीवन-चरित्र नहीं होता पर हमारे वातावरण का उच्छ्वास अवश्य होता है। उसमें जीवन प्रतिस्पन्दित होता है। उत्कृष्ट उपन्यास में हमें उपन्यासकार की प्रतिभा, अनुभव, भाषा-अधिकार और संवेदनशीलता के दर्शन होते हैं। कई बार ऐसा लगता है कि उपन्यासकार अपने पात्रों के साथ इतना तन्मय हो गया है कि वह उनके साथ हँसा है, विह्वल हुआ है, उच्छ्वसित हुआ है, रोया है हिचकी भर-भर कर। और इसका प्रमाण इससे मिला है कि हम भी उसके पात्रों के साथ कभी हर्ष-विभोर हुए हैं और कभी अश्रु-सिक्त। यदि कला अपने भावों की प्रतिच्छाया पाठक या दर्शक के मन पर नहीं डालती तो उसे 'कला' की संज्ञा कैसे दी जा सकती है ?

इधर कथा-क्षेत्र में नूतन लहर उठ रही है। आज 'नई कहानी' और 'नया उपन्यास' एक नए तंत्र में ढलने लगे हैं। उनके लिए गठित या शिथिल कथानक की आवश्यकता नहीं रही। पाठक शब्दों के अर्थ से कथा का सूत्र ग्रहण करना चाहे तो कर सकता है। जब कला का कोई सूत्र ही कथाकार पाठक को नहीं देना चाहता तो उसके अन्त की उसे क्यों चिन्ता होने लगी ? उसका अन्त प्रश्नवाचक या आश्चर्यवाचक चिन्ह से होना आवश्यक नहीं है। पात्रों के संभाषण से आप उनके चरित्र का अनुमान लगा सकते हैं जो उचित हो सकता है और अनुचित भी। उनका अमुक रेखा में विकास ऐसा होना चाहिए, जो स्वाभाविक हो, इस शर्त को आज का उपन्यासकार मानने को तत्पर नहीं है। वह आपको ऐसी परिस्थिति में भी नहीं डालना चाहता कि आपकी भावुकता जाग उठे। वह कल्पना का रंगीन इन्द्रधनुष भी नहीं चित्रित करना चाहता। वह तो अपने पास-पड़ौस की आँखों देखी कानों सुनी घटना को केवल कह देना चाहता है। वह भी इस ढङ्ग से कि आप ग्रहण कर पायें या न कर पायें।

फ्रेंच औपन्यासिक मार्क सपोरेता का एक नया उपन्यास "कम्पोजिशन न० १" है। उसकी नवीनता का प्रारम्भ होता है—उपके पृष्ठों के बिखरे रूप से; वे ग्रथित नहीं हैं। प्रत्येक पृष्ठ तार के पते के समान है। दूसरी नवीनता यह है कि पत्तों में पृष्ठ संख्या नहीं है। प्रत्येक पृष्ठ (पत्ता) एक ही ओर मुद्रित

है। आप किसी भी एक पत्ते को उठा लीजिए। पढ़िए, समझिए। दूसरे किसी पते को उठा लीजिए, पढ़िए, समझिए। इसी प्रकार सभी पत्तों को उठाइए पढ़िए। कभी प्रमुख पात्र अपनी बीती कहता जान पड़ता है, कभी उपन्यासकार अपने से बातें (स्वगत) करता समझ पड़ता है। उपन्यासकार ने सारे पत्तों (पृष्ठों) को सुव्यवस्थित बनाने का भार पाठक पर छोड़ दिया है। वह उससे कोई विचार या भाव ग्रहण करे या छोड़े यह उसकी इच्छा पर है। भाव-बोध कराना उपन्यासकार का 'कर्म' नहीं है।

कथा-साहित्य का यह नया शिल्प फ्रांस की देन है। फ्रांस जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नूतनता की सृष्टि करने के लिए प्रख्यात है। वहीं से साहित्य-कला के रोमांचवाद, अस्तित्ववाद, प्रकृतवाद, अतिवास्तववाद (सुपररियलिज्म), प्रयोगवाद आदि प्रवाहित हुए और यूरोप अमेरिका की साहित्य भूमि पर क्षण भर अभिनय कर विलीन हो गए। अब नई कथा या 'नया उपन्यास' का झोंका भी पेरिस की अलस रात की खुमारी लेकर साहित्य-जगत् में झूमने लगा है। हिन्दी के साहित्यकार जो फैशन के रूप में नूतनता को ग्रहण करने में अभ्यस्त हैं, इसी फरांसीसी प्रवाह से नई कहानी को सज्जित कर रहे हैं और ऐसा घोषित कर रहे हैं मानो वे किसी मौलिक शिल्प को जन्म दे रहे हैं। ऐसी रचनाओं के सम्बन्ध में प्रसिद्ध उपन्यासकार श्री यशपाल के शब्द मननीय हैं—"इनमें कोई घटना क्रम, पात्रों का चरित्र और व्यवहार की परिणति नहीं मिलती। केवल लेखक के भाव के जूस की बूँदें ही चिपचिपाती जान पड़ती हैं।"

ऐसे कलाकार कह सकते हैं कि जब हमारा जीवन ही बिखरा हुआ सा असम्बद्ध सा हो गया है तो हमारी कथा में व्यवस्था कैसे आ सकती है? पर क्या साहित्य को जीवन की फोटोग्राफी बनाना अभीष्ट होगा? 'कला' तो अनुकृति को सजाती-सँवारती है। यही उसका जीवन है जो उसे युग-युग तक स्पनदनशील बनाए रखता है। हम नए उपन्यास के नए शिल्प का स्वागत तभी कर सकते हैं जब वह पत्तों का खेल ही न रह कर जीवन की आत्मा का उद्घाटन भी बने— वह बाजार का ऐसा खोटा सिक्का न बने जो अपनी बाहिरी चमक-दमक से खरे सिक्के का चलन ही रोक दे।

हिन्दी-उपन्यास

[डा० नगेन्द्र]

कुछ दिन से हिन्दी-उपन्यास पर एक लेख लिखने का बोझ मन पर था—शराफ़त का तकाज़ा और रिमाइण्डर का भय। कल रात को उसी की रूपरेखा बना रहा था। कभी प्रवृत्तियों के आधार पर वर्गीकरण की बात सोचता—कभी समस्याओं और अभी टेकनिक के आधार पर। रूपरेखा कुछ बनती भी थी परन्तु परसों शाम ही को सुना हुआ जैनेन्द्रजी का यह वाक्य कि—"तुम लोग यानी पेशेवर आलोचक (और उनका यह विशेषण मुझ जैसे साधारण लोगों को ही नहीं—आचार्य शुक्ल, डॉक्टर ब्रैडले आदि-आदि आलोचकों को भी आलिंगन पाश में बाँधने के लिए अपनी विशाल बाहें फैलाये हुए था) लेखक की आत्मा को पहचानने का प्रयत्न नहीं करते—उस पर अपना ही मत थोपते रहते हो।" गूँज उठता था। अन्त में मेरे मन में एक बात आई—क्यों न मूलग्राही प्रश्नावली बना उपन्यासकारों से मिलकर अपने-अपने उपन्यास-साहित्य के विषय में उन सभी के दृष्टिकोण जानलूँ और फिर उन्हें ही मनोविश्लेषण के आधार पर संश्लिष्ट कर एक मौलिक लेख तैयार करलूँ? यह विचार कुछ और आगे बढ़ता परन्तु एक समस्या आकर खड़ी हो गई—वह यह कि जल्दी यह सब कैसे हो सकता है, और फिर हिन्दी के सभी प्रतिनिधि उपन्याकारों से मिलने के लिए इस लोक की ही नहीं परलोक की भी यात्रा करनी पड़ेगी। लेख की मौलिकता—उसके द्वारा हिन्दी आलोचना में एक नई दिशा प्रशस्त करने का लोभ, अथवा और कुछ भी, कम से कम इस दूसरे उपाय का प्रयोग करने के लिए मुझे राज़ी न कर सका। आखिर मानसिक श्रम से थककर मैं सो गया।

रात को देखा कि एक वृहत् साहित्यिक समारोह लगा हुआ है। साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन तो है नहीं क्योंकि उसमें इस प्रकार के नगण्य विषयों के विवेचन का लोगों को कम ही अवसर मिलता है। इसी के अन्तर्गत उपन्यास अङ्ग को लेकर विशिष्ट गोष्ठी का आयोजन हुआ है, जिसमें हिन्दी के लगभग सभी उपन्यासकार उपस्थित हैं। पहले उपन्यास के स्वरूप और कर्तव्य-कर्म को लेकर चर्चा चली। कर्तव्य-कर्म के विषय में यहाँ तक तो सभी सहमत हो गये कि जो साहित्य का कर्तव्य-कर्म है वही उपन्यास का भी, अर्थात् जीवन

की व्याख्या करना। पहले श्रीयुत देवकीनन्दन खत्री का इस विषय में मतभेद था, परन्तु जब व्याख्या के साथ आनन्दमयी विशेषण भी जोड़ दिया गया तो वे भी सहमत हो गये। स्वरूप पर काफी विवाद चला—अन्त में मेरी ही जैसी उम्र के एक महाशय ने प्रस्ताव किया, "इस प्रकार तो समय भी काफी नष्ट होगा, और कुछ सिद्धि भी नहीं होगी। हिन्दी के सभी प्रतिनिधि उपन्यासकार उपस्थित हैं। अच्छा हो यदि वे एक-एक कर बहुत ही संक्षेप में उपन्यास के स्वरूप और अपने उपन्यास-साहित्य के विषय में अपना-अपना दृष्टिकोण प्रकट करते चलें। उपन्यास के स्वरूप और हिन्दी के उपन्यास के विवेचन का इससे सुन्दर ढङ्ग और क्या हो सकता है?" प्रस्ताव काफी सुलझा हुआ था—फलतः सभी ने मुक्तकण्ठ से स्वीकार कर लिया। विवेचन में एकता और एकाग्रता बनाये रखने के विचार से उन्हीं सज्जन ने एक प्रश्नावली भी पेश कर दी, जिसके आधार पर उपन्यासकारों से बोलने की प्रार्थना की जाय। उसमें केवल तीन प्रश्न थे :—

(१) आपके मत में उपन्यास का वास्तविक स्वरूप क्या है?

(२) आपने उपन्यास क्यों लिखे हैं?

(३) अपने उद्देश्य में आपको कहाँ तक सिद्धि मिली है?

प्रश्नावली भी सुलझी हुई थी, फौरन स्वीकृत हो गयी, पर प्रस्ताव कराते ही कह दिया गया कि आप ही कृपाकर इस कार्यवाही को गति दे दीजिये। अस्तु!

सबसे पहले उपन्यास-सम्राट् प्रेमचन्दजी से आरम्भ किया जाय। लेकिन प्रेमचन्दजी ने सविनय एक ओर इशारा करते हुए कहा—"नहीं, मुझसे पूर्ववर्ती बाबू देवकीनन्दन खत्री से प्रार्थना करनी चाहिए। देवकीनन्दनजी हिन्दी के प्रथम मौलिक उपन्यासकार हैं।" प्रेमचन्दजी के आग्रह पर एक सामान्य-सा व्यक्ति, जिसकी आकृति मुझे स्पष्टतः याद नहीं है, धीरे से खड़ा हुआ और कहने लगा—"भाई! आज तुम्हारी दुनियाँ दूसरी है—तुम्हारे विचारों में दार्शनिकता और नवीनता की छाप है। हमतो उपन्यास को कल्पित कथा समझते थे—इसके अतिरिक्त उसका और कोई स्वरूप हो सकता है, यह तो हमारे ध्यान में भी नहीं आता था। मैंने देश-विदेश की विभिन्न कथायें बड़े मनोयोग से पढ़ी थीं—और उनको पढ़कर मुझे यह प्रेरणा हुई थी कि मैं भी इसी प्रकार के अद्भुत कथानकों की सृष्टि से जनता का मनोरंजन कर, यश लाभ करूँ। इसीलिए मैंने 'चन्द्रकान्ता सन्तति' लिख डाली। अद्भुत के प्रति निर्बाध आकर्षण होने के कारण मेरी कल्पना उत्तेजित होकर उस चित्र-लोक

की सृष्टि कर सकी। आखिर लोगों के पास इतना अवकाश था और जीवन की गति इतनी मन्द थी कि उन्हें कुछ चाहिए था, जो उसमें उत्तेजना भर सके। निदान वे साहित्य से उत्तेजना की माँग करते थे। इसके अतिरिक्त मनुष्य यह तो सदा अनुभव करता है कि यह जीवन और जगत अनन्त रहस्यों का भण्डार है। परन्तु साधारणतः कल्पना की आँखें खुली न होने के कारण वह उनको देख नहीं पाता। उसका कौतूहल जैसे इस तिलस्म के दरवाजे से टकराकर लौट आता है और उसे यह आकांक्षा रहती है कि ऐसा कुछ हो जो इस जादूघर को खोल सके। मेरे उपन्यास मनुष्य की ये दोनों माँग पूरी करते हैं, उसके मन्द जीवन में उत्तेजना पैदा करते हैं और उसकी कौतूहल-वृत्ति को तृप्त करते हैं। इसलिए वे इतने लोकप्रिय रहे हैं। असंख्य पाठकों को उनके द्वारा अपना अभीष्ट मिलता है, इससे बढ़कर मेरी या उनकी सिद्धि और क्या हो सकती है? वे जीवन की व्याख्या करते हैं या नहीं यह तो मैं नहीं जानता। मैंने कभी इसकी चिन्ता भी नहीं की परन्तु मनोरंजन अवश्य करते हैं—मन की एक भूख का भोजन देते हैं, बस।"

उसके उपरान्त मुन्शी प्रेमचन्द बिना किसी तकल्लुफ के आप ही आप खड़े हो गये और निहायत ही सादगी और सचाई से कहने लगे—"भाई! सवाल तुम्हारे कुछ मुश्किल हैं, उपन्यास के स्वरूप या अपने उपन्यास-साहित्य का तात्विक विवेचन तो मैं आपके सामने शायद नहीं कर पाऊँगा। पर मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र ही समझता हूँ - मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है। मानव-चरित्र कोई स्वतः सम्पूर्ण तथ्य नहीं है, वह वातावरण-सापेक्ष्य है, इसलिए उस पर वातावरण की सापेक्षता में ही प्रकाश डाला जा सकता है। आज का उपन्यासकार आज के वातावरण अर्थात् आज की राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं की व्याख्या करता हुआ ही मानव-चरित्र की व्याख्या कर सकता है। लेकिन व्याख्या शब्द को और साफ करना होगा। व्याख्या से मेरा मतलब सिर्फ स्वरूप,—कार्य-कारण वगैरह का विश्लेषण कर उसके भिन्न-भिन्न तत्वों को अलग-अलग सामने रख देना नहीं है, वह तो वैज्ञानिक का ही काम है और दरअसल सच्चे वैज्ञानिक का भी नहीं, क्योंकि वह भी उस विश्लेषण में से कोई जीवनोपयोगी तथ्य निकालकर ही सन्तुष्ट होता है। उपन्यासकार की व्याख्या तो इससे बहुत कुछ अधिक है—वह तो निर्माण की अनुवर्त्तिका है। मेरा जीवन-दर्शन वैज्ञानिक नहीं है—शुद्ध उपयोगितावादी है, यानी मैं मानता हूँ कि उपन्यासकार का कर्त्तव्य है कि वह परिस्थितियों को बीच में रखकर मानव-चरित्र का विश्लेषण कर यह समझ ले कि कहाँ क्या गड़बड़ है। और फिर क्रमशः उस अवस्था तक ले जाए जहाँ

वह गड़बड़, वह सारी असंगति मिट जाए—जो मानव आदर्श का चरित्र रूप हो। यहाँ मैं स्वप्नलोक या स्वर्गलोक की सृष्टि की बात नहीं करता, वहाँ तो वास्तव का आँचल ही आपके हाथ से छूट जाता है। आज की भौतिक वास्तविकताओं में घिरे हुए मानव-चरित्र का निर्माण इस प्रकार न होगा। परिस्थिति के अनुकूल उसका एक ही मार्ग है। वह है आज के यथार्थ में ही आदर्श के तत्वों को ढूँढ़कर उसका निर्माण किया जाए। मैं इसी भावना से प्रेरित होकर उपन्यास लिखता हूँ। मेरे उपन्यास कहाँ तक आज के मानव को आत्म-परिष्कार के प्रति—यानी परिस्थितियों के प्रकाश में अपनी खामियों को समझकर उनको दूर करने के लिए जागरूक कर सकते है, यह मैं नहीं जानता। पर मेरी सिद्धि इसके अनुपात से ही माननी चाहिये। मेरा उद्देश्य केवल मनोरंजन करना नहीं है—वह तो भाटों, मदारियों, विदूषकों और मसखरों का..........!" (बाबू देवकीनन्दन खत्री की ओर देखकर एकदम शर्म से लाल होकर, फिर ठहाका मारकर हँसते हुए) आशा है आप मेरा मतलब गलत नहीं समझ रहे हैं।

प्रेमचन्दजी के बाद कौशिकजी खड़े हुए। मुझे अच्छी तरह याद नहीं, उन्होंने क्या कहा पर शायद उन्होंने प्रेमचन्दजी की बात को ही दुहराया।

अब प्रसादजी से प्रार्थना की गई। पहले तो वे राजी नहीं हुए, परन्तु जब लोगों ने विशेष अनुरोध किया, तो वे अत्यन्त शान्त-संयत मुद्रा से खड़े हुए और कहने लगे—"हिन्दी के आलोचकों ने मेरी कविता और नाटक को रोमान्टिक आदर्शवाद की कक्षा में रक्खा है, और उपन्यासों को यथार्थ की। मैं नहीं कह सकता कि मूलतः मेरे साहित्य के बीच कोई ऐसी विभाजक रेखा खींची जा सकती है। फिर भी यह सत्य है कि मुझे कविता और नाटक की अपेक्षा उपन्यास में यथार्थ को आँकना सरल प्रतीत होता है। कारण केवल यही है कि वह अपेक्षाकृत सीधा माध्यम है। आज धार्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक विषमताओं के कारण जीवन में जो गहरी गुत्थियाँ पड़ गई हैं, उनसे मैं निरपेक्ष होकर पलायन नहीं कर सकता—(आह, यदि यह सम्भव होता!) परन्तु प्रेमचन्दजी की तरह सामूहिक बहिर्मुखी प्रयत्नों में मुझे उनका समाधान सरलता से नहीं मिलता। जिन संस्थाओं पर समाज बालक की तरह आश्रय के लिए झुकता है, वे अन्दर से कितनी कच्ची और घुनी हुई हैं! प्रवृत्ति के एक धक्के को भी सम्हालने का उनमें बल है? मुझे विश्वास ही नहीं हो सकता कि संस्थाओं का यह नया व्यसन जीवन का किसी प्रकार भी गतिरोध कर सकेगा। ऐसा क्या है जिसके नाम पर प्रवृत्ति को झुठलाया जाए और प्रवृत्ति भी क्या सत्य है? यही आज के जीवन का दर्शन है और मैं इसको पूरी चेतना के साथ

अनुभव कर रहा हूँ। यह आपको मेरे सम्पूर्ण साहित्य में मिलेगा—उपन्यास में प्रतीकों के अधिक परिचय होने के कारण यह शायद अधिक मुखरित हो गया है। बस और मत पूछो।"

इसके बाद बाबू वृन्दावनलाल वर्मा के नाम से एक सज्जन उठ खड़े हुए और बोले—"भाई! उपन्यास को मैं उपन्यास ही समझता हूँ और बुन्देलखण्ड के ये ही नदिया-नाले, झीलें और पर्वत-वेष्ठित शस्य-श्यामल खेत मेरी प्रेरणा के प्रधान कारण हैं। इसलिए मुझको हिस्टोरिकल रोमान्स (Historical Romance) पसन्द है। अन्य कारण जानकर क्या करियेगा? इसी रोमाण्टिक वातावरण में मैं बाल्यकाल से ही अपनी आँखों से चारों ओर एक वीर जाति के जीवन का खण्डहर देखता और अपने कानों से उसकी विस्मय गाथाओं को सुनता आया था, अतएव स्वभाव से ही मैं आपसे आप कल्पना के द्वारा उन दोनों को जोड़ने लगा। वे कहानियाँ इन खण्डहरों में जीवन का स्पन्दन भरने लगीं और ये खण्डहर उन कहानियों में जीवन की वास्तविकता में उपन्यास लिखने लगा। मेरे उपन्यास यदि उस गौरव-इतिहास को आपके मन में जगा पाते हैं, तो वे सफल ही हैं।"

जिस समय ये लोग भाषण दे रहे थे, एक हृष्ट-पुष्ट आदमी, जिसके लम्बे-लम्बे बाल, अधनंगा शरीर, एक अजीब फक्कड़पन का परिचय दे रहा था, बीच-बीच में काफी चुनौती भरे स्वर में फिकरे कसकर लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर रहा था। पूछने पर मालूम हुआ कि आप हिन्दी के निर्द्वन्द्व कलाकार उग्रजी हैं। वृन्दावनलाल वर्माजी का भाषण समाप्त होने पर लोग उनसे कहने ही वाले थे, परन्तु वे आप स्वयं ही उठ खड़े हुए और बोले ये लोग तो सभी मुर्दा हो गये हैं। जिसमें जोश ही नहीं रहा वह क्या उपन्यास लिखेगा—और जोश, सुधार, आत्म-परिष्कार के नाम पर अपने को और दूसरों को धोखा देने वालों में कहाँ से जोश आता है। नीति की चहारदीवारी तोड़कर, विधिनिषेधों का जी भरकर मजा लेने से जोश आता है, जिससे यह लोग तामस या पाप कहकर भागते हैं, उसका मुक्त उपभोग करने से, जब कि मनुष्य की सच्ची वृत्तियाँ दमन की शृङ्खला तोड़कर स्वच्छन्द होकर जीवन का मांसल अनुभव करती हैं। आज यह जोश मैं—मेरे उपन्यास ही दे सकते हैं। जिनके आत्मरूप नायक अवसर आते ही नपुंसक बन जाते हैं, उनसे इसकी क्या आशा की जा सकती है?" यह कहकर उन्होंने अपने व्यंग्य को और अधिक स्थूल बनाते हुए जैनेन्द्रजी की ओर देखकर हँस दिया। जैनेन्द्रजी पर चोट का असर तो तुरन्त ही हुआ पर उन्होंने अपने को हतप्रभ नहीं होने

दिया। हाथ घुमाकर नर्मे की चादर को सम्हाला और एक खास सादगी के अन्दाज से आँखों को मठराते हुए, ऊपर के होठ से नीचे के होठ को लपेटकर बोले—"अरे भाई, उग्रजी के जोश में उबाल लाने वाली चीज हमें कहाँ प्राप्त है" और एक नजर यह देखकर कि उनके इस हाजिर जबाव का प्रेमचन्दजी और सियारामशरण जी पर क्या प्रभाव पड़ा है, कहने लगे, "मुझे कुछ—मुझे कुछ ऐसा लगता है कि उपन्यास जैसे आज परिभाषा की मर्यादा को तोड़ विशृंखल हो गया है। उसका स्वरूप जैसे कुछ नहीं है और सब कुछ है। वह कोई भी स्वरूप धारण कर सकता है। आज के जीवन की तरह वह जैसे एक दम अनिश्चित होकर दिशा खो बैठा है, इसीलिए आज के जीवन की अभिव्यक्ति का सच्चा माध्यम उपन्यास ही हैं। मैं उपन्यास क्यों लिखता हूँ यह मैं क्या जानूँ। मेरे उपन्यास जैसे हैं वैसे हैं ही—वे बड़े बेचारे हैं। परन्तु मुझे मालूम पड़ता है कि मेरे मन में कुछ है, जो बाहर आना चाहती है और उसको कहने के लिए में उपन्यास, कहानी या लेख जब जैसी सुविधा होती है—लिख बैठता हूँ। आप पूछेंगे कि क्या है जो बाहर आना चाहता है—वह है जीवन की अखण्डता की भावना। मुझे अनुभव होता है कि यह जीवन और जग जैसे मूलतः एक अखण्ड तत्व है। आज इसकी यह अखण्डता खण्डित हुई सी लगती है। लगती ही है—दरसल है नहीं। आज का मानव इसी भ्रम में पढ़कर भटक रहा है। उसके हाथ से संजीवन की कुञ्जी खो गई है और यह कुञ्जी है यही अखण्डता की भावना! मैं चाहता हूँ कि वह उसे ढूँढ निकाले नहीं तो निस्तार नहीं है। और इसको ढूँढने का साधन है केवल प्रेम या अहिंसा। प्रेम या अहिंसा का अर्थ है दूसरे के लिए अपने को पीड़ा देना। पीड़ा में ही परमात्मा बसता है। मेरे उपन्यास आत्म-पीड़न के ही साधन हैं। और इसीलिए मैंने उनमें काम-वृत्ति की प्रधानता रक्खी है, क्योंकि काम की यातनाओं में ही आत्म-पीड़न का तीव्रतम रूप है। वे पाठक को जितनी आत्म-पीड़न की प्रेरणा देते हैं जितना उसके हृदय में प्रेम पैदा कर जीवन की अखण्डता का अनुभव कराते हैं उतने ही सफल कहे जा सकते हैं।" इतना कहते हुए आहिस्ता से, जैसे ऐसा करने में किसी प्रकार की हिंसा का डर है; वे बैठ गये। इसके बाद सियारामशरण जी से प्रार्थना की गई कि वे अपना मन्तव्य प्रकट करें—परन्तु उन्होंने बड़े ही दैन्य से कहा—"हम क्या कहेंगे? अभी जैनेन्द्र भाई ने जैसा कहा है हमारा भी वैसा ही मत है।" तब पं० भगवतीप्रसाद वाजपेयी का नम्बर आया। अपने गोलाकार मुखमण्डल को थोड़ा और गोल करते हुए वे बोले "उपन्यास सम्राट श्री प्रेमचन्द और साथियो! मेरे भाई जैनेन्द्रजी ने जो कहा, अभी तक

मेरा भी बहुत कुछ वही मत था, परन्तु आज में स्पष्ट देख रहा हूँ (और यह कहकर अंचल की ओर देखते हुए वे अत्यन्त गम्भीर बन गए। जैसे जो कुछ कहने जा रहे हैं, वह उन्हें अंचल के मुख पर साफ नजर आ रहा है) कि आज के मानव की मुक्ति पीड़ा में नहीं है, जीवन की आर्थिक विषमताओं को दूर करने में है। आज मुझे शरद् या गाँधी नहीं बनना, शोलोखोव और स्टालिन बनना है।"

अब वात्स्यायनजी अपना दृष्टिकोण प्रकाशित करें— माँग हुई। वात्स्यायनजी ने अपना वक्तव्य आरम्भ कर दिया। परन्तु मैं चूँकि थोड़ा दूर बैठा था, मुझे सिर्फ उनके होठ ही हिलते दिखाई देते थे। सुनाई कुछ नहीं पड़ रहा था। उग्रजी ने एक बार उनको ललकारा भी कि 'अरे, सरकार जरा दम से बोलिये —आखिर आप स्वागत-भाषण तो कर नहीं रहे, मजलिस में बोल रहे हैं' पर वात्स्यायनजी पर जैसे उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा और वे उसी स्वर में बोलते रहे। हारकर मुझे ही उनके पास आना पड़ा। वे कह रहे थे "........या यों कहिए कि आपके सामने मेरा एक ही उपन्यास है। उसमें जैसा मैंने प्रवेश में कहा है कि मेरा दृष्टिकोण सदा बौद्धिक है। एक व्यक्तिता पूरी ईमानदारी से—अपने रागद्वेषों को सर्वथा पृथक रखकर वस्तुगत चित्रण करना और तज्जन्य बौद्धिक आनन्द को स्वयं ग्रहण करना और पाठक को ग्रहण कराना मेरा उद्देश्य रहा है। किसी व्यक्ति का—खासकर उस व्यक्ति का जो अपनी सृष्टि हो —चरित्र-विश्लेषण करने में अपने राग-द्वेषों को अलग रखते हुए पूरी ईमानदारी बरतना स्वयं अपने में एक बड़ी सरलता है। आप शायद कहेंगे कि यह व्यक्ति मेरी सृष्टि ही नहीं—में स्वयं हूँ और यह दिश्लेषण अपने व्यक्ति-विकास का मनोविश्लेषणात्मक सिंहावलोकन है—तब तो ईमानदारी और वस्तुगत चित्रण का महत्व और भी कई गुना ज्यादा हो जाता है, क्योंकि अपने को पीड़ा देना तो आसान है, पर रागद्वेष विहीन होकर अपनी परीक्षा करने में असाधारण मानसिक शिक्षण और संतुलन की आवश्यकता होती है। इससे प्राप्त आनन्द रागद्वेष में बँटने के आनन्द से भव्यतर है। मैंने इसी को पाने और देने का प्रयत्न किया है। 'शेखर' को पढ़कर आप जितना ही आनन्द को प्राप्त कर पाये हैं—उतनी ही मेरी सफलता है।" इतने में स्वतः प्रेरित से इलाचन्दजी बोल उठे—"वात्स्यायनजी की बौद्धिक निरुद्देश्यता का यह आनन्द कुछ मेरी समझ में नहीं आया। मैं उनके मनोविश्लेषण की सूक्ष्मता और सत्यता का कायल हूँ, परन्तु व्यक्ति का विश्लेषण करके उसको एक समस्या ही बना कर छोड़ देना तो मनोविश्लेषण का दुरुपयोग है। स्वयं फ्रायड ने भी मनोविश्लेषण को साधन

ही माना है, साध्य नहीं। चरित्र में पड़ी हुई ग्रन्थियों को सुलझाकर वह हमें मानसिक स्वास्थ्य प्रदान करता है—और इस प्रकार व्यक्ति की, फिर समाज की विशेषताओं का समाधान करता है। यही सच्चा आनन्द है, स्वस्थ आनन्द है।"

अब लोग थकने लगे थे। मुझे भी मन को एकाग्र रखने में कुछ कठिनाई सी मालूम हो रही थी (शायद मेरी नींद की गहराई कम हो रही थी) इसलिए मुझे सचमुच बड़ा संतोष हुआ जब प्रश्नकर्ता महोदय ने उठकर कहा कि 'अब काफी देर हो गई है, इतना समय नहीं है कि आज के सभी उदीयमान औपन्यासिकों को अपने मन्तव्य सुनाने का सौभाग्य प्राप्त हो सके। अतएव केवल यशपाल जी ही अब अपने विचार प्रकट करने का कष्ट करें।'

यशपालजी बोले—"वात्स्यायनजी की बौद्धिकता को तो मैं मानता हूँ परन्तु उनके इस तटस्थ या वैज्ञानिक आनन्द की बात मेरी समझ में नहीं आती। वास्तव में यह वैज्ञानिक आनन्द कुछ नहीं शुद्ध आत्मरति (Narcissism) मात्र है। वात्स्यायनजी घोर व्यक्तिवादी कलाकार हैं। उन्होंने जीवन और जगत् को अपनी सापेक्षता में देखा और अंकित किया है। जैसे सब कुछ उनके अहं के चारों ओर चक्कर काट रहा है। मेरा दृष्टिकोण ठीक इसके विपरीत है। अपनी शक्ति को अपनी व्यष्टि में ही केन्द्रीभूत कर लेना या अपनी व्यष्टि को सम्पूर्ण विश्व की धुरी मान लेना जीवन का बिल्कुल गलत अर्थ समझना है। आत्म-रति एक भयंकर रोग है। उससे जीवन में विषमयी ग्रन्थियाँ पड़ जाती हैं। जीवन का समाधान तो इसी में है कि व्यक्ति के घोंघे से निकलकर समष्टि की धूप में विचरण किया जाए। व्यक्ति में उलझे रहने से जीवन की समस्यायें उलझ जाएँगी। उसके लिए सामाजिकता अनिवार्य है। व्यक्तियों पर ध्यान केन्द्रित कर उनको अनिवार्य महत्त्व देना मूर्खता है। सामूहिक चेतना जागृत कीजिये—गणशक्ति का अर्जन कीजिये। परन्तु इसके साथ जैनेन्द्रजी के आत्म-निषेध को भी मैं नहीं मानता। जो है, उसका निषेध करना बेईमानी है, और न कोई आत्म-निषेध करता है। आत्म-निषेध की सबसे अधिक बात करने वाले गांधीजी ही सबसे बड़े आत्मार्थी हैं। अध्यात्मवाद, वैज्ञानिक तटस्थता आदि व्यक्तिवाद के ही विभिन्न नाम हैं। आज हमें आवश्यकता इस बात की है कि भ्रम जाल से निकलकर जीवन की भौतिकता और सामाजिकता को स्वीकार करें। मेरे साहित्य का यही उद्देश्य है।"

गोष्ठी की कार्यवाही समाप्त हो चुकी थी। अन्त में प्रश्नकर्त्ता महोदय ने वक्ताओं को धन्यवाद देते हुए निवेदन किया—"अभी आपके सामने प्रसिद्ध हिन्दी के प्रतिनिधि उपन्यासकारों ने अपने-अपने दृष्टिकोण की सुन्दर विवेचना

की है। हिन्दी-उपन्यास के लिए यह बड़े गौरव का दिन है, जब हमारे आदि उपन्यासकार से लेकर नवीनतम उपन्यासकार तक—बाबू देवकीनन्दन खत्री से लेकर यशपाल तक—सभी एक स्थान पर मौजूद हैं (यद्यपि ऐसा कैसे सम्भव हो सका यह सोच कर वक्ता महोदय को बड़ा आश्चर्य हो रहा था) और उन्होंने स्वयं ही अपने दृष्टिकोणों का स्पष्टीकरण किया है। आपने देखा किस तरह इनका दृष्टिकोण क्रमशः बदलता गया है—किस तरह सामन्तीय से वह भौतिक बौद्धिक हो गया है। देवकीनन्दन खत्री और यशपाल हमारे उपन्यास-साहित्य के दो छोर हैं। देवकीनन्दनजी का दृष्टिकोण—उनके औपन्यासिक मान शुद्ध सामन्तीय हैं। साहित्य या उपन्यास उसके लिए एक जीवित शक्ति नहीं है; वह उनके मनोरंजन का—उपभोग का एक उपकरण मात्र है। उनके जीवन की व्याख्या और आलोचना करने वाला एक चैतन्य प्रभाव नहीं है, उपभोग जंजीर जीवन में एक झूठी उत्तेजना लाने वाली एक खुराक है। शारीरिक उत्तेजना के लिए जिस प्रकार कुश्ते खाये जाते थे, मानसिक उत्तेजना के लिए उसी प्रकार वे 'तिलस्म होशरुबा' या 'चन्द्रकान्ता सन्तति' पढ़ते थे। इस तरह से उस समय के जीवन के लिए चन्द्रकान्ता उपन्यास एक महत्वपूर्ण प्रभाव था—और कम से कम उसकी अनन्त विहारिणी कल्पना का लोहा तो सभी को मानना होगा। वह मन को इस बुरी तरह से जकड़ लेती है, यही उसकी शक्ति का असन्दिग्ध प्रमाण है। भारतीय जीवन की गति के अनुसार प्रेमचन्द तक आते-आते यह दृष्टिकोण बदलकर विवेक और नीति का दृष्टिकोण (Rational-moral) हो जाता है। उनके लिए उपन्यास सामाजिक जीवन का निर्माण करने वाला एक चेतन प्रभाव है। उपयोगिता और सुधार उसके दो ठोस उद्देश्य हैं; नीति और विवेक दो साधन। जीवन से उसका घनिष्ट सम्बन्ध है। निदान उनका उपन्यास मानव-जीवन की ऊपरी सतह को छूकर नहीं रह जाता—वह उससे अन्दर प्रवेश करता है। परन्तु चूँकि उसकी दृष्टि बहिर्मुखी है, सामाजिक जीवन पर ही केन्द्रित रहती है, इसलिए उसकी भी तो पैंठ सीमित माननी ही पड़ेगी। नीति और विवेक के प्राधान्य के कारण प्रेमचन्द का उपन्यास प्राणचेतना के आर-पार नहीं देख पाता—विवेक को इसकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती। उसकी विवेक की आँखें बीच में ही रुक जाती हैं, जीवन के अतल को स्पर्श नहीं कर पातीं। इसीलिए तो प्रेमचन्द की दृष्टि की व्यापकता, उदारता और स्वास्थ्य का कायल होकर भी मुझे उनमें और शरद् या रवि बाबू में बहुत अन्तर लगता है। प्रेमचन्दजी की इस बहिर्मुखी सामा-

(शेष पृष्ठ २२२ पर देखिये)

उपन्यास

[डा० सत्येन्द्र]

उपन्यास नये युग की नयी अभिव्यक्ति का नया रूप है। साहित्य के रूपों के उद्भव के सम्बन्ध में यह एक अखण्ड सत्य है कि वे व्यक्ति और युग के शाश्वत और सामयिक रसायन का परिणाम होते हैं। विश्व में कथा कहानी की परम्परा उतनी ही पुरानी है जितना स्वयं मनुष्य है। आत्म-प्रसार और आत्म-रक्षा ये दो मूल भाव प्रकृति से मनुष्य को जन्मजात ही मिलते हैं। पैदा होते ही मनुष्य एक ओर तो अपने को बाँटना चाहता है, दूसरी ओर अपनी रक्षा भी चाहता है। यही कारण है कि प्रसार और सङ्कोच दो प्रतिद्वन्द्वी और विरोधी तत्त्व उसमें साथ-साथ उद्भुत होते हैं। 'प्रसार' किसी न किसी रूप में 'रति' का पर्याय और द्योतक होता है और सङ्कोच 'भय' का। एक ही अभिव्यक्ति के इस प्राकृतिक प्रक्रिया के दो रूप हो जाते हैं। दो अभिव्यक्तियाँ, प्रसार और सङ्कोच 'रति और भय' जिस अद्वैत के रूप हैं, उसे आत्म-अस्तित्व अथवा 'अहं' नाम दिया जा सकता है। 'वाणी' भी मनुष्य की अभिव्यक्ति का एक माध्यम है। यह स्वयं मूल में तो प्रसार का ही साधन है। पर 'प्रसार' मौलिक रूप में अस्तित्व की अभिव्यक्ति का 'आक्रामक' प्रकार है। यह आक्रामक प्रकार वाणी के द्वारा सबसे अधिक प्रभावशाली होता है। शरीर का अन्य कोई तत्त्व ऐसा नहीं जो दूर तक जाकर अपना काम कर सके। आंखें दूर तक देख सकती हैं, पर 'निःनेत्र' को वे प्रभावित नहीं कर सकतीं। एक ऋषि ने नेत्रों की ज्वाला से एक पक्षी को भस्म कर दिया था। शिवजी ने भी अपने तीसरे नेत्र से काम को भस्म किया था। नेत्रों की यह शक्ति सहज नहीं। ऐसी सम्भावना उपार्जन से हो तो हो। वाणी के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियाँ तो इतना भी नहीं कर सकतीं जितना नेत्र कर सकते हैं। अतः 'वाणी' एक महत्त्वपूर्ण साधन मनुष्य को मिला है जिसे उसने विविध प्रकार से विकसित किया है और जिसमें उसके सभी प्रकार के भावों की प्रतिक्रिया प्रतिफलित होती है। पशु 'भाषा' नहीं बोल सकते किन्तु उनकी वाणी में भी भावानुरूपता मिलती है। फिर मनुष्य ने दो इसे एक कला के रूप में विकसित किया है। और

आदिम अवस्था से आज तक इससे आत्म-प्रसार तथा आत्म-रक्षा विषयक शतशः काम लिये हैं। आज के जगत में रण-गर्जना भी वाणी से होती है, सङ्गीत भी वाणी का ही प्रकार है, डाट फटकार में वाणी काम आती है, फुसलाने-रिझाने में भी यह आगे है। एक वाणी से श्रोता थरथर काँपने लगते हैं, एक वाणी से आकर्षित-विमोहित मन लट्टू हो नाचने लगते हैं। 'प्रसार और रक्षा' के तत्व वाणी के इन विविध-प्रकारों में किसी न किसी रूप में विद्यमान अवश्य रहते हैं। वाणी के सहारे 'प्रसार' भी रक्षा का आक्रामक माध्यम हो जाता है, उन सब में 'प्रसार-रक्षा' का द्वन्द्व विद्यमान मिलेगा। वाणी जब 'भाषा' का बाना पहन लेती है तब भी वह अपनी मूल प्रकृति के साथ ही रहती है। भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त भाव 'साहित्य' होकर उसके विविध रूपों में बिखर जाते हैं और 'प्रसार-सङ्कोच' के युगीन या युग-युग युगीन सम्बन्ध से वे रूपों में ढलते जाते हैं। मनुष्य अपने कर्म से प्रगति के पथ को प्रशस्त करता चला जाता है। प्रगति के पथ के समुद्रतट, कान्तार, खोहें, पर्वत, मरु, नदी, मैदान, शिकार पशुपालन, खेती, व्यवसाय, गाँव, नगर, उद्योग, मशीनें—सभी समय-समय पर मनुष्य के लिए आविष्कार रूप में आविर्भूत होती गयीं और उनके अनुरूप ही मनुष्य का व्यक्तित्व संशोधित होता गया। प्रगति के प्रत्येक नये चरण ने नया युग दिया। उसने नया मानव ढाला, जिसकी अभिव्यक्ति के नये रूप खड़े हुए। प्रसार और रक्षा के इसी उद्योग में मनुष्य ने कथा-कहानी की उद्भावना की। कथा-कहानी की यह मौलिक प्रवृत्ति ही सत्रहवीं-अठारवीं शताब्दी में 'उपन्यास' के बाने में प्रस्तुत हुई।

कथा-कहानी का इतिहास सामान्य नहीं। सत्रहवीं अठारहवीं शताब्दी तक इसने कितने रूप नहीं ग्रहण किये। किन्तु उनमें कोई भी रूप उपन्यास नहीं, क्योंकि उपन्यास की उद्भावना से पूर्व का मानव व्यक्तित्व भिन्न था। वह एक भिन्न युग की देन था।

प्रश्न यह है कि उपन्यास की यह नयी उद्भावना क्यों हुई। मानव के व्यक्तित्व में इस सत्रहवीं अठारहवीं शती के आस पास ऐसा क्या सम्बोधन उपस्थित हुआ कि उसे 'उपन्यास' जैसे रूप में अपनी उपलब्धि करनी पड़ी। इसके उत्तर के लिए हमें उपन्यास का विश्लेषण करना होगा। उपन्यास में क्या है ? इसके उत्तर में सबसे पहले यही कहा जायगा कि उसमें कोई कथा या कहानी होती है।

यह कथा-कहानी कैसी ? क्या यह उपनिषदों की कहानी जैसी है ? क्या यह पुराणों की कहानी जैसी है ? क्या यह पञ्चतन्त्र की तरह की है ?

या अलिफ लैला की भाँति की ? या कथासरित्सागर की भाँति की ? यदि देखा जाय तो विदित होगा कि मूलतः जो इनमें है, वही उपन्यासों में है। इन सबमें क्या है ? सब में सृष्टि के मूल तत्त्व का ही रूपान्तर है जो प्रत्येक 'काव्य' में विद्यमान है—कर्त्ता, क्रिया और क्रियमाण। कर्त्ता-क्रिया-क्रियमाण के सम्बन्ध में जब भाव-जगत इतिहास खड़ा होता है, तब वह कथा-कहानी का रूप ग्रहण करता है। कर्त्ता-क्रिया-क्रियमाण द्वारा 'रति और भय' के मूल भावों के कितने ही प्रयोग होते जाते हैं। कर्त्ता-क्रिया और क्रियमाण के पारस्परिक 'गतिमय' विषयक सम्वन्धों के कथा-कहानी सम्बन्धी अनेक रूप बन सकते हैं। उनमें से उपन्यास में यह सम्बन्ध कर्त्ता के प्रबल रति-भय विषयक उद्वेग से सम्बन्धित क्रिया और क्रियमाण के परिपक्व रूप में प्रस्तुत होता है। उपन्यास से पूर्व की रचनाओं में 'कर्तृत्व' का रूप क्रिया और क्रियमाण के महत्त्व अथवा वैलक्षण्य पर निर्भर करता था। अब स्वयं कर्तृत्व कर्त्ता के महत्त्व से वांछनीय हुआ। कर्त्ता मन, वचन, कर्म, का समुच्चय है। आधुनिक युग के परिणामस्वरूप 'कर्त्ता' के 'मन' को पहले से विशेष प्रमुखता प्रदान हुई है। जिससे उपन्यास का मूल क्रिया और क्रियमाण के वैलक्षण्य से हटकर कर्त्ता और उसके कर्तृत्व के वैलक्षण्य पर केन्द्रित हो गया। यह परिवर्तन युग के परिवर्तन की आस्था के अनुकूल था। औद्योगिक-क्रांति—वैज्ञानिक अनुसंधान से उद्भूत क्रांति ने मनुष्य के बुद्धि-पक्ष को प्रबल किया, जिससे आरम्भ में 'विवेकशील' (rationalism) का प्रवर्त्तन हुआ—प्रोटेस्टेण्ट, कालविनिज्म, आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज इसी 'विवेकशील' के परिणाम थे। फ्रांसीसी राज्य-क्रांति का जन्म भी इसी मूल-तत्त्व के सक्रिय होने के कारण हुआ। मनुष्य बौद्धिक हो चला, और जैसे-जैसे इस बौद्धिकता में विकास होता गया, वैसे ही वैसे उपन्यासों के रूप और अर्थ में भी।

युग के नये आविष्कारों ने नयी क्रांतियाँ कीं। यह देखने की बात है कि इस छोटे से युग में कितनी क्रांतियाँ एक-दूसरे से लिपटी हुई विवर्तित होती चली आई हैं। जिनसे मनुष्य को ठीक-ठीक समझने का भी अवकाश नहीं मिला, जिनसे जहाँ उसे कुछ विवशताओं से मुक्ति मिली तो कुछ विवशताओं का शिकार भी बनना पड़ा।

औद्योगिक क्रांति— व्यावहारिक बुद्धि।
वैज्ञानिक आविष्कार—अतर्भेदक बुद्धि।
उपनिवेशवाद साम्राज्यवाद—व्यावसायिक बुद्धि।
फ्रांस की राज्य-क्रांति-राष्ट्रीयतावाद—न्याय बुद्धि।

विश्व-युद्ध—बौद्धिक प्रमाद।
प्राकृतिक शक्ति प्रयोग—मेधा।
मशीन-क्रांति, वृहत उत्पादन—मेधा-विस्तार।
पूँजीवाद—मेधा-संग्रह।
मार्क्सवाद—न्याय मेधा।
गांधीवाद--मानवी-मेधा।
सामाजिक क्रांति—मेधा-प्रमाद।

आधुनिक युग से पूर्व का युग 'भूमि-निर्भर' युग था, जिससे व्यक्तित्व और उनका कर्तृत्व बहुत सीमित था, और प्रकृति के भरोसे था। आधुनिक युग में कर्तृत्व की प्रधानता हुई। पहले युग में एक अनोखा स्थायीपन और स्थिरता थी जो मनुष्य को नवीनता से विरक्त करती थी, और परम्परा का अन्ध भक्त बनाती थी—मनुष्य कर्तृत्व के विकास से यह दृष्टि बिल्कुल बदल गयी और अब वह नूतनता को महत्व देने लगा। स्थायित्व और स्थिरीकरण से उसे विरक्ति होने लगी। एक नूतन सृष्टि के लिए भावना उसमें उठी—समस्त विश्व शनैः शनैः उनसे अनुग्राहित हो उठा। उपन्यास ठीक इसकी नूतनता की प्रतिकृति है। और इसी लिए अँग्रेजी में इसे ठीक ही 'नावेल' कहा जाता है। इसी के अनुकरण पर कितनी ही भारतीय भाषाओं में इसे 'नवलकथा' नाम दिया गया। यह स्वाभाविक है कि उपन्यास इस अपने जन्म के तथ्य को सिद्ध करने के लिए प्रतिपल नवलता का स्वागत करे।

युग की आवश्यकता और नवलता के प्रयोग ने सबसे पहला काम तो यह किया कि जहाँ कथा-कहानी के व्यक्ति को कथा-कहानी-लोक के प्राणी-जगत से यथार्थ जगत का प्राणी बनाया, वहाँ उसने उस प्राणी के चारों ओर व्याप्त आतङ्क-चक्र को भी उद्भेदित कर दिया। उनमें उद्भव-गिरने के तत्त्व समाविष्ट हुए। मानवीय दुर्बलताएँ और मानवीय सबलताएँ सभी आयीं। पर सबसे अधिक इस प्रयोग में जो तत्त्व प्रधान हुआ था, वह सीधे वैज्ञानिक युग की प्रकृति की देन था—मानव अनुसंधान। प्रकृति के नये आविष्कारों के नये परिणाम सामने आ रहे थे। मनुष्य को भी इस वैज्ञानिक परीक्षण का विषय बनाया गया। जिससे नृविज्ञान, मनोविज्ञान, शरीर विज्ञान आदि अनेकानेक विज्ञान खड़े हुए। ये सब मनुष्य के भौतिक अध्ययन थे। मनुष्य इस अध्ययन से भी कुछ का कुछ रूप ग्रहण कर रहा था, वह स्वयं अपनी ही दृष्टि में कुछ और होने लगा था—और तब उसके सामाजिक-क्षेत्र पर भी अनुसन्धानात्मक दृष्टि पड़ी। वैज्ञानिक और शास्त्रीय दृष्टि से ही उस क्षेत्र का अनुसन्धान किया

गया । उससे मानव के तत्त्वों का तो पता चल सकता था, पर स्वयं सजीव मानव लुप्त हो जाता था । पर सबसे बड़ी आवश्यकता इसी मानव को समझने उसे पहचानने, उसकी शक्तियों को तौलने, उसकी प्रवृत्ति, बुद्धि और रूप के यथार्थ अनुसन्धान की थी । और ऐसे अनुसन्धान की आवश्यकता थी कि जिस में मानव खो नहीं जाय ।

यह काम उपन्यास ही कर सकता था क्योंकि—

१—उसका माध्यम गद्य था, जो अपने स्वरूप और अभिप्राय में व्यवसायात्मक तथा वैज्ञानिक प्रवृत्ति वाला है ।

२—उसका आधार कथा-कहानी थी, जो वैज्ञानिक अनुभाव, प्रतीक योजना, गणित-मेधा के अनुकूल थी—गणित में जो काम ऐलजबरा करता है वही काम उपन्यास मानव जगत में करता है ।

३—उसका विषय मानव-सम्बन्धों और उनकी मानसिक पृष्ठभूमि का विश्लेषण करना था—उसके राग-विराग का : रति-भय का ।

४—उसकी प्रतिपादन शैली-क्रिया-क्रियमाण घटना-संघटन और श्रृङ्खला की रोचक विवृत्ति के रूप में थी ।

५—उसका धरातल यथार्थ भूमि पर था ।

६—उसका लक्ष्य मानव के हीन और उत्कृष्ट को प्रस्तुत करना था । मानव को समग्र रूप में, मानव को सजीव मानव के रूप में ।

७—उसकी प्रवृत्ति जीवनमयी थी ।

८—उसकी दृष्टि इस लोक पर, इस लोक के लिए, इस लोक के माध्यम से थी । ठेठ भौतिक अतः युगधर्मी ।

९—उसकी प्रेरणा-पृष्ठभूमि—पूर्णतः मानवीय-मानस के समस्त पटलों की क्रिया-प्रतिक्रिया से युक्त होती है ।

इस निर्माण के कारण वैज्ञानिक अनुकूलता होते हुए भी इसमें न तो वैज्ञानिकता का आरोप था न उसकी सी शुष्कता । मानव का अध्ययन सरस मानवीय सम्बन्धों की जटिल परिस्थितियों की परख में से यथार्थ भूमि पर । यही कारण था कि यह रोचक हुआ और उद्वेग भी जैसे 'आईना' होता है ।

उपन्यास अपने निर्माण तत्त्वों के आधार पर राग-विराग के सूत्रों से संयुक्त होता है, यह हम ऊपर देख चुके हैं । स्वभावतः ही इसमें काव्य-तत्त्वों का अत्यन्त सामान्य तत्त्व व्याप्त रहता है, जैसे दाल में नमक । फलतः उपन्यास इस नये युग का सबसे अधिक सम्भावनाओं से युक्त रूप है—जिसमें साहित्य समृद्ध हुआ है और हो रहा है । [जुलाई-अगस्त १९५६

हिन्दी उपन्यास का विकास

[डा० किरनकुमारी गुप्त]

चेतना लहर न उठेगी
जीवन समुद्र थिर होगा।
सन्ध्या हो सर्ग प्रलय की,
विच्छेद मिलन फिर होगा। —प्रसाद

कविवर प्रसाद के विरह-काव्य आँसू में उच्छवसित जीवन-सागर जब संसार के सुख-दुख के ज्वार-भाटों से परिश्रान्त हो निश्चल हो जाता है, इस स्थिर सागर की भाव-बीचियाँ जब अपने स्वाभाविक चांचल्य का परित्याग कर देती हैं। तब भी तो आशा भावी-विच्छेद और मिलन की थपकियाँ दे देकर मानव के कर्ण-विवर में मोहनी-मन्त्र सा फूँकती रहती है और तब मन्त्र मुग्ध मानव-पागल सा अपनी तान छेड़ देता है।

मानव जीवन वेदी पर
परिणय हो विरह मिलन का।
दुःख सुख दोनों नाचेंगे,
है खेल आँख का मन का।

और तब—विरह-मिलन की आँख मिचौनी में, दुःख-सुख के अनवरत नृत्य में, पद-संचालन में नूपुरों की रुन-झुन की ध्वनि को तालमय बनाने के लिए चल-चरणों के चपल आयास में, भाव-भङ्गिमा को अधिक प्रभावशाली बनाने में, कोमल कान्त कटि को कमनीयता प्रदान करने में, पुष्पधन्वा की शिथिल शिंजिनी सी सुशोभना भूरेखाओं की वक्रता में, शिरस सुमन सी सुकोमल रसमयी भुजाओं द्वारा भावमय संकेतों के प्रदर्शन से परिश्रान्त नर्तकी के समान हो तो मानव-जीवन में आशा निराशा में दोलायमान होता हुआ, सुख और दुःख से आँख-मिचौनी खेलता हुआ जीवन के शैथिल्य को किसी न किसी प्रकार बहन करता हुआ कभी तो इस बड़े चेतनमय जगत के पथ के शूलक-शूलों को फेंककर सुमन बिछाता चलता है और कभी अपनी अकर्मण्यता तथा अकुशलता से सुरभित सुमनमय मार्ग को कण्टकाकीर्ण बना देता है। उन्नति और अवनति, उत्थान और पतन के ज्वार-भाटे से

आक्रान्त मानव कभी तो स्थल की मनोरम भूमि की ओर हाथ फेंकता और कभी सागर के अन्तर में लीन हो जाता है। उसके जीवन की आशायें कभी तो अंकुरित पल्लवित और पुष्पित हो उसे उन्मत्त बना देती हैं और कभी उस की लालसा-लताओं के ललित सुमन उसके अनजाने में ही झड़ जाते हैं। अपलक दृष्टि से अहर्निशि देखने वाले इस मानव का जीवन विषाद और दुःख का आगार बन जाता है। यदि हम यह कहें कि हर्षोन्मत्त और विषाद ग्रस्त इसी मानव के क्रिया कलापों और मनोभावों का यथा-तथा चित्रण ही उपन्यास है तो अत्युक्ति न होगी। जब इस सजीव चित्रण को हम शब्दों में व्यक्त करते हैं तो उपन्यास नाम से अभिहित होता है।

उपन्यास के क्रमिक विकास पर विचार करने से पूर्व हमें हिन्दी गद्य साहित्य के विकास पर भी विहंगम दृष्टि डालनी होगी।

हिन्दू जनता पराभव काल में यवनों के स्वर्णिम स्वप्नों में एक भाषा कभी-कभी तुलसी, सूर, जायसी और केशव के काव्य में कराह उठती थी। अपने आराध्य के गुणगान के समय भावावेश में इस भाषा के भी अस्फुट शब्द भक्तों की वाणी से प्रस्फुटित हो जाते थे। भक्तिकाल से रीतिकाल पर्यंन्त काव्य-सरिता तो अबाध गति से प्रवाहित होती रही किन्तु काव्य भाषा की गद्यात्मक असमर्थता ने गद्य-क्षेत्र को उर्वर न होने दिया। वस्तुतः हिन्दी गद्य साहित्य का वपन उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में और उपन्यास साहित्य का इसके उपरान्त हुआ।

हिन्दी शिशु को अधिकतः देन संस्कृत जननी से ही प्राप्त हुई थी किन्तु खेद है कि संस्कृत के अक्षय भण्डार में जहाँ अनेक अनुपम रत्न थे वहाँ उपन्यास रत्न की नितान्त कमी थी अतः वह अपने प्रिय शिशु को उपन्यास-कला सिखाने में असमर्थ रही। यद्यपि संस्कृत में बौद्ध जातक, कथासरित्सागर, दशकुमार चरित और कादम्बरी जैसे ग्रन्थ थे, किन्तु ये कथाएँ थी, उपन्यास नहीं हैं। हाँ कादम्बरी को कुछ अंश में उपन्यास की कोटि में रखा जा सकता है। हिन्दी गद्य साहित्य के प्रारम्भिक युग में चार ग्रन्थ—सदासुख लाल का सुखसागर मुंशी इंशा अल्ला खाँ का रानी केतकी की कहानी, सदल मिश्र का नासिकेतोपाख्यान और लल्लूलाल का प्रेम सागर उल्लेखनीय हैं, किन्तु इन्हें भी उपन्यास की कोटि में नहीं रखा जा सकता। हाँ इन महानुभायों के उपरिलिखित ग्रन्थों से इतना लाभ अवश्य ही हुआ कि उस तोतली भाषा को अपनी बात कह सकने की, अपने टूटे फूटे विचार व्यक्त करने की प्रेरणा मिली और उनके द्वारा किए हुए इस भाषांकुर ने भारतेन्दु के सुधोपम शीतल सिंचन से पल्लवित

होकर द्विवेदी काल में पुष्पित एवं विकसित होकर हिन्दी जगत को सुरभिमय बना दिया।

हिन्दी गद्य साहित्य के उत्तरोत्तर विकास के अनुसार गद्य साहित्य का युग तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है--

१--प्रथम उत्थानकाल, २--द्वितीय उत्थानकाल और ३--तृतीय उत्थान काल।

उपन्यास साहित्य गद्य-साहित्य का ही प्रमुख अङ्ग है, अतः उपन्यास साहित्य का भी काल-विभाजन हम इसी प्रकार करेंगे।

वस्तुतः उपन्यास साहित्य का आरम्भ हिन्दी साहित्य के उन्नायक--भारतेन्दुजी के ही समय में हुआ। स्वयं भारतेन्दु ने ही 'पूर्व प्रकाश और चन्द्र, प्रभा' नाम का उपन्यास लिखा। यह एक सामाजिक उपन्यास था किन्तु यह लोक प्रिय न हो सका। भारतेन्दुजी को साहित्य के अन्य अङ्गों में अद्भुत सफलता प्राप्त हुई किन्तु उपन्यास साहित्य में असफल रहे। संवत् १९१४ में पं० श्रद्धारामजी ने 'भाग्यवती' नाम का सामाजिक उपन्यास लिखा। यह उपन्यास साधारणतः अच्छा था किन्तु इसमें मौलिकता के होते हुए भी चरित्र-चित्रण सजीव और आकर्षक न हो सका। इसके अनन्तर अंग्रेजी और बंगला साहित्य के प्रभाव-स्वरूप सर्व प्रथम मौलिक उपन्यास श्री श्रीनिवासदास का 'परीक्षा गुरु' निकला। इसका सभ्य और शिक्षित समाज में यथेष्ट सम्मान हुआ। तदुपरान्त राधाकृष्णदास का निस्सहाय हिन्दू', प० बालकृष्ण भट्ट का 'नूतन ब्रह्मचारी एवं 'सौ अजान और एक सुजान', ठाकुर जगमोहनसिंह का 'श्यामा स्वप्न पं० अम्बिकादत्त व्यास का 'आश्चर्य वृत्तान्त' आदि उपन्यास लिखे गये, किन्तु साहित्यिक दृष्टि से ये विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है। इन उपन्यासों के अतिरिक्त इस काल में अनुवाद के रूप में बहुत कार्य हुआ। बंगला और अँग्रेजी के अनूदित ग्रन्थों का ताँता सा बँध गया। किन्तु इस काल के गद्य में केवल इतनी ही शक्ति थी जो अपनी कही हुई बात को पुनः कह सके--अपने टूटे-फूटे शब्दों में। यह काल उपन्यास साहित्य का प्रथम उत्थानकाल माना जा सकता है।

हिन्दी गद्य साहित्य के द्वितीय उत्थान काल में भी अनूदित ग्रन्थों की धूम रही। मौलिक उपन्यास भी कम नहीं निकले। साहित्यिक दृष्टि से इस काल के उपन्यासों का महत्त्व भले ही मान्य न हो किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि कर्मशीलता में इस काल के लेखक सर्वश्रेष्ठ कहे जा सकते हैं। अनुवादकों में श्री गदाधरसिंह श्री रामकृष्ण वर्मा और श्री कार्तिक प्रसादजी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इनकी भाषा भारतेन्दुकाल के लेखकों से अधिक संयत और सबल है। 'प्रमिला

'जया' 'मधुमालती' आदि ग्रन्थों का इन महानुभावों ने सुन्दर अनुवाद किया।

अनूदित ग्रन्थों के उपरान्त हमने श्री देवकीनन्दन खत्री के कल्पनागामी पङ्खों पर बैठकर स्वर्णिमलोक में विहार करना आरम्भ किया--गोपालराम गहमरी की भूलभुलैया में चक्कर काटे और श्री किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासों में समाज के नग्न और घृणित चित्रों का अवलोकन किया। वास्तव में ये तीनों लेखक इस काल की उपन्यास त्रिवेणी के तीन प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं।

उपन्यास जगत में धूम मचाने वाले इस काल के प्रथम मौलिक उपन्यासकार श्री देवकीनन्दन खत्री हुए। यह ऐयारी और तिलस्मी धारा के प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं। इनके मुख्य उपन्यास नरेन्द्रमोहिनी, कुसुमकुमारी, वीरेन्द्रवीर, चन्द्रकान्ता और चन्द्रकान्ता सन्तति हैं। हिन्दी उपन्यास क्षेत्र में कला की दृष्टि से तो नहीं किन्तु हिन्दी भाषा के प्रचार की दृष्टि से ये सर्व प्रमुख हैं।

श्री गोपालराम गहमरी ने जासूसी उपन्यास लिखने में कदम बढ़ाया। इनकी प्रेरणा के मूल स्रोत इङ्गलैण्ड के फिलिप ओपेनहम, शरलाक, होम्स तथा एडगर वेलेस आदि के जासूसी उपन्यासों की सीरीज प्रतीत होती है। गहमरीजी ने भी अपने पत्र 'जासूस' तथा रोमांचपूर्ण जासूसी उपन्यासों की धूम मचा दी।

उपन्यास जगत की तीसरी धारा के प्रतिनिधि श्री किशोरीलाल गोस्वामी थे। इन्होंने लगभग ६५ मौलिक उपन्यास लिखे और समाज को रोमांचित कर देने वाले उपन्यासों की नींव डाली, समाज का जीता जागता चित्र अङ्कित किया पर उस चित्र में हमने देखा—वासना और विलास की पङ्किल भूमि पर कल्पना अट्टहास कर रही थी। साहित्यिक सौन्दर्य का उनमें अल्पांश ही था, ये कला की दृष्टि से भी उपन्यास नहीं कहे जा सकते थे, किन्तु मौलिकता की दृष्टि से तो इनका महत्त्व स्वीकार करना ही पड़ेगा। इनके मुख्य उपन्यास ये हैं—तारा, चपला, लवङ्गलता, तरुणतपस्विनी, रजिया, इन्दुमती, लीलावती, हीराबाई आदि।

पं० अयोध्यासिह उपाध्याय ने भी इस काल में दो उपन्यास लिखे—'ठेठ हिन्दी का ठाठ' और 'अधखिला फूल'। ये उपन्यास उपन्यास की दृष्टि से नहीं भाषा की दृष्टि से लिखे गये थे। इनकी भाषा ठेठ हिन्दी है—यही इन

उपन्यासों का ध्येय है अतः ये उपन्यास उच्चकोटि के नहीं कहे जा सकते। वास्तव में उपाध्यायजी प्रतिभाशाली कवि थे, उपन्यासकार नहीं।

मौलिक उपन्यासकारों में श्री लज्जाराम मेहता का भी नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने हिन्दू समाज और धर्म की अव्यवस्था को साध्या मानकर 'हिन्दू-गृहस्थ', 'आदर्श हिन्दू' और 'धूर्त रसिकलाल' आदि उपन्यास लिखे, किन्तु उनके उपन्यासों से न तो जन-हित ही हुआ, न उपन्यास-कला का विकास ही हुआ और न भाषा की अभिव्यञ्जना शक्ति में ही बल की अभिवृद्धि हो सकी। वस्तुतः यह पत्र-सम्पादक थे, उपन्यास कला के पारखी नहीं।

साहित्यिक दृष्टि से उपन्यास की कोटि में आने वाले कुछ भाव-प्रधान उपन्यासों की रचना श्री ब्रजनन्दनसहाय ने की। इनके मुख्य उपन्यास 'सौन्दर्योपासक', 'राधाकान्त' और 'राजेन्द्र-मालती' हैं।

हिन्दी-साहित्य के द्वितीय उत्थानकाल का युग एक शिथिल, रहस्योन्मुख, अविकसित हृदयपक्ष से पूर्ण चमत्कार-प्रिय युग था। यही इस युग का इतिहास है। मानव-भावनाओं का विश्लेषण ही तो इस युग का परम लक्ष्य है। अतः जनता की इस परिस्थिति ने, उसके जीवन की विशृङ्खलता ने 'चन्द्रकान्ता सन्तति' को अपना कण्ठहार बना लिया। पाठक दिन-रात के अथक परिश्रम और लगन से अध्ययन करता हुआ पात्रों के साथ मानसिक साहचर्य स्थापित करता हुआ, कल्पना के स्वर्णिम स्वप्न देखता हुआ 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता-सन्तति' को पढ़ता था और पढ़ते-पढ़ते जासूसी और ऐयारी काल्पनिक पात्रों के साथ स्वर्णिम लोक में विहार करने लगता था। खत्रीजी द्वारा लिखित 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता-सन्तति' ने हिन्दी के प्रेमियों की संख्या में आश्चर्यजनक वृद्धि की और विद्या के प्राचीन केन्द्र काशी को हिन्दी का केन्द्र बनाकर हिन्दी के प्रति स्तुत्य कार्य किया। ये उपन्यास चरित्र-प्रधान न होकर घटना प्रधान हैं। पाठक का ध्यान एक के अनन्तर दूसरी घटना पर केन्द्रित होता जाता है और उसके मन में सदा ही यह कौतूहल बना रहता है 'फिर क्या हुआ ?' कहीं तो तेजसिंह और वीरेन्द्रसिंह से सम्बन्धित वीरतापूर्ण घटनाएँ दृष्टिगोचर होती हैं और कहीं मायारानी आदि के आश्चर्यपूर्ण कार्यों के प्रति आश्चर्यचकित हो जाना पड़ता है। एक प्रकार से हम यह कह सकते हैं कि इन उपन्यासों में न सरल और सुबोध कथावस्तु है, न चरित्र का विकास है और न उपन्यास-कला का निर्देश। श्री किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासों में चरित्र-चित्रण तथा कथानक है किन्तु वे रोमाञ्चपूर्ण घटनाओं से समन्वित हैं और उन पर उस युग की ऐयारी की स्पष्ट छाप है। 'सहस्र रजनी-चरित्र' उपन्यास ने

भी हिन्दी-प्रेमियों की संख्या में अभिवृद्धि की। इस युग के उपन्यासों द्वारा जनता का मनोरञ्जन हुआ, जीवन का शैथिल्य कुछ कम हुआ किन्तु वह न मिल सका जिसके लिए सुप्त अनुभूतियाँ व्यग्र थीं। हाँ, जीवन के लिए एक आधार अवश्य उपलब्ध हो गया।

पहले ही कहा जा चुका है कि इस युग की जीवन धारा शान्ति और शिथिल गति से जैसे-तैसे प्रवाहित हो रही थी। इस युग के मानव के पास कार्य कम था समय अधिक। जीवन में पर्याप्त अवकाश और पर्याप्त साधन थे। जीवन की यान्त्रिकता से भेंट नहीं हुई थी अत: इस युग में ऐयारी और जासूसी उपन्यास अपनी मोहक एवं आकर्षक कथा-शृङ्खलाओं को लेकर कौतूहल-प्रिय पाठक पर मोहिनी मन्त्र डाल कर युग की सामाजिक गति की गाड़ी को अपनी रोचकता, मनमोहकता तथा स्निग्धता प्रदान करके अपनी सार्थकता को सिद्ध करके काल की क्रोड़ में लीन हो गये।

[साहित्य-सन्देश, जुलाई १९५०

———

हमारे उपन्यास साहित्य का विकास

[डा० गोपीनाथ तिवारी]

संस्कृत साहित्य में 'कादम्बरी' एक प्रसिद्ध उपाख्यान-पुस्तक है। इसे जी चाहे तो आत्मतुष्टि के लिए 'उपन्यास' कह लें किन्तु वास्तव में यह उपन्यास है नहीं। 'दशकुमार चरित' तो एक विस्तृत साधारण कथा मात्र है। उसकी अपेक्षा 'कादम्बरी' उपन्यास के अधिक निकट है। 'कादम्बरी' को छोड़ स्वयं संस्कृत में कादम्बरी जैसी दूसरी पुस्तक नहीं। अनेक प्रतिभाशाली साहित्य-निर्माताओं ने नाटक निर्माण पर हस्तकौशल दिखाया। किन्तु, दुख है, गद्य की अद्भुत प्रगति होने पर भी, अनेक गुणों से युक्त एवं सरस गद्य के लिखे जाने के बाद भी किसी ने 'उपन्यास' या उपन्यास जैसी वस्तु संस्कृत संसार को न दी। अतः हिन्दी में 'उपन्यास' का अवतार पूर्व प्रचलित संस्कृत परम्परा से नहीं हुआ। जैसे संस्कृत नाटकों से प्रेरणा पाकर हिन्दी में उनके आधार अथवा संकेत पर नाटक लिखे गये, वैसे ही उपन्यास के विषय में नहीं कहा जा सकता। 'कहा निचोरे नग्न जन स्नान सरोवर कीन'। जब स्वयं संस्कृत माँ का आँचल 'उपन्यास' से रिक्त था, तो वह हिन्दी सुपुत्री को कहाँ से दान करती? अतः जो संस्कृत साहित्य से हिन्दी उपन्यासों की परम्परा जोड़ते हैं, संस्कृत उपन्यास कादम्बरी के प्रांगण में हिन्दी उपन्यास के बिरवे को लगाते हैं, उनके इस साहस को महाब्राह्मण शब्द की तरह महासाहस ही कहना पड़ेगा।

वास्तव में हिन्दी उपन्यास का जन्म पश्चिमी गोद में हुआ। अँगरेजी के उपन्यासों तथा बंगला के उपन्यास-सहोदरों को देख हिन्दी में भी ऐसी वस्तु लाने की इच्छा हिन्दी प्रेमियों को हुई। पंडित रामचन्द्र शुक्ल किशोरीलाल गोस्वामी जी को हिन्दी का प्रथम उपन्यासकार स्वीकार करते हैं। उधर पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी 'कुछ' नामक पुस्तक में इस पद पर 'खत्रीजी' को आसीन करना चाहते हैं। दोनों के उपन्यास विकट समय ही में प्रकाशित हुए। किन्तु किशोरीलाल गोस्वामी जी का उपन्यास दो वर्ष पूर्व (१८८६ में) जनता के सामने आ गया। यहाँ एक प्रश्न स्वभावतः उठता है, कि भारतेन्दु

जी जिन्होंने हिन्दी की सर्वतोमुखी उन्नति में सहयोग दिया, हिन्दी माँ के चरणों में धन के साथ-साथ कविता, आलोचना, नाटक, निबन्ध, पत्र-पत्रिकाएँ दीं, उन्होंने उपन्यास से क्यों माँ को बञ्चित रक्खा ?

भारतेन्दुजी का ध्यान इस ओर भी था। भारतेन्दु जी ने अमृतसर निवासी सन्तोष को लिखा था 'जैसे भाषा में अब कुछ नाटक बन गये हैं, अब तक उपन्यास नहीं बने हैं। आप या हमारे पत्र के योग्य सम्पादक जैसे बा० काशीनाथ व गो० राधाचरण जी कोई भी उपन्यास लिखें तो उत्तम हो।' —भारतेन्दु-युग, पृष्ठ १३२

हिन्दी के उन्नायक भारतेन्दु बा० हरिश्चन्द्रजी ने स्वयं भी उपन्यास लिखने का प्रयत्न किया। किन्तु 'विधि गति वाम सदा सब काहू।' हिन्दी के भाग्य में यह सुख न था। उनका उपन्यास 'अपूर्ण' रह गया। या तो उन्होंने स्वयं प्रयत्न त्याग दिया अथवा काल ने छुड़ा दिया। भारतेन्दु युग में कुछ उपन्यास—परीक्षा गुरु (ले० श्रीनिवासदास), श्यामा स्वप्न (ले० ठा० जगमोहन-सिंह), आश्चर्य वृत्तान्त (ले० अम्बिकादत्त व्यास), सौ अज्ञान एक सुजान (ले० बालकृष्ण भट्ट), निःसहाय हिन्दू (ले० राधाकृष्ण) निर्मित हुए। किन्तु निस्सन्देह ये सब उपन्यास की साहित्यिक संज्ञा के योग्य नहीं। इनमें परीक्षागुरु अवश्य दूसरों से बढ़कर है। नहीं तो सभी उपदेश वृत्ति अथवा चमत्कार प्रदर्शन के लिए लिखे गये साधारण ग्रन्थ हैं।

पं० किशोरीलाल गोस्वामी ने छोटे-बड़े ६५ उपन्यास लिखे। पं० रामचन्द्र शुक्ल गोस्वामीजी के विषय में लिखते हैं 'साहित्य की दृष्टि से हिन्दी का पहिला उपन्यासकार।....और लोगों ने भी उपन्यास लिखा, पर वे वास्तव में उपन्यासकार न थे। और चीजें लिखते लिखते वे उपन्यास की ओर भी जा पड़ते थे। पर गोस्वामीजी वहीं घर करके बैठ गये। गोस्वामीजी के उपन्यास शृङ्गार-भावना से तरङ्गित हैं। पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों की नाईं वे भी जनता को 'इश्कबाजी' का गरमागरम मसाला देना चाहते थे। उनके उपन्यासों के शीर्षक ही प्रकट करते हैं कि बिहारी की भाँति कृष्ण को छोड़ राधिका उनके उद्देश्य-क्षेत्र में है। कुछ नाम ये हैं—

चपला या नव्यसमाज चित्र, तारा, रजिया बेगम, मल्लिका देवी वा बङ्ग सरोजिनी, लीलावती वा आदर्श सती, राजकुमारी, स्वर्गीय कुसुम वा कुसुमकुमारी, तरुण तपस्विनी वा कुटीर वासिनी, हृदयहारिणी वा आदर्श-रमणी, लवङ्गलता या आदर्श बाला, कनक कुसुम या मस्तानी, प्रेममयी, गुलबहार, इन्दुमती या वनविहागनी, लावण्यमयी, प्रणयिनी-परिणय, चन्द्रा

वती, वा कुलटा, कुतूहल, हीराबाई या बेहयाई का बुरका।

नामों को सार्थक करने वाली घटनाएँ ही नहीं, गोस्वामीजी ने अपने उपन्यासों के परिच्छेदों का नामकरण भी शृङ्गार-भावना के अनुकूल किया है। 'मदनमोहिनी' में परिच्छेदों के नाम इस प्रकार हैं—अंकुर, पल्लव, शाखा, पुष्प, सुरभि, पराग, फल, मधु, आस्वादन, परितृप्ति। काम-शास्त्र या कोक-शास्त्र के ज्ञाता इन नामों के अर्थ भी समझ जायेंगे। महाराणा अमरसिंह की पुत्री प्रातः स्मरणीया वीराग्रणी, प्रसिद्ध देश-भक्त प्रताप की पौत्री 'इश्क बाजी' के खेल खेलती फिरती है। वह हुस्न के बाजार में लुटती और लूटती फिरती है। एक स्थान पर कहती है—

"जनाब शाहजादा साहब ! अगर नाजनियाँ नाजो-नखरे या रुखाई जाहिर न करें तो फिर आशिकों के सच्चे इश्क का जौहर क्यों कर मालूम हो"

ठीक, नाजोनखरों से इश्क की परीक्षा की जाती है ! गो० जी के उपन्यासों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की भाँति पात्रों के अनुसार भाषा बदलती है। मुसलमान ही उर्दू नहीं बोलते; मुसलमानों से वार्त्तालाप करने वाले हिन्दू पात्र भी उर्दू का रंग चढ़ा कर हिन्दी बोलते हैं। प्रेमचन्द जी ने भी इस परम्परा को ग्रहण किया। इन उपन्यासों में चरित्र चित्रण का प्रयास नहीं। भारतेन्दु युग के समान इस उपन्यासकार ने भी भक्ति एवं रीतिकाल का सम्मिश्रण किया। शृङ्गार के साथ-साथ आदर्श या उपदेश का बहुत ध्यान रक्खा है। प्रत्येक उपन्यास में पर्वताकार उपादर्श अवश्य आ खड़ा होगा; उपदेश अवश्य दिया जाएगा। प्रेमचन्द जी ने भी आदर्श का ध्यान बराबर रक्खा है, किन्तु गुप्त रूप से यथार्थ की नींव पर आदर्श-अट्टालिका खड़ी की है जो चारों ओर प्रकाश की तीव्र किरणें अपने पास से फेंक रही है। जहाँ आदर्श गुप्त रूप से अपने आप चुपके से आ खड़ा हो, वहाँ कला की उत्तमता है। किन्तु जहाँ उपदेश देने की प्रवृत्ति मुँह बाए आ खड़ी हो, वहाँ कला का वास्तविक रूप न रहेगा। गो० जी ने आदर्श के सामने कोई पर्दा नहीं रक्खा।

इसी समय हिन्दी संसार में श्री देवकीनन्दन खत्री ने चन्द्रकांता ४ भाग एवं चन्द्रकांता संतति २४ भाग द्वारा युगांतकाल ला दिया। यह समय ही ऐसा था कि हिन्दी में उपन्यास के पाठक बनाने थे। खत्रीजी ने समयोचित चीज दी। न सही उसमें चरित्र विकास, न सही फड़कते वाक्य और सजीव वार्त्तालाप, न सही द्वन्द्वात्मक भावों का सङ्घर्ष; पर उनमें एक बात है, एक बड़ी विशेषता है। वह है कथानक की मनोरञ्जकता। बस हाथ में लेने की देर है कि

आप खाना-पीना, सोना-पढ़ना सब भूल जाएँगे। ऐसा शृङ्खलाबद्ध मनोरञ्जक तथा साथ ही इतना विशाल कथा क्षेत्र अन्य कोई भी उपन्यासकार नहीं दे सका है, हिन्दी ही में नहीं, अन्य आधुनिक सम्पन्न भाषाओं में भी। असंख्य अहिन्दी उपन्यास-प्रेमियों ने खत्री जी की 'चन्द्रकांता' एवं 'संतति' के आकर्षक पूर्ण अध्ययन के लिए हिन्दी सीखी। यदि प्रसिद्धि के विचार से किसी लेखक का स्थान निर्धारित किया जाय तो तुलसीदास के बाद सबसे अधिक पाठक खत्री जी के ही पाये जाएँगे। डा० श्रीकृष्णलाल के शब्दों में "चन्द्रकांता हिन्दी का प्रथम साहित्यिक उपन्यास है"। खत्री जी के भूल भुलय्या जैसे मस्तिष्क की प्रशंसा अवश्य ही करनी पड़ेगी। कहते हैं, उनका मस्तिष्क था भी ऐसा ही। रास्ता चलते एक स्थान पर बैठ कर आगे की कथा लिखकर सिर पर खड़े छापेखाने के नौकर को देदिया करते थे। चन्द्रकांता एवं संतति तिलिस्म और ऐय्यारी का उपन्यास है जो हमारे जीवन से दूर पृथ्वी के गर्भ में अथवा कल्पना की सीढ़ियों पर उतरता-चढ़ता चलता है।

इस तिलस्मी वातावरण का मानवीकरण कर गोपालराम जी गहमरी हमारे सामने आए। खत्रीजी के ऐयार यहाँ गुप्तचर बन गए जिनको 'जासूस' कहा गया है। तिलिस्मों का स्थान चक्करदार मकान या दूकानें ले लेती हैं। अन्यथा कौतूहल-वर्द्धक घटनाएँ यहाँ भी वैसी ही हैं, भूल-भुलय्या का वातावरण यहाँ भी है। यह बात अवश्य है, गहमरीजी, खत्री जी की अपेक्षा वास्तविक जीवन के अधिक निकट आ गए। 'लखलखा' सुँघाने वाला भूतनाथ हमारे संसार में नहीं, पर रहस्यमयी मृत्यु का पता लगाने वाला हाड़-माँस का पुतला जासूस—हमारे मध्य का है। इङ्गलैंड में फिलिप ओपेनहम, शरलाक, होम्स, एडगर वैलेस आदि कई प्रसिद्ध जासूसी उपन्यासकार हो गये हैं। वहाँ ब्लेक सिरीज, सिक्स पैंस सिरीज, फोर पैंस सिरीज जैसी कम मूल्य की जासूसी पुस्तकें धड़ाधड़ निकलीं। उसी प्रकार गहमरीजी हमारे हिन्दी के जासूसी उपन्यासकारों में श्रेष्ठतम हैं जिनका पत्र 'जासूस' एवं जिनकी रोमाञ्चकारी पुस्तकें खूब बिकीं। ये उपन्यास भी घटना प्रधान थे। चरित्र विकास की ओर इनमें भी ध्यान न था। जैसे गाँव में रात्रि को एक बूढ़ा आठ बजे से ११ बजे तक घुमावदार कहानी 'अनार रानी' या 'विक्रम का तख्त' सुनाता है, उससे अधिक परिष्कृत रूप में खत्रीजी तथा गहमरीजी के उपन्यास बने। किन्तु थे वे विस्तार प्राप्त आख्यान ही, गाँव की लम्बी कहानियाँ ही जैसे!

हिन्दू समाज पर तरस खाकर लज्जाराम मेहता ने कुछ उपन्यास लिखे। श्री मेहताजी सफल सम्पादक थे पर आपने उपन्यास क्षेत्र में भी टाँग अड़ाई।

कुछ बटोर-बटार के ऊँधे सूँधे बीज बोए। फल लगे—धूर्त-रसिक लाल, हिन्दू गृहस्थ, आदर्श दम्पति, बिगड़े का सुधार, आदर्श हिन्दू। पता नहीं इनके द्वारा मेहताजी हिन्दुओं का कितना सुधार कर सके, या किसे आदर्श हिन्दू बना सके, किन्तु उपन्यास साहित्य का न कुछ सुधार हुआ, न कोई उपन्यास का आदर्श ही खड़ा हुआ। वास्तव में मेहताजी में न उपन्यास लिखने की प्रतिभा थी, न शक्ति। बंगला उपन्यास तथा उस भाषा से अनूदित ग्रन्थों की चकाचौंध में आकर बा० व्रजनन्दन सहाय ने भी कुछ भाव प्रधान उपन्यास रचे। सौन्दर्योपासक, राधाकांत, राजेन्द्रमालती आदि उनके कुछ उपन्यास हैं। 'मुलम्मा', मुलम्मा है। उसी प्रकार अनुकरण कभी-कभी ही सफल हो पाता है। थोड़ी सी असावधानी से अनुकरण द्विगुण हानि पहुँचाता है। पश्चिम के अनुकरण के भ्रामक बवण्डर में पड़ बहुत से भारतीय अपना पथ भी भूल बैठे थे। व्रजनन्दनसहायजी के ये उपन्यास भी नितान्त असफल रहे। उपन्यास का प्रधान तत्त्व—मनोरञ्जक कथानक—इनमें दिखाई ही नहीं पड़ता। घटनाओं का बड़ा अभाव है। यहाँ तो एक सौन्दर्य प्रेमी का मन घबड़ाता, चिहुंकता, रोता, कलपता, टीस मारता, तड़पता फिरता है। मन की भावुकता का ही प्रदर्शन है। स्वयं लेखक भी इस बात को जानता था कि मेरे उपन्यास जनता को अच्छे न लगेंगे। सौन्दर्योपासक के उपसंहार में वह लिखता है कि "जनता का रञ्जन इससे अधिक न होगा।" फिर लिखा क्यों? उसी भावना से जैसे कई तुक्कड़ आज भी समझते हैं कि हमारी कविताएँ तुलसी से अधिक लोक मङ्गलकारी और सूर से अधिक लोकरञ्जक होंगीं।

इसके पश्चात् हमारे हिन्दी उपन्यास का स्वर्ण-युग आता है। इस भव्य एवं गौरवशाली युग का निर्माता है एक महान् व्यक्ति जिसकी टक्कर का उपन्यासकार अभी तक तो हिन्दी माँ की कोख से जनमा नहीं, जिसकी यश-भित्ति पर हमारा मान-मन्दिर बन रहा है, जिसके नाम पर हमें गर्व है, जिसके बल पर हमारा मस्तक ऊँचा है। वह है हमारा औपन्यासिक सम्राट स्व० प्रेमचन्द। जिनके विषय में जैनेन्द्रजी कहते हैं "प्रेमचन्दजी हिन्दी के सबसे बड़े लेखक हैं....मैं फिर भी प्रेमचन्दजी को हिन्दी का नहीं संसार का लेखक मानता हूँ"।

प्रेमचन्दजी ने पूर्ववर्ती उपन्यासकारों से कुछ लिया और परवर्ती औपन्यासिकों को कुछ दिया। बा० देवकीनन्दन के सदृश उन्होंने अपने उपन्यासों को विस्तार दिया। खत्रीजी तथा गहमरीजी की नाईं अपने उपन्यासों को घटना-प्रधान बनाकर मनारञ्जकता भी भरी। पारसी थियेटर नाटकों में दो कहानी समानान्तर चलती थीं, एक गम्भीर और एक हास्यरस की। प्रेमचन्दजी के

उपन्यासों में भी दो कथाएँ चलती हैं तथा पारसी थियेटर-नाटकों के समान इन दोनों कहानियों का सम्बन्ध बहुत क्षीण है। बँगला की सस्ती भावुकता से उन्होंने हिन्दी का पीछा अवश्य छुड़ाया, किन्तु चित्रों को कहीं-कहीं भावुकता अवश्य दी और सुन्दर बनाया। किशोरीलाल गोस्वामी के खुले शृङ्गार को तो नहीं अपनाया किन्तु प्रत्येक उपन्यास में प्रणय को अवश्य प्रमुखता दी। उनका प्रत्येक उपन्यास एक वा अधिक प्रणय गाथाओं से भरा है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने पात्रों में स्वाभाविकता लाने के लिए कई भाषाओं का प्रयोग किया। किशोरीलाल गोस्वामी तथा पारसी थियेटर नाटकों में हिन्दू मुसलमान की बोली में भिन्नता को प्रेमचन्दजी ने स्थिर रक्खा। उनके मुसलमान पात्र यह भाषा बोलते हैं—"जब से हुजूर तशरीफ ले गए, मैंने भी नौकरी को सलाम किया। जिन्दगी शिकम पर्वरी में गुजरी जाती थी। इरादा हुआ कुछ दिन कौम की खिदमत करूँ। इसी गरज से 'अंजुमन इत्तहाद' खोल रक्खी है।"

(प्रेमाश्रम)

उनका हिन्दू कहता है—भाई मैं प्रश्नों का कायल नहीं। मैं चाहता हूँ, हमारा जीवन हमारे सिद्धान्तों के अनुकूल हो। आप कृषकों के शुभेच्छु हैं।

उन्होंने परवर्ती उपन्यासकारों से जितना लिया उससे अधिक दिया। प्रेमचन्दजी का आदर्श सामने रख हिन्दी के सैकड़ों लेखक अच्छे उपन्यासकार बन गए। विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक तथा चतुरसेन शास्त्री ने उनकी वर्णन-पद्धति को ग्रहण किया। भगवतीचरण वर्मा ने उनके समान 'समस्याएँ' सामने रक्खीं, हाँ उनके सुलझाने के मार्ग में वे दूसरी ओर गए। सुदर्शनजी, अश्कजी आदि अनेक लेखकों ने उनकी भाषा को आदर्श मान लिया। हिन्दी में आदर्श पूरक उपन्यास अधिक मात्रा में आए, यहाँ प्रेमचन्दजी के प्रभाव ने भी बड़ा काम किया। अनेक नवयुवक उपन्यासों व कहानियों को पढ़ कर कुछ लिखने बैठ गए।

प्रेमचन्दजी की अपनी देन हिन्दी को बहुत बड़ी है। उन्होंने अपूर्ण 'मङ्गलसूत्र' सहित १२ उपन्यास दिये। १२ की संख्या खत्रीजी या गोस्वामीजी के सामने कुछ नहीं। मात्रा का मूल्य नहीं, मूल्य है उन उपन्यासों की गरिमा का। हिन्दी ही नहीं भारत के वे सबसे पहिले उपन्यासकार थे जिन्होंने नागरिक जनता का ध्यान ग्राम्यजीवन की कठिनाइयों की ओर आकर्षित किया। हिन्दी में प्रेमचन्दजी के समय तक धार्मिक तथा सामाजिक उपन्यास बन चुके थे। प्रेमचन्दजी पहिले लेखक थे जिन्होंने राजनीतिक उपन्यास इतनी प्रचुरता

से लिखे। उस समय तक कृषकों की दयनीय दशा का चित्रण न हुआ था। प्रेमचन्दजी ने अपनी सजीव तथा मनमोहक लेखनी से कृषकों की वाह्य तथा आन्तरिक दशा का पूर्ण चित्र उतारा; उनकी जीवन सम्बन्धी प्रायः सभी समस्याओं को सामने लाए; जमींदार, महाजन एवं राज्यकर्मचारी के असह्य अत्याचारों का ढिंढोरा पीटा; पण्डा पुजारी, उच्च वर्गीय गाँव के महापुरुष, सामाजिक भटमानी—सबों का पर्दाफास किया तथा ग्रामीणों की पारस्परिक, कौटुम्बिक, सामाजिक तथा धार्मिक त्रुटियों की ओर ध्यान खींचा। यही प्रेमचन्दजी की विशेषता है। इसके साथ हिन्दू समाज की सभी बुराइयों को भी लिया। दहेज, विधवा विवाह, मूर्ति पूजा, ऊँच-नीच का भेदभाव, अनमेल विवाह, अन्ध विश्वास, परम्परा मोह, कौटुम्बिक कलह, अशिक्षा, आधुनिक शिक्षा, खान-पान में छूत, विप्र-भय, ज्योतिष इत्यादि असंख्य समस्याएँ वे सामने लाए हैं। आज की महाजनी सभ्यता को भी भूले नहीं हैं जिसकी नींव है 'यन्त्रीकरण'। गाँव के किसान मजदूर जन किस प्रकार इस यन्त्रीकरण से नष्ट-भ्रष्ट कर दिए जाते हैं, यह रङ्गभूमि में अच्छी प्रकार प्रदर्शित किया।

प्रेमचन्दजी से पूर्व के उपन्यासों में 'नाटकत्व' की मात्रा बहुत ही कम थी। प्रेमचन्दजी ने इस पर विशेष ध्यान दिया। उनके पात्र मनोवैज्ञानिक हैं और हैं हमारे संसार के। प्रेमचन्द जब स्वयं लिखते हैं—"मैं उपन्यास को मानव जीवन का चित्र मात्र समझता हूँ", तब उनसे यही आशा थी कि वे यथार्थ जीवन—हमारे वास्तविक जीवन की पूर्ण झाँकियाँ दिखाएँगे। सौभाग्य से हुआ भी ऐसा ही। प्रेमचन्दजी ने अपने उपन्यासों का विस्तृत, गौरावान्वित एवं आकर्षक भवन यथार्थ की भित्ति पर खड़ा किया। किन्तु यह नग्न यथार्थ न था। कोरा यथार्थ हमारे जीवन के लिए हितकारी नहीं। "अमङ्गल यथार्थ अग्राह्य है, मङ्गलमय यथार्थ संग्रहणीय है यदि वह अपवाद रूप भी हो" यह प्रेमचन्दजी का दृढ़ सिद्धान्त था। अतः उन्होंने यथार्थवाद में आदर्शवाद का मिश्रण कर उसे मङ्गलमय बना दिया। उनका यथार्थवाद अन्त में एक गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाता है जहाँ परम पावन, मङ्गलकारी, सुख शान्ति दाता 'आदर्श' देव बैठा है! यही है प्रेमचन्दजी का आदर्शोन्मुख यथार्थवाद। गोदान जैसे यथार्थवादी उपन्यास में भी यह आदर्शवाद का ऋषि समाज की मङ्गल कामना से आ छिप बैठा है। अनेक समालोचकों ने प्रेमचन्दजी की आदर्शवादिता पर आक्षेप किए हैं। कोई उन्हें उपदेशक बताता है तो कोई प्रचारक कह कर उनके ऊपर कीचड़ उछालता है! कोई आदर्श-भावना पर कठोर आघात करता है, तो कोई उन्हें 'भूतकाल वासी' कह कर खिल्ली

उड़ाता है। इन समालोचकों के मत में यदि प्रेमचन्दजी में आदर्श-स्थापन की हठ न होती तो बहुत उत्तम होता। श्री लक्ष्मीसहाय सिनहा (सा० सन्देश जुलाई ४८) में प्रेमचन्द के आदर्शवाद पर कुठाराघात करते हुए कहते हैं—"प्रेमचन्द की यथार्थवादिता उनके आदर्शवाद का पोषक बनकर उनकी कला को सजीवता देने में समर्थ रही, इसमें बहुत सन्देह है। किन्तु यदि प्रेमचन्द से आदर्शवादिता निकाल दीजिए, प्रेमचन्द न रहेंगे जिस प्रकार तुलसी में से भक्ति और सामाजिक धर्म निकाल देने से कुछ नहीं बचता। प्रेमचन्द की यथार्थवादिता के पीछे छिपी आदर्शवादिता ने ही उन्हें एक विशेष स्थान दिया, जिस प्रकार टालस्टाय को मिला। प्रेमचन्द रवीन्द्र तथा टालस्टाय की श्रेणी के लेखक हैं, शरत् तथा डिकेंस की कोटि में प्रवेश नहीं करते। यही भारतीयता है और यही है प्रेमचन्दवादिता। प्रेमचन्द ने हिन्दी का मस्तक उन्नत किया। संसार के श्रेष्ठ उपन्यासकारों में उनका स्थान है और हिन्दी के साथ वह ऊँचा ही होता जाएगा।"

प्रेमचन्द के पश्चात् हिन्दी उपन्यास-कहानियों की बाढ़ सी आगई। आज सबसे अधिक लेखनी की गति उपन्यास कलेवर पर वेगवान है। उपन्यासकार बरसाती कृषि के समान बढ़ गए हैं। यह बड़ा शुभ लक्षण है। आज का हिन्दी साहित्यिक उपन्यास लेखक बनने का लोभ संवरण करने में कठिनाता है। प्रसाद ने उपन्यास लिखे। कवि तथा नाटककार भट्टजी ने भी एक उपन्यास लिखा है। कविवर मोहनलाल महतो वियोगी इस दिशा में कई पुस्तक लिख चुके हैं। नाटककार गोविन्दबल्लभ 'पन्त' ने उपन्यासों द्वारा माँ की सेवा की है। इलाचन्द्र जोशी, सुमित्राकुमारी सिनहा, निरालाजी, भगवतीचरण वर्मा सियारामशरण गुप्त आदि अनेक कवि हैं जो उपन्यास क्षेत्र में भी पग बढ़ा रहे हैं। इससे उपन्यास प्रियता का अनुमान हो सकता है।

पर प्रश्न है, आधुनिक युग में उपन्यास-साहित्य का मूल्य क्या है? उपन्यास प्रगति पथ पर अग्रसर है या नहीं? क्या प्रेमचन्दजी का स्थान रिक्त ही रहेगा? हमारा उपन्यास-साहित्य प्रगति पथ पर है, इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं। प्रेमचन्दजी के स्थाव की पूर्ति करने वाला उपन्यासकार अभी तक तो नहीं दिखाई दिया किन्तु भविष्य उज्ज्वल है। आज अनेक उपन्यासकार आगे बढ़ रहे हैं। आज के उपन्यास-युग का सार्थक नाम 'वर्मा युग' है। वर्मा बन्धु आज के उपन्यास संसार में सबसे अलग खड़े दीप्ति बिखेर रहे हैं। वे हैं 'वृन्दावनलाल वर्मा' तथा 'भगवतीचरण वर्मा'। वृन्दावलाल वर्मा में चित्रण शक्ति बड़ी प्रबल है। उन्होंने ऐतिहासिक रोमाञ्च लिखे हैं। उनके 'गढ़-कुण्डार'

पर पुरस्कार मिल चुका है। उनके ऐतिहासिक रोमाञ्च हिन्दी की एक बड़ी कमी को पूरा कर रहे हैं। इनके उपन्यास बड़े लोकप्रिय हुए हैं। प्रेमचन्द की-सी उच्च वर्णन शक्ति, रोचक कथानक एवं उत्तम चरित्र-चित्रण के साथ कहीं भाषा की प्रवाहमय प्रबल शक्ति भी साथ होती तो सोने में सुहागा मिल जाता। भगवतीचरण वर्मा ने दूसरा क्षेत्र ग्रहण किया है। ये समस्यामूलक उपन्यास लिख रहे हैं। जीवन की सार्व-भौम सामाजिक (पाप-पुण्य) तथा राजनैतिक (गांधीवाद, समाजवाद, साम्यवाद) समस्याओं की अपने ढङ्ग से व्याख्या कर चुप हो जाते हैं। हमें आशा है कि शैली की अधिक प्रौढ़ता तथा विचारों की अधिक स्पष्टता के साथ लेखक की तीन वर्ष की भूमिका में की गई आशा ("संसार के सर्व-श्रेष्ठ उपन्यासकारों में गणना") पूरी होगी।

शैली की दृष्टि से 'उग्रजी' ने हिन्दी जगत में भूकम्प ला दिया था। यदि उग्रजी अँग्रेजी के 'रेनाल्ड' का अनुगमन कर समाज के अश्लील भाग पर दृष्टि न डालकर, 'महात्मा ईसा' तथा 'चिनगारियों' की क्यारियाँ सजा पाते तो आज सम्भवत: वे हिन्दी के श्रेष्ठतम उपन्यासकारों में स्थान पागए होते। इसी प्रकार श्री चतुरसेनजी शास्त्री ने सुन्दर भाषा में सरल प्रभाव से गतिवान मनोरञ्जक उपन्यास दिए। यदि अधिक संयत हो शास्त्रीजी चारित्रिक विशेषताओं को पनपा देते तो बड़ा उपकार होता। जैनेन्द्रजी अपनी अलग सत्ता रख कर उपन्यास-पाठकों को एक विशेष वस्तु दे रहे हैं। उनके उपन्यासों में कथानक की छटा नहीं। वे 'विश्लेषणात्मक' उपन्यासकार हैं। मानवी प्रवृत्ति के विश्लेषण पर उनका ध्यान रहता है। प्रेमचन्दजी ने भी जैनेन्द्रजी की इस नूतनता का आदर किया था। हिन्दी उपन्यास के एक अङ्ग की पूर्ति जैनेन्द्रजी उद्योग के साथ कर रहे हैं। इसी प्रकार अन्य अनेक उपन्यासकार आज हिन्दी माँ का आँचल अपने-अपने दृष्टिकोण से भर रहे हैं। उनमें कई उच्चस्थान पर आ बिराजे हैं। रांगेयराघव, राहुल सांकृत्यायन, राधिकारमणप्रसादसिंह, सर्वदानन्द वर्मा, यशपाल, अज्ञेयजी आदि अनेक लेखक हमारी भविष्य की आशाओं का प्रदीप बन रहे हैं। [नवम्बर १९४८

———

उपन्यास तथा अन्य विधाएँ

[डा० रामगोपाल शर्मा 'दिनेश']

उपन्यास क्या है ?—सृष्टि के आरम्भ से अब तक जीवन सङ्घर्ष के कुतूहलों में मानव मन रमता रहा है। मन की यह रमण वृत्ति न कभी तृप्त हुई है और न हो सकती है। भावना का विकास इसी के साथ-साथ कल्पना की भूमिका बनकर हुआ है, जिसकी अभिव्यक्ति के लिए भाषा प्रादुर्भूत हुई है। जीवन की विविध दिशाओं में उतर कर अभिव्यञ्जना ने मनोरञ्जन तथा रसोद्रेक के अनेक पथ निर्मित किये हैं। साधारण एवं विशेष—दोनों कोटि के मनुष्य उन पथों पर चलने में आनन्द एवं उत्साह का अनुभव करते रहे हैं।

रस की गोद में झूमते रहने की इच्छा से ही मन ने आदि काल से मानव को कथा-साहित्य की सृष्टि करने की प्रेरणा प्रदान की है। मनुष्य जो कुछ देखता है, सुनता एवं अनुभव करता है, उसे अभिव्यक्त किये बिना उसका कुतूहल शान्त नहीं हो सकता। साथ ही, वह अपनी बीती कह लेने के बाद 'पर-बीती' भी सुनना चाहता है। कहने सुनने के इस विनिमय ने कल्पना की सहायता पाकर 'गढ़ने' की ओर मनुष्य को बढ़ाया। अर्थात् अपनी बात कह लेने के पश्चात् अब मनुष्य के पास यथार्थ सामग्री नहीं रही, तब उसने अन्य की बात 'कहने-सुनने' की इच्छा प्रकट की। इस कार्य में कल्पना-शक्ति एवं 'गढ़ने' की प्रवृत्ति ने उसे सहयोग दिया। परिणाम स्वरूप मनुष्य अपने तथा दूसरे के जीवन के घटना-चक्रों से अन्य के घटना-चक्रों का अनुमान लगाने लगा। और इस प्रकार कथा-साहित्य 'जो कुछ हो सकता है' के सत्य को लेकर मनुष्य का मनोरञ्जन तथा विवेक-वर्धन करने लगा। पुराण, इतिहास एवं कल्पना-जगत से मनुष्य की इस वृत्ति ने ऐसे सजीव-सम्पूर्ण चित्र गढ़ने प्रारम्भ किए, जो साहित्य की सीमा में आकर 'उपन्यास' नाम से अभिहित हुए।

संसार की प्रत्येक भाषा 'उपन्यास-साहित्य' से अनुप्राणित है। मनुष्य का जीवन एक नाटक कहा जाता है, परन्तु वास्तव में वह एक उपन्यास है। जीवन का सर्वाङ्गीण चित्र उपन्यास की परिधि में ही चतुर्मुखी विभिन्न रेखाओं से उतारा जा सकता है। कविता, नाटक आदि साहित्य की विभिन्न शैलियाँ हैं, जिनके साथ उपन्यास की कथा-सम्बन्धी विशेषता सदा नहीं तो अधिक

समय तो रहती है इसीलिये उपन्यास को जीवन की लम्बी यात्रा का चित्र भी कहा जा सकता है। प्राचीन काल में भावना, एक घटना या जीवन का एक चित्र यदि 'कहानी' बनकर अशिक्षित 'नारी' के शिशु का मनोरञ्जन करता था, तो आज बीसवीं शताब्दी में अनेक भावनाएँ, अनेक घटनाएँ तथा जीवन के अनेक चित्र लेकर उपन्यास, पढ़े-लिखे नर-नारियों का मन बहलाने का प्रधान साधन बना हुआ है।

दूसरे शब्दों में 'उपन्यास कथा-साहित्य का चरम विकास है। वह 'जो हो चुका है' को उलट पुलट कर कल्पना का पुट देकर सजीव करता है तथा 'जो हो सकता है' को कल्पना की टकसाल में गढ़कर मूल्यवान बनाता है। वह पाठक के मन में 'आगे क्या होता है' की उत्कण्ठा उत्पन्न कर जीवन की एक लम्बी कहानी कहता है। यथार्थ में उपन्यास गद्य-साहित्य की एक शैली है, जो कथा की जिज्ञासा को लेकर चलती है।

यहाँ हम साहित्य के अन्य अङ्गों पर संक्षेप में विचार करते हुए उसके 'उपन्यास' नामक अङ्ग पर विचार करना आवश्यक समझते हैं।

साहित्य जीवन की भावमयी व्याख्या है। यह व्याख्या निम्नाङ्कित शैलियों में सुविधानुसार व्यक्त हुआ करती है—

(१) कविता या काव्य, (२) एकाङ्की नाटक, (३) नाटक, (४) कहानी, (५) निबन्ध, (६) संस्मरण और जीवनी, (७) उपन्यास आदि।

उपन्यास कथा पद्य-साहित्य—हम पहले कह आये हैं कि उपन्यास कथा-साहित्य की प्रधान गद्य-शैली है। पद्य-शैली में प्रायः कविता एवं महाकाव्य लिखे जाते हैं। इसलिए उपन्यास पद्य से दूर की वस्तु है। वास्तव में पद्य का जन्म मन को रमाने के लिए हुआ है। कुतूहल का जन्म बनकर भविष्य की कहानी को शीघ्र अनावरण करने के लिए नहीं।

उपन्यास-साहित्य पद्य-साहित्य से एक भिन्न वस्तु है। उपन्यास का पाठक किसी भाव की गहराई में उतरने का इच्छुक नहीं होता। पद्य-साहित्य ठीक इसके विपरीत आचरण करता है।

कविता एवं महाकाव्य पद्य-साहित्य की सीमा में ही आते हैं। अतः पद्य-साहित्य का प्रधान उद्देश्य होता है पाठक को किसी भाव में रमाना एवं उपन्यास का उद्देश्य होता है पाठक के सम्मुख घटना-चमत्कार के आकर्षण का प्रादुर्भाव करके आगे की कथा जानने के लिए तीव्र इच्छा उत्पन्न करना। इसलिए उपन्यास का उपयोग सबके लिए सुलभ हो जाता है। पद्य में कथा चल सकती है, परन्तु उससे एक उपन्यास की सृष्टि नहीं हो सकती। उपन्यास के

लिये तो गद्य की वही शैली अधिक उपयुक्त रहती है, जो पाठक को कुतूहल में डालती है।

काव्य या महाकाव्य में भी कथा चलती है, परन्तु वह कथा उपन्यास की कथा से भिन्न होती है। काव्य में चरित्र का जैसा भावात्मक विकास हो सकता है, उपन्यास में कथा कहते-कहते कहीं अधिक विकास हो सकता है।

उपन्यास का पाठक सदा यह सोचता है कि 'आगे क्या हुआ', परन्तु कविता के पाठक का मन 'फिर पढ़ें' की मनोवृत्ति को साथ ले चलता है। इसका प्रधान कारण भाव और कथा की सीमा का अन्तर है। कविता भाव-प्रधान होती है, परन्तु उपन्यास में भाव गौण रहता है। प्रबन्ध को साथ ले कर चलने वाले काव्य, जो महाकाव्य या खण्डकाव्य कहलाते हैं, उपन्यास से केवल पद्य एवं गद्य की शैली का ही अन्तर रखते हैं। यदि महाकाव्य पद्यात्मक उपन्यास है, तो उपन्यास गद्यात्मक महाकाव्य।

महाकाव्य की ही भाँति उपन्यास का भी सर्गों या परिच्छेदों में विभाजन होता है, परन्तु महाकाव्य के सर्ग प्रधान-कथा को मुख्य मानकर चलते हैं और उपन्यास के परिच्छेदों में भिन्न-भिन्न कथाएँ पहाड़ी धाराओं की भाँति फूटती जान पड़ती हैं। महाकाव्य का विषय इतिहास या पुराण-प्रसिद्ध होता है, परन्तु उपन्यास का विषय कल्पना की टकसाल में ही अधिकांशतः गढ़ा जाता है।

उपन्यास तथा अन्य गद्य कहानियाँ—उपन्यास के अतिरिक्त नाटक, कहानी, निबन्ध, समालोचना, जीवनी, भेंट, संस्मरण आदि गद्य की अन्य सुन्दर शैलियाँ भी हैं। उपन्यास इन सबसे भिन्न अपनी विशेषताएँ रखता है।

नाटक गद्य की वह शैली है, जो अपने रमणीयता गुण के कारण दृश्य-काव्य भी कहलाती है। रङ्गमञ्च पर अभिनय द्वारा किसी भी कथा को संवाद की शैली में दृश्यों एवं अङ्कों में विभाजित कर नाटक में प्रस्तुत किया जाता है। नाटककार उपन्यासकार की भाँति अपने पात्रों के विषय में मनमानी बात कहने की छूट नहीं पाता। वह अपने पात्रों के पीछे बैठकर ही कुछ कहने का अधिकार रखता है। वह भी बड़े संयत रूप से। वे सब घटनाएँ जो पाठक का कौतूहल बढ़ाती हैं या कथा का तारतम्य मिलाये चलती हैं, नाटक में उपन्यास की भाँति नहीं दिखाई जा सकतीं। पाठक को स्वयं आगे-पीछे के दृश्य देखकर उनकी कड़ी मिलानी पड़ती है।

नाटक के तत्त्व प्रायः उपन्यास के तत्त्वों से मिलते हैं, तथापि नाटक का विस्तार उतना नहीं हो सकता, जितना उपन्यास का हो सकता है। रङ्ग-

मञ्च के नियम नाटक की गति पर नियन्त्रण रखते हैं, परन्तु उपन्यास पर इस प्रकार का कोई नियन्त्रण नहीं रहता। नाटक को पढ़कर भी आनन्द प्राप्त किया जा सकता है तथा रङ्गमञ्च पर देखकर भी रसास्वादन किया जा सकता है, परन्तु उपन्यासकार को इतनी सुविधा नहीं। वह अपनी कलम से वर्णनों के द्वारा ही इस कमी की पूर्ति करता है।

चरित्र-चित्रण के विकास का जितना अवसर उपन्यास में रहता है, उतना नाटक में नहीं रहता। उपन्यासकार तो आवश्यकतानुसार स्वयं भी अपने किसी पात्र के विषय में बहुत कुछ कह डालने को बैठ जाता है, परन्तु नाटककार यह नहीं कर सकता। नई घटनाओं का अवतरण भी चरित्र-विकास के लिए उपन्यासकार की भाँति नाटककार नहीं कर सकता।

नाटक में कथोपकथनों का जो सौन्दर्य होता है, वह उपन्यास में नहीं हो सकता। इसीलिये नाटक की भाषा कुछ संयत होती है। नाटक में उपन्यास की अपेक्षा उद्देश्य की ओर क्रमशः बढ़ने का भी विशेष ध्यान रखना पड़ता है।

कहानी और उपन्यास का परिवार एक ही है। कहानी जीवन का कोई चित्र उपस्थित कर पाठक का क्षणिक कुतूहल-वर्धन करती है, जबकि उपन्यास का उद्देश्य जीवन की पूर्ण व्याख्या करना होता है। कहानी एक बैठक में पढ़ी जा सकती है, कम पात्र आते हैं तथा एक ही छोटी घटना होती है। इसलिए उपन्यास की अपेक्षा उसकी लोकप्रियता अधिक बढ़ गई है। कहानी में विषय को मनमाने ढङ्ग से बढ़ाने की छूट नहीं दी जा सकती। वह तो विषय-सङ्कोच के कारण बहुत संयत तथा गठी हुई होती है। यदि कहानी एक किरण है, तो उपन्यास सूर्य है। उपन्यास की भाँति कहानी में मुख्य तथा प्रासङ्गिक दो कथाएँ नहीं होतीं तथा पात्रों की संख्या इतनी अधिक नहीं होती कि हम उन्हें मुख्य पात्र तथा गौण पात्रों की कोटियों में बाँट सके। रस-निष्पत्ति के लिए जितना विशाल क्षेत्र उपन्यास में मिलता है, उतना कहानी में कहाँ मिल सकता है।

निबन्ध और समालोचना गद्य की अन्य ऐसी शैलियाँ हैं, जिनमें विचार या भाव प्रधान होते हैं, घटना-चमत्कार नहीं होता। उपन्यास का परिवार उनसे भिन्न है।

जीवनी भी गद्य की उपन्यास से मिलती-जुलती एक शैली है, परन्तु दोनों में अन्तर बहुत है। जीवनी में भावुकता से काम लिया जा सकता है, लेकिन कहानी या उपन्यास की भाँति कल्पना अपने पङ्ख फैलाकर इस क्षेत्र में नहीं उड़ सकती।

संस्मरण में कहानी के ढङ्ग पर कथा अवश्य चलती है, परन्तु कल्पना-मिश्रित घटना-चमत्कार कहानी या उपन्यास की भाँति उसमें नहीं होता। कल्पना के सहारे जीवन के कुछ सही अनुभव उसमें उतारे जाते हैं।

'भेंट' भी गद्य की ही एक शैली है, परन्तु उपन्यास से वह बिल्कुल भिन्न है। इस शैली में विचार-विमर्श तथा संवाद की प्रधानता रहती है, घटना चमत्कार नहीं होता।

सारांश यह कि गद्य की अनेक शैलियों में उपन्यास ही प्रधान है। उपन्यास में घटना के सहारे कुतूहल, विचार, भाव आदि सबको लेकर जीवन की व्याख्या की जा सकती है। जीवन के अनेक मधुर और कटु अनुभव सम्पूर्णता के साथ उपन्यास में उतारे जा सकते हैं, अन्य किसी गद्य-शैली के द्वारा यह कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता।

उपन्यास का महत्व—उपन्यास का इसीलिए साहित्य में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। लोक-रुचि जितनी उपन्यास के साथ है, उतनी किसी अन्य गद्य-शैली के साथ नहीं। इतिहास से लेकर दर्शन जैसे गम्भीर विषय तक को उपन्यास के घटना-चमत्कार के साथ मिश्रित करके सरस एवं प्रभावपूर्ण बनाया जा सकता है। जीवन का जितना सुन्दर सर्वाङ्गीण चित्र उपन्यास उतार सकता है, उतना गद्य की कोई अन्य शैली नहीं। अतः उपन्यास का जीवन और साहित्य में अत्यधिक महत्त्व है।

अवकाश के क्षणों में पाठक के कुतूहल को जीवित रखकर मनोदशा में क्रान्तिकारी परिवर्तन करने की क्षमता उपन्यास में ही है। हम निबन्ध या समालोचना द्वारा किसी के मन में जो भावना या विचार नहीं बिठा सकते, वे उपन्यास की कथा-प्रधान शैली में बड़ी सरलता से बिठाए जा सकते हैं।

संसार में विचार-क्रान्ति लाने का जितना काम आज उपन्यास-साहित्य कर रहा है तथा भविष्य में कर सकेगा उतना कोई अन्य साहित्य नहीं कर सकता।

[साहित्य-सन्देश, मार्च १९५९

———

कहानी और उपन्यास

[आचार्य श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी]

उपन्यास और कहानी का चोली-दामन का सम्बन्ध है। इसलिए इसे उसकी पुत्री भी कह सकते हैं। कहानी उपन्यास के रूप में आरम्भ हुई थी। उपन्यास और कहानी अर्थात् कथा-साहित्य आज का सर्वाधिक लोकप्रिय साहित्याङ्ग हैं। यह समूचा साहित्याङ्ग विशुद्ध आधुनिकता की उपज है और अपने विश्वास क्रम में अनेक प्रकार साहित्यिक रूपों को आत्मसात् कर चुका है। वस्तुत: जब एक यूरोपियन आलोचक ने कहा था कि उपन्यास के पेट में आधुनिक माने जाने वाले सभी साहित्य रूप आ जाते हैं तो वह कुछ इस बात की ओर इशारा कर रहा था कि आज की साहित्यिक दुनिया में परिचित जितने भी नये साहित्य रूप हैं—निबन्ध, साहित्यिक पत्र, संस्मरण और इतिहास, धार्मिक प्रवचन, क्रान्तिकारी मेनिफेस्टो, यात्रा विवरण, रेखाचित्र, डायरी, आत्मकथा आदि—उन सबको इसने अपनाया है। और मजेदार बात यह है कि सबको आत्मसात् करने के बाद भी वह सब से भिन्न है। कहानी तो उपन्यास से सीधे उत्पन्न हुई ही है इसीलिए उसके अनेक गुणों को विरासत में पा सकी है।

ध्यान देने की बात यह है कि पुराने महाकाव्यों और नाटकों को सदा जनसमूह के सामने आना पड़ा है, एक पढ़ा जाता रहा है, दूसरा खेला जाता रहा है। दोनों में ही ऐसी अनेक प्रकार की साहित्यिक रूढ़ियों का आश्रय लेना पड़ा है जो जनता को दृष्टि में रख कर निश्चित किए गये हैं। केवल लेखक की इच्छा और रुचि के द्वारा उनका बदला जाना सम्भव नहीं था। परन्तु उपन्यास को ऐसी किसी रूढ़ि से बँधना नहीं पड़ा। यह पाठक और लेखक के बीच एक प्रकार के प्राईवेट और अनौपचारिक सम्बन्ध पर आधारित है। इसीलिये इसके रचना कौशल में एक विशेष प्रकार का लचीलापन है, जो अवसर के अनुकूल रूप ग्रहण कर लेता है। यही कारण है कि उपन्यास (और कहानियाँ भी) लेखक की अनुभूतियों को पाठक के चित्त में अधिक विश्वास के साथ पहुँचाने की सम्भावना लिए रहता है। उपन्यास आधुनिक युग के बहुत ही शक्तिशाली यन्त्र—छापे की मशीन—के आविर्भाव के बाद पैदा हुआ है और

पुराने महाकाव्यों और नाटकों से, जन्म के साथ ही, भिन्न कोटि का साहित्याङ्ग बन गया है।

मैंने ऊपर संकेत किया है कि आधुनिक छोटी कहानियाँ उपन्यास की प्रत्यक्ष सन्तति हैं। वे उपन्यास की सभी विशेषताओं को लेकर उत्पन्न हुई हैं फिर भी वे उपन्यास से भिन्न और विशिष्ट स्थान पर अधिकार कर सकी हैं। फिर एक बात और है—चूँकि वे दोनों ही साहित्य रूप पाठक और लेखक के बीच एक प्रकार के अनौपचारिक ढङ्ग के आपसी सम्बन्ध पर आधारित हैं इसीलिए लेखक कहानी और उपन्यास के माध्यम से पाठक के चित्त में जिन अनुभूतियों को प्रविष्ट कराना चाहता है उन्हीं पर आलोचक का ध्यान प्रधान-रूप से केन्द्रित हो जाता है। लेखक के कहने का ढङ्ग और शिल्प-कौशल आलोचक के लिए गौण बन जाता है। शायद ही कोई दूसरा साहित्याङ्ग हो जिसमें कहने का ढङ्ग और कारीगरी इस प्रकार गौण मान ली जाती हो। इसका वक्तव्य-वस्तु अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है और साहित्य-रूप कम। मामूली सी आलोचनात्मक दृष्टि रखने वाला पाठक अधिकतर उपन्यास या कहानी में पढ़े हुये भावावेगों, घटनाओं और शक्तिशाली चरित्रों के साथ अपनी आत्मीयता अनुभव करने में ही अधिक उलझ जाता है। वस्तु-संघटन, कारीगरी और शैली आदि की ओर उसका ध्यान ही नहीं जा पाता। कभी-कभी बड़े और समझदार समझे जाने वाले आलोचक भी उपन्यासों की इसी प्रकार आलोचना करते हैं मानों वे कोई नियम-बद्ध रचना ही न हो, बल्कि यों ही अकृष्ट भूमि में उत्पन्न हुए झाड़-झंखाड़ की तरह विना किसी योजना के ही, धरती फोड़ कर उग आये हों। ऐसी आलोचना इस साहित्याङ्ग को बहुत गलत ढङ्ग से उपस्थित करती हैं। वे मानों चिल्ला कर कहती कि उपन्यास और कहानियों का यह लोक-प्रिय साहित्य किसी शिल्प-विधान के नियम से नियन्त्रित नहीं है। उसमें रचयिता की शिल्प-चातुरी का कोई स्थान ही नहीं। लेकिन यह बात बिलकुल गलत है। यदि उपन्यास में कोई शिल्प-चातुरी न होती तो वह इतने दिनों से इतने प्रकार के वक्तव्य-विषय और वक्तव्य-पद्धतियों को इतनी सफलता के साथ आत्मसात् न कर सकता। उपन्यास और कहानियों के गठन में ही निस्सन्देह ऐसी कोई शिल्प-चातुरी है जो तरलधर्मा और परिस्थिति के अनुकूल बनने की क्षमता से सम्पन्न है। अपने आरम्भ काल से लेकर उपन्यास समय की गति के साथ ताल मिला कर चलता आया है और सामाजिक सम्बन्धों की जटिलता के साथ सामञ्जस्य भी स्थापित करता आया है। इसीलिए यह शिल्प-चातुरी बड़े ही महत्व की चीज है। क्योंकि इसमें अन्यान्य साहित्याङ्गों

के समान कठोर सीमा का बन्धन नहीं है और मनुष्य की निरन्तर बढ़ती हुई जय-यात्रा के साथ ताल मिला कर चलने की अद्भुत क्षमता है। विचारणीय यह है कि यह शिल्प क्या है? यह तो निश्चित ही है कि उपन्यास और कहानी का साहित्य विशुद्ध आधुनिक युग की उपज है और संस्कृत में लिखे जाने वाले कथा, आख्यायिका और चम्पू श्रेणी के साथ इसका दूर का सम्बन्ध होते हुए भी उनसे भिन्न है। वह आधुनिक युग के वैयक्तिकतावदी विचारधारा को आश्रय करके आगे बढ़ा था और आज भी इसके लोक-प्रिय बने रहने में वैयक्तिक मत का बड़ा जबर्दस्त हाथ है। जिस लेखक का अपना निजी वैयक्तिक मत नहीं होता वह सफल कथाकार नहीं हो सकता। वैयक्तिक मत अवश्य चाहिये और चाहिए दृढ़ता—चट्टान की सी दृढ़ता। और सही बात तो यह है कि आज की कल्पित कही जाने वाली कहानियों और उपन्यासों की कथायें वस्तुत: समाज की कल्पिल मान्यताओं का तिरस्कार करती रहती हैं। इसका मतलब यह हुआ कि आधुनिक युग का उपन्यास साहित्य सच्चाई का अनुगमन करता है और यद्यपि उसमें कल्पित घटनाओं का संविवेश किया जाता है तथापि बह झूठी मान्यताओं का विरन्तर विरोध करता रहता है। यह वस्तुत: पुरानी कथा आख्यायिकाओं के कल्पना-लोक से नीचे उतर कर वास्तविकता की कठोर भूमि पर आने का प्रयास है। इस प्रकार नया कथा साहित्य निरन्तर यथार्थ की ओर उन्मुख बना रहता है। इसकी निरन्तर ताजगी का अर्थ यही है कि बह कला-लोक से हटकर वास्तविकता की दुनिया में पहुँचता रहता है और पुरानी सड़ी-गली मान्यताओं का प्रत्याख्यान करता है। वह रूढ़िबद्ध कल्पित मान्यताओं के स्थान पर जमाने की गति से शोधित सच्ची मान्यताओं को प्रतिष्ठित करता है। और यह तो आप मानेंगे ही कि यह कोई नई बात नहीं है। निरन्तर भागते हुए भावों के साथ ताल मिलाकर चलना कठिन साधना है। उपन्यास और कहानियों की दुनिया में यह साधना निरन्तर चल रही है।

इस दृष्टि से देखिए तो साहित्य में यथार्थवाद वह धारावाहिक प्रयत्न है जो साहित्यिक शिल्प-विधान और जीवन की बदलती हुई परिस्थितियों के बीच सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न करता है। अन्यान्य साहित्याङ्गों की अपेक्षा उपन्यास और कहानियों का साहित्य इस सामञ्जस्य विधान का शायद सर्वोत्तम वाहन है। वह एक विचित्र तथ्य है कि उगते हुए प्रतिभाशाली कथाकार प्राय: सर्वत्र व्यंग्य और कटाक्ष मूलक साहित्य की रचना करते हैं या फिर, पूर्ववर्ती पीढ़ी के साहित्यकारों की रचनाओं का विडम्बनात्मक रूप प्रस्तुत करते हैं या

उन मूल्यों और मान्यताओं पर कटाक्ष किया करते हैं जो किसी समय समाज में अत्यन्त बहुमान के साथ गृहीत थीं पर अब विकृत और जीर्ण हो गई हैं। पूर्वकाल के महाकाव्य और कथा-आख्यायिकाओं का स्थान कथा-साहित्य ने अब अवश्य ग्रहण किया है। पर उसके समान पुराने आदर्शों तथा गतिहीन आचारों को कभी महत्त्व नहीं दिया है। इसने सदा दकियानूसी आचरणों और गलत आदर्शों का प्रत्याख्यान किया है। कभी-कभी उपन्यासों का नाम देने में ही पुरानी मान्यताओं का विरोध कर दिया गया है। थैकरे ने 'वेनिटी फेयर' उपन्यास के नाम के साथ एक छोटा उपशीर्षक दे दिया था— 'एक नायक विहीन उपन्यास'। वह उस पुरानी मान्यता पर आघात करने के उद्देश्य से किया गया था जो नायकहीन उपन्यास को असम्भव व्यापार मानती है। हिन्दी के प्रतिभाशाली उपन्यासकार अज्ञेय ने 'शेखर : एक जीवनी' के नामकरण में उसी धक्कामार प्रवृत्ति का परिचय दिया है। यह उस रूढ़ि का विरोध है जो मानती आई है कि जीवनी और उपन्यास अलग-अलग वस्तुएँ हैं, दोनों का रूप अलग, शिल्प-विधान अलग। फील्डिङ्ग ने अपने उपन्यास के साथ 'एक गद्य में लिखा हुआ सुखान्त महाकाव्य'—जैसा एक भारी भरकम वाक्यांश जोड़ कर इसी प्रवृति का परिचय दिया था! उपन्यासकार कहीं न कहीं, कुछ-न-कुछ झकझोर डालने का प्रयत्न अवश्य करता है।

उपन्यास रूढ़मान्यताओं का विरोध करके ही आगे बढ़ा है। निरन्तर सङ्घर्ष इस साहित्य का विशिष्ट लक्षण है।

लेकिन यह ध्यान देने योग्य बात है कि प्रायः कहानी लिखने वाले इस इस प्रकार के व्यंग्य और चोट करने की प्रवृत्ति से बहुत कुछ मुक्त ही मिलते हैं। कहानीकार काम की बात में अधिक उलझता है। यद्यपि रूढ़ियों पर चोट करने में वह पीछे नहीं रहता। पर अधिक भड़कीले रङ्ग में वक्तव्य को रँगने की न तो उसे फुरसत होती है और न बहुत उत्साह। वस्तुतः भीड़ भम्भड़ और रेलपेल की दुनिया ने ही कथाकार को थोड़े में कहने को बाध्य किया है। और उपन्यास की भीतरी लचीली तरल धर्मिता ने उसे थोड़े में कहने की कला के अनुकूल बनने को बाध्य किया है। थोड़े में कहने की यह कला ही वस्तुतः कहानी के रूप में प्रकट हुई है। उसमें रूढ़ियों पर चोट करने पर व्यञ्जना वृत्ति पर अवलम्बित रहने की प्रवृत्ति अधिक है। अनाडम्बर चरित-विधान और अकृत्रिम ढङ्ग से वस्तु योजना कहानी कला की जान है। वह उपन्यास के समान झकझोर डालने या सनसनी में डाल देने का प्रयत्न नहीं कर पाती।

वैसे, यह ठीक है कि हाल के उपन्यासकार भी सनसनीखेज घटनाओं

और साहसिक अभियानों में अब उतनी रुचि नहीं रखते बल्कि नित्यप्रति के जीवन और प्रात्यहिक घटनाओं में अधिक रमते हैं। आधुनिक उपन्यास अपेक्षाकृत कम घटना बहुल होते हैं और चरित्र के भीतरी सङ्घर्ष को अधिक महत्व देते हैं। कथावस्तु पर वे जितना ही कम ध्यान देते हैं उतना ही चरित्र-चित्रण पर जोर देते हैं। यहाँ तक कि हाल के उपन्यासकार चरित्र को घटनाओं की परिणति मात्र मानते है।

समाज का जो धर्म-शास्त्रीय नियमों पर आधारित विधान है और नैतिकता की जो अवस्था है उसमें चरित्रों का स्वाभाविक विकास रुद्ध हो जाता है। इसीलिए आधुनिक कथाकारों ने (जो पुरानी कथा आख्यायिका के लेखकों से भिन्न जाति के साहित्यिक हैं) ऐसी व्यवस्था के प्रति कभी खुलकर और कभी प्रच्छन्न विद्रोह किया है। उपन्यास और कहानी के लेखकों ने आरम्भ से ही समाज के उपेक्षितों, दलितों और अधःपतितों में मनुष्यत्व की अधिक ज्योति देखी है और उनके प्रति जन-साधारण की सहानुभूति जागृत की है। मानवता के खोये हुए और धूलिच्छन्न रत्नों को खोज निकालने में कथा साहित्य ने बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य किया है। यह दुर्भाग्य की ही बात है कि अधिकांश उपन्यास लेखक समाज के इस उपेक्षित और प्रच्छन्न अङ्ग की चर्चा करते समय अनाशक्त नहीं रह पाते। वे समाज के दोष दिखाने के बहाने से दोषों में रस लेने लगते हैं और शक्तिशाली साहित्य के स्थान पर घासलेटी साहित्य लिखने लगते हैं क्योंकि उनमें अपना व्यक्तिगत कोई मत नहीं होता और यदि होता भी है तो उस पर दृढ़ता के साथ जम नहीं पाते। वे भीड़ के इशारे पर चलने लगते हैं। उनमें इतनी भी हिम्मत नहीं होती कि ललकारे जाने पर क्षण भर खड़े हो जायँ। परन्तु इससे कथा-साहित्य की महिमा को बट्टा नहीं लगता है। मैंने स्टीफेन ज्विग की एक कहानी पढ़ी थी। मैं उसका शीर्षक भूल गया हूँ। कम शक्ति वाले उपन्यासकार के हाथ में उसके चरित्र पड़ जाते तो कहानी अत्यन्त वीभत्स हो उठती। आदि से अन्त तक वह कहानी नीति शास्त्र के बँधे-बँधाये नियमों के अनुसार अत्यन्त गर्हित है। वह एक सुन्दरी स्त्री का एक डाक्टर से गर्भपात कराने के अनुरोध की कहानी है। इस पाप कर्म से दूसरे पाप कर्म को प्रश्रय मिलता है। शुरू से अन्त तक वह पाप की ही कहानी है। परन्तु उस पाप की अग्नि में तप कर दो ऐसे उज्ज्वल चरित्र उसमें निखर उठे हैं कि बस कुछ मत पूछिए। पाप की आँच से ऐसा निखार अद्भुत प्रयास है। मनुष्य के इस दिव्य रूप को देखकर रोमाञ्च हो उठता है। उपन्यासों और कहानियों के साहित्य में न जाने कितनी घिसी घिसाई मान्यताओं को हमेशा के लिये फेंक दिया है। [साहित्य-सन्देश, जनवरी १९५३

हिन्दी उपन्यास में शैली शिल्प

[श्री सौमित्र]

भारतेन्दु युग में ही जिन उपन्यासकारों की रचनाओं में अपनी विशेष शैलियाँ दिखाई दीं, उनमें लाला श्रीनिवासदास, पं० बालकृष्ण भट्ट, श्री देवकीनन्दन खत्री और पं० किशोरीलाल गोस्वामी प्रमुख हैं। इनमें लाला श्रीनिवासदास हिन्दी के प्रथम उपन्यास 'परीक्षागुरु' (१८८२) की रचना करने की दृष्टि से अधिक उल्लेखनीय हैं। उनकी गद्य शैली में बोलचाल के मुहावरे कम और संस्कृत शब्दों की प्रचुरता अधिक है। लेकिन कहीं-कहीं इनकी शैली में अत्यन्त ही मनोरम प्रवाह आ जाता है, जिसमें बोलचाल की भाषा का निखरा हुआ रूप दिखाई देता है।

"मदनमोहन का पिता पुरानी चाल का आदमी था। वह अपना बूता देखकर काम करता था और जो करता वह कहता नहीं फिरता था। उसने केवल हिन्दी पढ़ी थी, वह बहुत सीधा-सादा मनुष्य था, परन्तु व्यापार में बड़ा निपुण था....." (श्रीनिवास ग्रन्थावली)

पं० बालकृष्ण भट्ट के उपन्यासों में भी कमोवेश उपर्युक्त शैली ही मिलती है। लेकिन उसमें यथार्थता अधिक है। उन्हें भाषा की पूरी परख थी। भावों के चढ़ाव उतार के अनुकूल शब्दों का चयन करने तथा मुहावरों के प्रयोग में वे बेजोड़ थे। संवाद योजना एवं वातावरण के चित्रण में तो उनकी शैली स्थान-स्थान पर प्रेमचन्द की याद दिला देती है। उदाहरण के लिए जेठ की दोपहरी का यह वर्णन लीजिए।

".....घर-घर सब लोग भोजन के उपरान्त विश्राम सुख का अनुभव कर रहे हैं। नींद आ जाने पर पङ्खा हाथ से छूट गया है, खुर्राट भरने लगे हैं। स्त्रियाँ गृहस्थी के काम काज से छुटकारा पाय दुधमुँहे बालकों को खेला रहीं हैं....(सौ अजान एक सुजान)

परन्तु जहाँ प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण करना होता था, वहाँ उनकी शैली में कादम्बरी की आलङ्कारिता आ जाती है। 'सौ अजान एक सुजान' का आरम्भ ही उन्होंने इस आलङ्कारिक शैली में किया है।

खत्री जी की शैली ठीक इसके विपरीत है, जिसे उन्होंने जान बूझ कर अपनाया था। चन्द्रकांता आदि उपन्यासों की रचना के पीछे उनका उद्देश्य उच्च कोटि की साहित्यिक रचना करना न था, बल्कि पाठकों का मनोरञ्जन करना था। अतः उन्होंने ऐसी भाषा में अपने उपन्यास लिखे, जिसे मामूली हिन्दी पढ़ा लिखा आदमी भी आसानी से समझ सके। इसके लिए उन्होंने जान बूझ कर संस्कृत शब्दों का बहिष्कार किया। यहाँ तक कि शिष्ट समाज में प्रचलित संस्कृत शब्दों के स्थान पर भी उन्होंने अरबी, फारसी के नाजनीन कमसिन, तरद्दुद, बदहवास ऐसे शब्दों को ही पसन्द किया। शुक्ल जी ने इनकी हिन्दी को 'हिन्दुस्तानी' कहा है। लेकिन जहाँ तक शुद्ध एवं धारा प्रवाह भाषा लिखने का सम्बन्ध है, खत्री जी अपने युग के अकेले लेखक हैं। यह सही है कि उनका गद्य नितान्त सतही एवं अभिधामूलक है। वह न विचारों को उत्तेजना देने वाला है न भाषा की शक्ति का प्रसार करने वाला। पर उसकी सबसे बड़ी खूबी है उसकी शुद्धता। तेजी से चलने वाले कथा प्रवाह में पाठकों को डुबा लेने की उसमें अपूर्व क्षमता है।

इस युग के चौथे शैलीकार पं० किशोरीलाल गोस्वामी हैं। साधारणतः इनकी भाषा गठी हुई है। बोलचाल के शब्दों के साथ वे आवश्यकतानुसार संस्कृत एवं अरबी फारसीके शब्दों का व्यवहार करते हैं। कहीं-कहीं इनके संवादों की योजना भी अत्यन्त स्वाभाविक होती है। लेकिन इनकी गद्य शैली पर अक्सर बाहरी प्रभाव रहा। फलतः ये अपनी स्वतन्त्र गद्य-शैली का चाहिए वैसा विकास न कर सके। इनकी प्रारम्भिक रचनाओं पर बंगला गद्य-शैली की छाप दिखाई देती है, और बाद की रचनाओं पर उर्दू की। जिसके कारण उनके बहुत.से उपन्यासों का साहित्यिक गौरव ही नहीं घट गया, वरन् वे हिन्दी उपन्यासों को जो प्रौढ़ शैली दे सकते थे, वह भी न दे सके।

उपर्युक्त शैलीकारों के साथ ठा० जगमोहनसिंह की शैली का भी उल्लेख किया जा सकता है। ठाकुर साहब को अनुप्रास युक्त संस्कृत पदावली से विशेष प्रेम था। लेकिन भावानुकूल 'प्यारे शब्दों का चयन' उनकी अपनी विशिषता थी, जिसकी सहायता से वे अपने भावों एवं विचारों को सहज ही मार्मिक ढङ्ग से रख सकते थे। प्रकृति का वर्णन करने में तो उनकी कलम अत्यन्त ही कुशल थी। कादम्बरी के ढङ्ग की आलङ्कारिता से दूर रहते हुए उन्होंने बड़े ही स्वाभाविक रूप से सजीव झाँकियाँ खड़ी करदी हैं। उनकी शैली की विशिषता इसीसे जाहिर है कि आ० शुक्ल ने उसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते हुए लिखा है कि क्या ही अच्छा होता यदि इस शैली का आगे विकास होता।

यद्यपि इस युग में विविध शैलियों का विकास हुआ तथापि जिसे भाषा का यथार्थ, कहा जाता है, उसका इस समय विकास न हो पाया। खत्री जी की भाषा सरल जरूर है, पर साहित्यिक दृष्टि से वह उपयुक्त नहीं है। उसमें सर्वत्र एकरूपता थी। लेखक की भाषा और पात्रों के संवादों की भाषा में जो अन्तर होना चाहिए वह भी उसमें नहीं है। भट्टजी की भाषा अपेक्षाकृत परिनिष्ठित है, उसमें बोलचाल की साहित्यिक रूप और मुहावरों की छटा दिखाई देती है। शुक्लजी के शब्दों में वह 'चटपटी, तीखी और चमत्कारपूर्ण' होती है। लेकिन यह सब उनकी अपनी भाषा पर ही लागू नहीं होता, वरन् उनके पात्रों द्वारा बोली जाने वाली भाषा पर भी लागू होता हैं। उनके पात्र भी अपनी 'भाषा' न बोलकर लेखक का 'गद्य' बोलते हैं। अवश्य ही गोस्वामीजी के उपन्यासों में संवादों में कहीं-कहीं स्वयं पात्रों की भाषा का व्यवहार होता है, लेकिन यह उनकी गद्यशैली का आवश्यक नियम नहीं है, उनके मन की मौज का ही फल है।

जैसा कि डॉ० रामविलास शर्मा ने लिखा है "व्यक्ति का चरित्र कम से कम पचास फीसदी उसकी शैली से प्रकट होता है। जहाँ तक हास्य रस का सम्बन्ध है—केवल शुद्ध हास्य नहीं, विनोद, मनोरञ्जन, वक्रोक्ति, व्यंग्य सभी कुछ—उसकी निष्पत्ति सौ फीसदी इस बोली टोली और शैली पर निर्भर है।"*

कहा जा सकता है कि भाषा का यह यथार्थ प्रेमचन्द के साथ आया। उन्होंने स्पष्टतः लेखक की भाषा और पात्रों की भाषा के बीच अन्तर स्थापित किया। इस दृष्टि से उनकी गद्यशैली दो तरह की है। एक वह जिसे वे अपनी ओर से वर्णन आदि करने में काम में लेते हैं, दूसरी वह जिसे उनके पात्र प्रयुक्त करते हैं। पहली शैली का गद्य प्रसङ्गानुसार गम्भीर, भाव-प्रवण, व्यंग्यात्मक या विनोदपूर्ण होता है। लेकिन जब वे संवादों का विधान करते हैं अथवा पात्रों को सोचने की स्थिति में प्रस्तुत करते हैं, तब उनकी शैली प्रधानतः पात्रों की 'भाषा' की छाप लिये होती है। यह वे कुछ इस कौशल से करते हैं कि भाषा में किसी तरह की ग्रामीणता नहीं आ पाती और न आंचलिक उपन्यासों की तरह उनका स्वरूप ही विकृत हो पाता है। उदाहरण के लिए कर्मभूमि के दो पात्रों के संवादों की भाषा की तुलना कीजिये। इनमें एक पात्र शहरी है, दूसरा देहाती।

---

* आलोचना अङ्क २०, 'बूँद और समुद्र : आस्था की समस्या'।

"अब तक यह लोग उनमें रियायत चाहते थे, अब अपना हक माँगेंगे। रियायत न करने का उन्हें अख्तियार है, पर हमारे हक से हमें कौन वंचित कर सकता है। रियायत के लिए कोई जान नहीं देता, पर हक के लिए जान देना सब जानते हैं।"

यही गद्य ग्रामीण लोगों के मुख से इस प्रकार निकलता है। कर्मभूमि का चौधरी दारू न पीने की कसम खाता हुआ कहता है—"अब पीऊँगा नहीं। जिन्दगी में हजारों रुपये की दारू पी गया। सारी कमाई नशे में उड़ा दी। उतने रुपये से कोई उपकार का काम करता तो गाँव का भला होता और जस भी मिलता।"

ऊपर से देखने में दोनों की भाषाओं में कोई अन्तर नहीं दिखाई देता, लेकिन ध्यानपूर्वक देखने पर ज्ञात होगा कि इनमें अन्तर है। यह अन्तर केवल एक ग्रामीण शब्द (दारू) एक उच्चारण रूप (जस) और एक मुहावरे (उड़ा देना) से आया है।

प्रेमचन्द की गद्य शैली का अध्ययन वास्तव में अपने आप में एक विषय है; अतः उसकी सभी विशेषताओं पर प्रकाश डालना सम्भव नहीं। संक्षेप में उसके बारे में केवल इतना ही पर्याप्त होगा कि उन्हें भाषा पर असाधारण अधिकार था। उनकी भाषा हमेशा भावों एवं पात्रों के अनुसार होती है। कहीं गम्भीर, कहीं व्यङ्गपूर्ण, कहीं हास्य की छटा छिटकती हुई तो कहीं दार्शनिकता के रङ्ग में डूबी हुई। उससे उन्होंने लगभग वही काम लिया है, जो चित्रकार रङ्गों से लेता है।

उनके अलावा इस युग में दूसरे उपन्यासकार भी थे; पर इनकी शैली उनसे भिन्न थी। उनमें न मुहावरों की वह छटा थी और न ही बोलचाल की सहजता। प्रेमचन्द ने जिस तरह भाषा के द्वारा भी अपने पात्रों की वैयक्तिकता स्थापित की; वैसी और कोई स्थापित न कर सका। इस शैली का सबसे अच्छा उदाहरण प्रसादजी के उपन्यासों में मिलता है। उनकी गद्यशैली में संस्कृत शब्दों की प्रचुरता मिलती है। प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन करने में तो वह प्रायः काव्यात्मक हो जाती है। पात्रों की 'भाषा' में भी उल्लेखनीय विविधता नहीं मिलती। साधारणतः सभी पात्र एक ही स्तर की भाषा बोलते हैं।

प्रेमचन्द युग के बाद उपन्यासों की शैली में काफी विविधता का उदय हुआ; जिसका श्रेय मुख्यतः जैनेन्द्रकुमार, इलाचन्द जोशी, अज्ञेय, यशपाल, अश्क, फणीश्वरनाथ 'रेणु', वृन्दावनलाल वर्मा और अमृतलाल नागर आदि

उपन्यासकारों को हैं। इनमें से प्रथम तीन लेखकों की शैली सही माने यथार्थ-वादी नहीं हैं। समरसेट मॉम ने अपनी नवीनतम कृति The Point of View में दो प्रकार की गद्यशैलियाँ बताई हैं—Ornate (सज्जित) और Plain (सरल)। इन लेखकों की शैली पहले प्रकार की है। उसमें हिन्दी गद्य की शैलियाँ उसकी अर्थगर्भिता एवं भाव-सौन्दर्य तो दिखाई देता है पर पात्रों के अनुसार भाषा एवं बोलचाल की भावभंगिमा की छाप नहीं दिखाई देती। बाकी के लेखकों की गद्यशैली दूसरे प्रकार की है, जिसमें अभिव्यक्ति को वृथा सजाने की चेष्टा परिलक्षित नहीं होती। इनकी सामान्य प्रवृत्ति कथन की सादगी और यथार्थवाद के तकाजे के कारण पात्र जैसी भाषा बोलते हैं, उसे ज्यों का त्यों प्रस्तुत करने की भावना कही जा सकती है।

इस वक्तव्य का स्पष्टीकरण करने के लिए इन शैलीकारों पर संक्षेप में विचार करना अनुचित न होगा।

प्रेमचन्दजी के ठीक बाद उपन्यासों में नयी गद्यशैली की प्रतिष्ठा करने की दृष्टि से सबसे पहले जैनेन्द्र का नाम सामने आता है। उनकी शैली प्रायः सूत्रात्मक होती है, अर्थात् वे अपनी बात विस्तार से न कहकर संक्षेप में ही कहते हैं। इस प्रवृत्ति के कारण उनके वाक्य अक्सर छोटे-छोटे होते हैं। किन्तु इसे विरोधाभास ही समझना चाहिए कि वाक्य रचना सरल होते हुए भी उनकी अभिव्यक्ति प्रायः दुरूह होती है। इसका कारण है। उनमें आकर गद्य को दोहरा काम करना पड़ा। पहला पात्रों की मनोदशा के विश्लेषण से सम्बन्धित है, दूसरा उनके दार्शनिक चिन्तन के संवहन से। इस दोहरे उत्तर-दायित्व का फल यह हुआ कि उसमें वह स्वाभाविकता न रही, जो प्रेमचन्द के गद्य में लक्षित होती है। इसके स्थान पर उसमें कुछ कृत्रिम सजावट आ गयी है।

अपने प्रथम उपन्यास 'परख' की भूमिका में एक जगह उन्होंने लिखा है—

"कहीं एक साधारण भाव को वर्णन से फुला दिया है, कहीं लम्बा सा रिक्त छोड़ दिया है, कहीं बारीकी से काम लिया है कहीं-कहीं लापरवाही से, हलकी धीमी कलम से काम लिया है, कहीं तीक्ष्ण और भागती से।"

'परख' में ये पंक्तियाँ उन्होंने अपने टेकनीक को समझाने की दृष्टि से लिखी थीं; किन्तु असल में यह उनकी किसी एक विशेष रचना का ही टेकनीक नहीं रहा, वरन् उनकी 'कलम' का अपना स्वभाव है। जिसे मुहावरे में

'जानकर लिखना' कहते हैं; वे ऐसा कभी नहीं कर पाते। अवश्य ही कहीं-कहीं उनके गद्य में अभिव्यक्ति की बारीकियाँ मिलती हैं, वाक्यों में अर्थ की घनता भी खूब होती है। कोमल शब्दों के चयन से उसमें एक अनोखी मिठास, एक मधुर लय भी होती है जो हिन्दी के किसी दूसरे उपन्यासकार में शायद ही मिलेगी। पर इतना सब होते हुए भी 'लम्बा सा रिक्त छोड़ती और भागती' कलम ऐसा बहुत कुछ छोड़ देती है, जिसके अभाव में उनकी रचनाओं के कई स्थल दुर्बोध हो जाते हैं। लापरवाही से तात्पर्य अगर भाषा में आयी हुई त्रुटियों से लिया जाय; तो ऐसी लापरवाही के उदाहरण उसमें कई मिलेंगे। जैसेः—

मुझे अभिभावक हो रहा।

भीतर में ही भीतर असमञ्जस अनुभव कर रहा था।

मेरा आदर प्राप्त कर लेकर वह तेजी से अपने काम पर चली गयी।*

जैनेन्द्र की शैली के विपरीत इलाचन्द्र जोशी की शैली है। इसे सुविधा के लिए स्फीत शैली कहा जा सकता है। स्फीत शैली से मतलब उस शैली से है, जिसमें सीधी सी बात को भी सीधे ढङ्ग से न कहकर उसे शब्दों के जाल में छिपाकर प्रस्तुत करना। इसके लिए उन्हें प्रायः लम्बे-लम्बे वाक्यों एवं ऊँची शब्दावली का सहारा लेना पड़ता है। साधारणतः उनकी शैली इस प्रकार की होती है—

"इस विपुल जीवन में तुम्हारी भी सार्थकता है—तुम भी एक दिन संसार भर के मुग्ध पुजारियों की पूजा पाकर नारी का सौन्दर्य विभाषित यौवनोन्मत्त जीवन सार्थक करोगी। एक दिन आवेगा जब समस्त संसार का आनन्दमय उत्सव केवल तुम्हारे ही चरणों में हृदयाञ्जलि देने के लिए मनाया जायगा।"‡

अज्ञेय की गद्यशैली शब्दचयन (संस्कृत तत्सम शब्द) एवं अभिव्यक्ति दोनों ही दृष्टियों से अभिजात शैली है। वह प्रधानतः अर्थगर्भित एवं विश्लेषणात्मक होती है जिसमें अक्सर विचारों को प्रतीक के माध्यम से व्यक्त करने की चेष्टा मिलती है। उनके दूसरे उपन्यास 'नदी के द्वीप' का शीर्षक ही प्रतीकात्मक है। उनकी भाषा सर्वत्र एक तरह की होती है। वह न पात्रों के स्तर के अनुसार बदलती है और न भावावेश से प्रभाहित होती है। संक्षेप में उसमें

---

* जयवर्धन।

‡ लज्जा—संशोधित संस्करण २००४।

नदी का प्रभाव न होकर सागर का स्थैर्य है । उपन्यास के भाषा विधान की दृष्टि से यह दोष हो सकता है और इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि अज्ञेय अच्छा 'गद्य' तो लिख सकते है पर 'भाषा' नहीं लिख सकते । लेकिन एक बात है । वह यह कि उनके गद्य में आकर ज्ञात होता है कि हिन्दी की अर्थवत्ता कितनी प्रचुर है ? किस तरह उसमें भी न्यूनतम शब्दों के द्वारा अधिकतम अर्थ व्यक्त किया जा सकता है । 'नदी के द्वीप' की सबसे बड़ी उपलब्धि गद्य की इस शक्ति का उद्घाटन ही है ।

उपर्युक्त तीनों लेखकों के विपरीत यशपाल, अश्क, रेणु, वृन्दावनलाल वर्मा आदि में सरल शैली दिखाई देती है । ये सभी लेखक साधारण बोलचाल की भाषा का व्यवहार करते हैं; जिसमें आवश्यकतानुसार संस्कृत एवं अरबी फारसी के तत्सम शब्द बराबर मिलते हैं । यही नहीं ये ऐसे अङ्गरेजी शब्दों का भी निसंकोच प्रयोग करते हैं, जो रोजमर्रा की बोलचाल में घुलमिल गये हैं । इनमें से प्रथम दो की गद्यशैली की विशेषता है संवादों पर पंजाबी बोलचाल की छाप । उदाहरण के लिए दोनों ही लेखकों की रचनाओं में कुडी, कंजका, कोथदा, तड़का आदि पंजावी शब्द अधिकता से मिलते हैं । अश्क के 'गर्मराख' में दो शब्दों के साथ-साथ पंजाबी में लम्बे-लम्बे संवाद तक दिये गये हैं । तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो अश्क की अपेक्षा यशपाल की गद्यशैली साधारणतः शुष्क है । उसमें बुद्धि को प्रभावित करने वाले तर्कों एवं तिलमिला देने वाले व्यंग्यों की तो क्षमता है, पर भावनाओं को जाग्रत करने की शक्ति कम है । यह शक्ति अश्क में अधिक है । उर्दू लेखक कृशनचंदर की तरह वे बड़ी सरलता से 'भावना की भाषा' में बात कर मर्मस्थलों को छू सकते हैं । 'बड़ी-बड़ी आँखें' की गद्यशैली इसका अच्छा उदाहरण है ।

'रेणु' आंचलिक उपन्यासों के रचयिता हैं । उन्होंने अंचल विशेष के लोक जीवन का वर्णन करने के लिए आंचलिक शब्दों एवं उच्चारणों का ही अधिक प्रयोग किया है ।* जिससे उनकी गद्यशैली अन्य उपन्यासकारों से भिन्न दिखाई देती है ।

---

* उदाहरण के लिए गोर (समाधि) मारखू (बदमाश) टोर (ओट) कनिया (दुलहिन) रमना (चरागाह) आदि जिन्हें समझाने के लिए टिप्पणियों की जरूरत पड़ी है । इन शब्दों के अलावा स्थानीय उच्चारणों की भी भरमार है; जैसे गिरफ्फ, डलेवर, लौजमान, भगमान, जिवगी, पबली आदि ।

यथार्थ की माँगों के अनुसार भाषा में कुछ परिवर्तन आवश्यक है, जो शब्दावली की अभिवृद्धि की दृष्टि से भी अभिनन्दनीय है। इस तरह भाषा को अनायास ही कुछ प्रान्तीय शब्द मिल जाते हैं। लेकिन लगता है 'रेणु' भाषागत यथार्थ की माँगों के सम्मुख आवश्यकता से अधिक झुक गये हैं। आचार्य नन्द-दुलारे वाजपेयी ने इस विषय में ठीक ही कहा है कि 'रेणु' की कृतियों के सम्बन्ध में प्रश्न-चिन्ह बनकर आती है उनके उपन्यासों की भाषा। "उनके उपन्यास आंचलिक भाषा को छोड़कर यदि खड़ी बोली में लिखे जायँ, तो उनके प्रभाव में किस प्रकार की कमी आयगी? जिस भाषा में उनकी ये कृतियाँ अङ्कित हैं, दूर प्रान्त वाले हिन्दी-भाषी पाठकों के लिए दुरूह हो सकती है। न भी हो तो भी भाषा-प्रयोग की शिष्ट परम्परा से दूर तो वे हैं ही......."* ।

रेणु ने शब्दों एवं उच्चारणों को ज्यों का त्यों ही नहीं दिया है; वरन् पात्रों की अभिव्यक्तियों को भी व्याकरण की चिन्ता किये बिना दे दिया है; जैसे:—

डॉक्टर साहब आज ठीक समय पर आये थे। (मैला आँचल)।
ईसी बार मजा लगेगा (वही)।
दिल्लगी किया है (परती : परिकथा)।
एक प्रति निकाल कर बढ़ाया (वही)।

'रेणु' के उपन्यासों की यह आंचलिक भाषा सहज ही वर्माजी की याद दिला देती है। उनके उपन्यास भी वातावरण के चित्रण, लोक जीवन के वर्णन और भाषा की दृष्टि से आंचलिक कहे जा सकते हैं। इनमें 'भाषा-प्रयोग की शिष्ट परम्परा' से दूर न जाते हुए, उन्होंने जिस गद्य शैली का व्यवहार किया है वह प्रेमचन्द की सादगी से भरी हुई बोलचाल की भाषा है। वह लग-भग उन सभी विशेषताओं से भूषित है; जो आम लोगों की बातचीत में अक्सर दिखाई देती है। उनकी शैली को प्रेमचन्द की गद्यशैली का ही आंचलिक विकास कहा जा सकता है। पात्रों की बोलीबानी का आभास देने तथा उनकी 'स्थानीयता' सूचित करने के लिए वे भी आंचलिक शब्दों, मुहावरों, उपमाओं एवं कहावतों का उपयोग करते हैं।

आंचलिक शैली का ही एक दूसरा रूप अमृतलाल नागर के उपन्यास 'बूँद और समुद्र' में मिलता है। भाषा के द्वारा पात्रों की आन्तरिक विशेषता—

* (आलोचना अङ्क २४ : सम्पादकीय)।

उनका वैयक्तिकता प्रकट होती है। अतः जिस लेखक को बोलचाल की भाषा का जितना ही गहरा ज्ञान होगा, वह पात्रों की वैयक्तिकता को उतनी ही खूबी से स्थापित कर सकेगा। 'बूँद और समुद्र' में भाषा की यह भूमिका कदाचित पहली बार अच्छी तरह सामने आयी है। उसमें कई पात्र हैं। लेकिन वे सब अपनी शैली में बोलते बतियाते हैं। प्रायः प्रत्येक पात्र की अपनी प्रणाली है। रेणु की शैली से यह शैली इस बात में भिन्न है कि जहाँ रेणु का गद्य बोलचाल की 'स्थानीय विशेषता' को व्यक्त करता है, वहाँ नागर का गद्य पात्रों की बात-चीत के निजी ढङ्ग को। इस दृष्टि से भाषागत यथार्थ उसमें एक दम आगे बढ़ा है।

—साहित्य-सन्देश, मई १९५९

———

उपन्यास और महाकाव्य

[डा० रामरतन भटनागर]

कदाचित् रेल्फ़ फ़ाक्स ने अपने ग्रन्थ 'द नॉवेल एण्ड द पीपुल' में पहली बार कहा कि उपन्यास आधुनिक युग का महाकाव्य है जिसमें बुर्जुआ संस्कृति का सर्वश्रेष्ठ और लोकप्रिय कला-रूप हमें प्राप्त हुआ है और तब से यह लीक पड़ गई है कि हम उपन्यास और महाकाव्य का समीकरण बना कर चलने लगे हैं। परन्तु उपन्यास प्रजातन्त्र और औद्योगिक संस्कृति की भी उपज माना गया है। क्योंकि उसमें सामान्य जीवन के प्रति हमारा आग्रह है और उसकी लोकप्रियता विशिष्ट होने में नहीं, सामान्य होने में है। अतः दोनों की प्रकृति में स्पष्ट रूप से भेद दिखाई पड़ता है और इस भेद को समझ लेना आवश्यक है। नहीं तो हम उपन्यास से काव्यात्मक विशेषताओं की माँग करने लगेंगे और उन्हें नहीं पायेंगे तो असन्तुष्ट होंगे। पश्चिम से यह आयाज भी उठी है कि उपन्यास का युग समाप्त हो गया या हो रहा है और वह कार्य शेष हो गया है। इस भ्रान्ति का मूल कारण उपन्यास की प्रकृति और उसकी सीमाओं के सम्बन्ध में हमारी भ्रान्त धारणा ही है।

प्रत्येक कला-कोटि का जन्म सांस्कृतिक आवश्यकताओं के द्वारा ही होता है परन्तु धीरे-धीरे उसका विशिष्ट स्वरूप निर्मित हो जाता है जो बदलते हुए युग-धर्म के अनुसार नये आयाम धारण कर सकता है। महाकाव्य प्राचीन युगों के सरल और साहसी जीवन की पुकार है जो राजाओं, सामन्तों तथा अभिजात वर्ग को अपनी चेतना का प्रतीक बनाता है। उस युग में वर्ग-चेतना का अभाव था और महाकवि जनता से अभिन्न होता था। फलतः उसकी रचना में जनाकांक्षा का प्रदीप्त स्वरूप प्रतीकबद्ध था। महाकाव्य में विराट जीवन को प्रस्तुत किया जाता था, सूक्ष्म जीवन को नहीं, क्योंकि मनुष्य का व्यापक जीवन मानवीय होने के नाते साधारणीकरण की क्षमता रखता है। इसीलिए महाकाव्य में घटना-चक्र अथवा चारित्रिक लेखन व्यक्तिगत न होकर प्रतीकात्मक रहता है। जैसा लाउत्से ने कहा है, हम सब नदी के द्वीप हैं परन्तु नीचे के तल में ठोस मिट्टी के द्वारा एक दूसरे को छूते हैं।

महाकाव्य के चरित्रों की भी यही स्थिति है और इसीलिए उनमें अनुवीक्षणीय शक्ति नहीं, भावात्मक जीवन के प्रतिनिधि सत्य के दर्शन हमें होते है। उनमें दैनन्दिनि जीवन की अपेक्षा प्रतिनिधि जीवन ही अधिक रहता है। इसीलिए महाकाव्य महाकार दर्पण बन जाता है। जिससे कुछ थोड़े से पात्रों में समस्त संस्कृति अथवा सारे युग की वाणी मिलती है। इसीलिए ब्यौरा महाकाव्य की वस्तु नहीं है। उसमें नायक के चरित्र को अपने युग और कवि के व्यक्तित्व से दूर ले जाकर कल्पना के शिखर पर खड़ा कर दिया जाता है और फिर उसे प्रकृति और परिवेश के महार्घ बनाकर देखने का प्रयत्न होता है। सच तो यह है कि महाकाव्य हमें पात्रों के व्यक्तित्व देता है, चरित्र नहीं, क्योंकि चरित्र के लिए जिस सूक्ष्म कलम की आवश्यकता होती है वह महाकाव्य में नहीं लगती। वह उपन्यास का विषय है। उपन्यास व्यौरे की चीज है। उसमें जीवन की एकता वांछनीय नहीं है। इस एकता के भीतर वैविध्य किस प्रकार सङ्गठित हुआ है, यह दिखाना उपन्यासकार का कर्तव्य है। प्राचीन युग संश्लिष्ट संस्कृतियों के युग थे, अतः उन युगों में हमारी दृष्टि जीवन की एकता पर जाती थी। वर्तमान युग में हम जीवन की अनेकरूपता को देखते और चमत्कृत होते हैं। यह नहीं कि उन युगों में व्यक्तिगत जीवन के संघर्ष जटिल थे, परन्तु कवि उन्हें जटिल बनाकर प्रस्तुत करता था क्योंकि ध्येय विजीगिषा था। प्राचीन महाकाव्यों में उद्दाम जीवन-शक्ति के दर्शन होते हैं जो विजिगीषा रूप में प्रगट होती है। यह विजिगीषा युद्ध, समुद्रयात्रा, विकट शौर्य अथवा महानता के रूप में दिखाई देती है। इसीलिए महाकाव्य में दुखान्त भी सुखान्त बन जाता है क्योंकि उसमें जीवन की विजय प्रतिभाषित होती है, मरण की नहीं। होमर के काव्यों में यही उद्दाम वासना जीवन का प्रतिरूप बन कर आती है। यूरोप के प्राचीन जनकण्ठी महाकाव्यों, फारदोषी के 'शाहनामा' और चन्द के 'पृथ्वीराज रासो' में हम जीवन का यही जन-घोष पाते हैं। जगनिक का 'आल्हा' भी इसी परम्परा में आता है। परन्तु महाकाव्य का एक दूसरा रूप हमें बाल्मीकि रामायण में मिलता है। इस महाकाव्य में राम-रावण महायुद्ध को दाम्पत्य के महान आदर्श की नींव पर खड़ा किया गया है। युद्ध ध्येय नहीं है, धर्म-संस्थापन ध्येय है क्योंकि रावण असत् का प्रतीक बन गया है, परन्तु इस युद्ध में सेनाओं के कोलाहल के पीछे राम का महान विरह-भाव और सीता का अपार्थिव चरित्र है जिसके आगे आसुरी परास्त हो जाती है। रामायण के पात्रों में जिस चारित्रिक उदात्त के दर्शन होते हैं वह अप्रितम है,

सम्पूर्ण रूप में भारतीय है और उसमें मर्यादा, सन्तुलन और मानव मात्र के प्रति समानता की पराकाष्ठा है। आदिकाव्य के आरम्भ में ही नारद विष्णु के सामने श्रेष्ठ पुरुष के रूप में राम का उल्लेख करते हैं और यह चारित्रिक उत्कर्ष ही राम को महामानव बनाता है परन्तु अयोध्याकाण्ड के अन्त में ही राम का यह महामानवत्व परिपूर्ण हो जाता है। इसके बाद राम अवतारी पुरुष बन जाते हैं और उनका जीवन व्यक्तिगत न रह कर लोकसंग्रही रह जाता है। वह धर्म के प्रतीक बन कर रावण-रूपी अधर्म पर विजय प्राप्त करते हैं। मानवीय प्रेम का विभिन्न जीवन-क्षेत्रों में जैसा विस्तार रामायण में है वैसा अन्यत्र नहीं है। स्वयंभू, तुलसी, कंबन और कृत्तिवास ने राम के इस महामानवत्व की रक्षा करते हुए उनमें युगधर्म की भी प्रतिष्ठा की है। स्वयंभू में वह जैनादर्श के प्रतिनिधि बनते हैं तो अन्य तीन महाकवियों ने उन्हें भक्त के हृदय-स्पन्दन से इस प्रकार गूँथ दिया है कि वह 'भगवान' बन गये हैं। जहाँ बाल्मीकि ने उनमें मानव का पुरुषोत्तमत्व देखा है, वहाँ परवर्ती महाकवियों ने उनमें परात्पर सत्ता को भी मूर्तिमान किया है। उनमें नर नारायण बन गया है।

महाकाव्य का तीसरा रूप हमें व्यास के महाभारत में मिलता है जो जीवन के आदर्श की ओर उन्मुख नहीं होते, उसके यथार्थ को ही क्रियमाण रूप देते हैं। महाभारत में नारी के सतीत्व के ऊपर उसके नारीत्व की प्रतिष्ठा की गई है। सतीत्व की चरम सीमा सावित्री और गांधारी में मिलती है तो नारीत्व की पराकाष्ठा द्रौपदी में। महाभारत का महाकाव्यत्व जहाँ एक ओर उसकी अखिल भारतीय पृष्ठभूमि है, वहाँ दूसरी ओर चरित्रों की बहुसंख्यता तथा विविधता उसे जीवन का प्रतिरूप बना देती है। परन्तु महाभारतकार की सर्जनात्मक व्यथा इस उक्ति में है कि धर्मसर्वोपरि है, यह जानते हुए भी कोई उनकी बात नहीं सुनता। अधर्म की जैसी व्यापकता महाभारत में प्रदर्शित है वैसी अन्यत्र नहीं, परन्तु यहाँ वह राजनीति बन कर प्रगट हुई है और पात्रों की प्रेरक अन्तवृत्ति के रूप में सम्पूर्णतः मानवीय है। इसी से उसके पात्र आसुरी नहीं है, अधर्मी होते हुए भी मानवीय हैं, हमारे निकट हैं। आदि कवि की भांति महाभारतकार धर्म-अधर्म, सत्-असत् की दो कृष्ण-शुल्क रेखाएँ नहीं गढ़ता, वह इन दोनों रङ्गों को इस प्रकार मिला देता है कि हम एक ही व्यक्ति में दोनों भूमियाँ देख लेते हैं। महाभारतकार में व्यक्ति-धर्म ही राजनीति बन गया है और कुरुओं का पारिवारिक विग्रह ही कुरुक्षेत्र को धर्मभूमि बना देता है। केवल कृष्ण का व्यक्तित्व उसके ऊपर प्रतिष्ठित है। महाभारत के कृष्ण को चरित्र के रूप में

देखकर हम गलती करते हैं, उन्हें अवतारी व्यक्तित्व के रूप में देखकर ही हम न्याय कर सकेंगे क्योंकि वह सत्-असत् परम चिन्मय सत्ता का प्रतीक बन जाते हैं जो अन्तर्यामिन् के रूप में सर्वनियामक है। इसी से वह अवनाशी और शुद्धाद्वैती है। महाभारत के रूप में हमें महाकाव्य की श्रेष्ठतम उपलब्धि मिली है जो एक साथ इतिहास, पुराण, महाकाव्य और धर्मशास्त्र है। उसे भारतवर्ष की सर्जनात्मक कल्पना का चरमोत्कर्ष कहा जा सकता है।

आधुनिक युग के महाकाव्य पिछले युगों की इस सामाजिक दृष्टि को लेकर नहीं चल पाते। वे या तो कालिदास के 'रघुवंश' और 'कुमारसम्भव' तक पहुँचते हैं या वर्जिल, मिल्टन, दाँते की महाकृतियों तक। 'एनियड', 'परेडाइस-लास्ट' और 'डिवाईन-कामेडी' ही आधुनिक भारतवर्ष में 'मेघनाद-वध', 'कामायनी' और 'इसरारे-बेखुदी' का रूप ले लेते हैं। गेटे के 'फाउस्ट' और हार्डी के 'डाइनेस्ट' में हमें नवीन चेतना के अनुरूप नए महाकाव्य भी मिलते हैं परन्तु अभी हमारी दृष्टि उनकी ओर नहीं जा सकी है। ये महाकाव्य चौथी कोटि की रचनाएँ हैं जो धर्म के सौन्दर्य की अपेक्षा काव्य और कल्पना के सौन्दर्य की ओर अधिक देखते हैं और जिनमें अपेक्षाकृत सङ्कीर्ण भूमिका पर महत् जीवन के प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत किया गया है। इनमें प्रतीक-चरित्रों, प्रतिनिधि समस्याओं, अन्तर्जगत और वहिर्जगत के मनोरम स्वरूपों तथा भविष्यत् स्वप्नों का ऊहापोह है। उनमें जीवन की सूक्ष्मता नहीं, व्यापकता का प्रतिनिधित्व है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि महाकाव्य मानव की सर्जनात्मक प्रतिभा का चरमोत्कर्ष है जहाँ कवि परभूः तथा स्वयंभू होकर विधाता से होड़ करता है। उसकी दृष्टि जीवन की एकता पर रहती है, उसके विभेद पर नहीं। वह अन्वेषी नहीं होता, द्रष्टा होता है, सर्जक होता है। वह जीवन के द्वंद्वों तथा वैषम्यों के नीचे जाकर तलस्पर्शी समानता को उभारता है। वह जमीन में महत् काव्य की प्रतिष्ठा करता है। महाकाव्य महत् जीवन का काव्य है, विराट के प्रति महाकवि की श्रद्धांजलि है, भविष्यत् का नवनिर्माण है। उसमें समस्त जाति, समूचे राष्ट्र की आकांक्षा प्रतिध्वनित होती है और उसके पर्वताकार महादर्पण में अनागत पीढ़ियां अपना मुख देखती हैं। महाकाव्य वह देता है जो हम बनना चाहते हैं, उपन्यास की तरह वह नहीं देता जो हम हैं। वह हमारा भविष्यत् स्वप्न है, वह सम्पूर्ण राष्ट्र अथवा सम्पूर्ण मानव की परिबद्धता है।

इसके विपरीत उपन्यास गद्य-कृति है। उसमें जीवन का गद्य प्रतिविम्बित होता है, जीवन का काव्य उसके वाहर रह जाता है। उसमें अणुवीक्षणीय

दृष्टि का उपयोग होता है, योग-समाधि के सर्वग्राही विराट दर्शन का नहीं। इसीलिए उपन्यासकार सूक्ष्म की ओर बढ़ता है, विराट की ओर नहीं। उसमें चारित्रिक वैलक्षण्य तथा वैविध्य ही अधिक मिलता है, संहृति तथा समन्वय के दर्शन नहीं होते। उपन्यास को मध्यवित्त समाज की सृष्टि कहा जाता है जिसने प्रकृति, राष्ट्र तथा धर्म के अखण्ड जीवन बोध से अपना सम्बन्ध तोड़ लिया है। यह समाज बुद्धि को ढाल बनाकर आगे बढ़ता है। फलतः उसको गद्य-कृतियाँ जीवन की प्रतिच्छाया मात्र रह जाती हैं। पिछले तीन सौ वर्षों से उपन्यास समाज, राष्ट्र, इतिहास, तत्कालीन जीवन अथवा अन्तर्जगत का चित्रण करता रहा है। उन्नीसवीं शताब्दी के महान उपन्यासकारों में उसने अपने चित्रफलक को अपरिसीम विस्तार दिया है। स्तान्वेल से लेकर ताल्सताय तक हम उपन्यासकार को अधिक सूक्ष्म, विस्तृत एवं क्षणलेखी यथार्थ को पकड़ने का उपक्रम करते देखते हैं और 'अन्नाकरेनिन' तथा 'युद्ध और शान्ति' में व्यक्तिगत जीवन तथा समष्टिगत जीवन की इकाइयों को निःशेष होता पाते हैं। लगता है जैसे उपन्यासकार ने जीवन का सारा रस निचोड़ लिया है, वह अन्तर्यामिन् बन गया है, परन्तु शीघ्र ही यह पता चल जाता है कि मन के अनेक कोश अब भी अछूते रह गये हैं। दोस्पोवेस्की, जेम्सज्वाइस, प्राउस्त और वर्जीनिया वूल्फ की कृतियों में उपन्यास ने अन्तर्मन को उधेड़ना चाहा और उसे अन्तश्चेतना प्रवाह का नया शिल्प देकर अपने सूक्ष्म दर्शन को विराटत्व देने का प्रयत्न किया। परन्तु इसका फल यह हुआ कि वह जीवन के कवित्व को खो कर उसके मध्य में ही उलझ कर रह गया। पश्चिम में आज जो उपन्यास के निधन पर शोक-प्रस्ताव पास किये जा रहे हैं उसका मूल कारण यही है कि उपन्यास मनोविश्लेषण की चक्करदार सीढ़ियों पर उतरते-उतरते श्रांत हो गया है और उसकी चेतना अन्धी गलियों में पहुँच गई है। आज का उपन्यासकार जीवन का पुर्नर्निर्माण करना चाहता है, जीवन की वास्तविकता का भ्रम देना चाहता है, परन्तु जिस आधुनिक मनुष्य के मन का चित्रण वह कर रहा है वह स्वयं इतना विघटित है कि टूटे सपने को जोड़ने का हास्यास्पद प्रयत्न ही उसके पल्ले पड़ा है। वह कल्पना का उपयोग नहीं कर पाता और उसकी भावना सत्य की खोज के दावे के नीचे दब जाती है। फलतः आज उपन्यासकार महाजीवन का चित्रकार न होकर क्षुद्र जीवन का आलोचक बन गया है। तन्त्र का स्थान 'कातन्त्र' ने ले लिया है क्योंकि गतधर्मी आधुनिक जीवन में तन्त्र अवास्तविक हो गया है। वस्तून्मुखी जीवन के आग्रह ने आज के उपन्यासकार के हाथ बाँध दिये हैं और उसके कल्पनाकोशों को दुर्बल बना दिया है। विश्लेषण के इस

युग में जीवन की विराट संवेदना अथवा संश्लेषात्मक जीवनबोध देना असम्भव हो गया है। विज्ञान ने हमारे शिल्प को ही विघटित नहीं किया है, हमारी सहज दृष्टि को भी विश्लेषण के बोझ से दबा दिया है। तथ्य को ही हम सत्य मानने लगे हैं। इसीलिए आज अखण्ड जीवन-दृष्टि का अभाव है। आधुनिक उपन्यास में खण्ड-जीवन का आग्रह विशेष है जो आंचलिक उपन्यासों, रिपोर्ताजी स्केचों, रेखाचित्रों तथा आणुविक मनालेखों के रूप में दृष्टव्य है। कहना यह है कि आज उपन्यास की महाकाव्य-क्षमता की बात प्रायः समाप्त हो गई है। लोग कहने लगे हैं कि आज का युग महाकाव्य का युग है न उपन्यास का, यह निबन्धों, रेखाचित्रों, लघु उपन्यासों और विचार सूक्तियों का युग है। लाघव के प्रति यह आग्रह स्पष्ट ही सहज दृष्टि की असफलता का प्रमाण है। नए मनुष्य का अन्तर्बोध मर गया है या मर रहा है क्योंकि उसके व्यक्तित्व का विघटन हो रहा है। समष्टिवाद, विज्ञान और बुद्धिवाद जहाँ हमारे सौन्दर्यबोध को सामान्य, विकृत अनुपातहीन और आवेगमुक्त बना रहे हैं, वहाँ यही तत्व हमारे मूल्यांकन को भी दिग्भ्रमित कर रहे हैं क्योंकि न हम सत्य के स्वरूप के सम्बन्ध में स्थिरमति हो सके हैं, न शिवसंकल्प के सम्बन्ध में किसी नये नैतिक आधार का सृजन कर सके हैं। केवल वस्तून्मुखी चित्रण (चाहे वह सूक्ष्मतम क्षणलेख ही क्यों न हो) रचना को कलाकृति नहीं बना सकता। किसी भी कोटि के शिल्प के लिए जीवनरस का स्थान ले लेना असम्भव बात है। शिल्प की सार्थकता रसबोध में ही है, उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। निश्चय ही हम ब्याज के फेर में पड़ गए है, मूल को चुकता करना भूल गये हैं। इसलिए हमारी औपन्यासिक सृष्टियाँ विघटित, वैचित्र्यमयी तथा विस्फोटात्मक हैं। उनमें प्रश्न हैं, समाधान नहीं, क्योंकि प्रश्न दर्शन से उठते हैं, समाधान जीवन में मिलते हैं। जीवन को हम योग-समाधि से पकड़ सकते हैं जिसमें आधुनिक जीवन की त्वरा बाधक है। अणुवीक्षण-यन्त्रों के द्वारा जितना जीवन हम बाँध पाते हैं, वह नगण्य को ही महान् और क्षुद्र को ही विराट बनाने का चमत्कार तो कर सकता है परन्तु महत् तथा विराट् का संवेदन हमें नहीं दे सकता।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि उपन्यास ने न कभी महाकाव्य का स्थान लिया है, न भविष्यत् में वह कभी महाकाव्य का स्थान ले सकेगा। दोनों दो विभिन्न प्रकृतियों की साहित्य कोटियाँ हैं। प्रत्येक युग को दोनों की आवश्यकता रहेगी। उपन्यास परवर्त्ती कलाकोटि है, फलतः उसने महाकाव्य से बहुत कुछ सीखा है परन्तु वह उसका स्थानापन्न नहीं बन सका है, न उसके स्थानापन्न बनने की सम्भावना है। यह अवश्य है कि आज हमारी दृष्टि इतनी

अधिक वस्तून्मुखी, सूक्ष्म, पक्षधर तथा विश्लेषणात्मक हो गई है कि जीवन की मूलभूत एकता तक पहुँचना हमारे लिए असम्भव हो गया है। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि मनुष्य की भावुकता ही समाप्त हो जायगी और उसकी सर्जनात्मक कल्पना इतनी जीर्ण बनेगी कि वह विराट, अविकृति, रसस्रोती जीवन-स्पन्दनों को किसी महत् कृति के रूप में बाँध ही नहीं सकेगा। महाकाव्य का शिल्प बदल सकता है, उसमें कालान्तर में उपन्यास जगत की उपलब्धियां भी आँशिक रूप में समाहित हो सकती हैं, परन्तु मानव का महत् जीवन की कल्पना को क्रियमाण रूप देने का प्रयत्न ही महाकाव्य की अन्तरात्मा बन सकेगा, यह निःसन्दिग्ध रूप से कहा जा सकता है। खण्ड चेतनाओं के इस युग में हम भले ही सम्पूर्ण जीवन की उदात्त, अखण्ड एवं शिव-सङ्कल्पी अभिव्यक्ति नहीं कर सकें, ऐसी अभिव्यक्ति की अनिवार्यता बनी रहेगी। सैकड़ों उपन्यासों से भी एक महाकाव्य की पूर्ति नहीं हो सकती क्योंकि उपन्यास जीवन को खण्ड-खण्ड करता है और उसके वस्तून्मुख तथा विश्लेषण प्रधान चित्रण के पीछे किसी बड़े आदर्श या उदात्त जीवन-दर्शन की सम्भावना नहीं रहती। उपन्यास का जीवन-दर्शन व्यावहारिक सत्य मात्र है, वह देश-कालबद्ध परिस्थितियों पर आधारित है परन्तु महाकवि का जीवन-दर्शन सम्पन्न भावबोध पर आभृत होने के कारण चिरकालिक तथा नित्य नवीन है। जीवन की अनेकरूपता, व्यावहारिकता तथा व्यापकता उसका आधार नहीं है, आधार की अव्याकृत ऋषि-दृष्टि जो शाश्वत प्रश्नों का समाधान बनती है और कालातीत गहराइयों को छूती है। मानना होगा कि महाकाव्य मनुष्य के प्रति हमारी अगाध आस्था का द्योतक है और उसमें अखिल मानव की प्रतिष्ठा है। उपन्यास उतनी दूर नहीं जाता। उसका विस्तार जीवन को तरल, अग्राह्य और रहस्यमय बना देता है। उसके द्वारा हम जीवन की असंख्य अभिव्यक्तियों का स्पर्श कर सकते हैं। इसके विपरीत महाकाव्य हमें आत्मदर्शन का अवसर देता है और इस आत्मदर्शन में हम अपनी क्षुद्रताओं को देखकर त्रस्त नहीं होते, अपनी महानताओं को देखकर आश्वस्त होते हैं। यहाँ हम उन सामान्य उपन्यासों की बात नहीं उठाते जो राष्ट्रीय महापुरुषों, अवतारों तथा काल्पनिक कथानकों को सर्गबद्ध विस्तार के साथ काव्य का रूप दे देते हैं। हमारी दृष्टि में वे महाकाव्य हैं जो मनुष्य के विभिन्न सांस्कृतिक युगों के प्रतीक बन गये हैं और 'क्लासिक' कहे जाते हैं। ऐसे किसी महाकाव्य को जन्म देकर ही युग अपनी परिणति को प्राप्त होती है क्योंकि फिर उसके लिए कुछ भी कहने को बाकी नहीं रह जाता। साहित्य के क्षेत्र में शेष सब कुछ ऐसे महाकाव्य की तैयारी बन कर ही सार्थक है। इस शेष में उपन्यास भी आ जाता है।

[साहित्य-सन्देश, मार्च १९६०।

—— —.— ——

ऐतिहासिक सत्य और औपन्यासिक कल्पना

[डा० प्रभाकर माचवे]

विदेशी साहित्य में—सर वाल्टर स्काट की इच्छा थी—'सत्य और काल्पनिक के बीच एक प्रकार का सन्तुलन प्रस्तावित करना।' इसके लिए ऐतिहासिक सु-विख्यात नायक-नायिकाओं को उसने अपने उपन्यासों में गौण पात्र बनाया। 'वेवर्ली' में प्रिन्स चारली, 'केनिलवर्थ' में रानी 'एलिजावेथ', 'दि फार्चून्स आफ निगेल' में जेम्स प्रथम। 'वुडस्टाक' में क्रमवेल या 'दि एवॉट' में मेरी क्वीन आफ स्काट का चित्रण प्रशंसा की ध्वनि में विस्तार से हुआ है; फिर भी ऐतिहासिक उपन्यासकार का मुख्य विभूति-पूजक या दरवारी इतिहास लेखकों जैसा ऐतिहासिक व्यक्तित्वयों का अतिरंजित चित्र प्रस्तुत करना नहीं है। जब क्रामवेल ने चित्रकार से कहा था—'मुझे ऐसे ही चित्रित करो जसे मैं हूँ', तब व्यक्तित्व-चित्र (पोर्ट्रेट) या शबीह बनाने वाले से यथातथ्य के वर्णन की अपेक्षा थी। फिर भी उपन्यासकार का विषय चूँकि व्यक्तित्व या विभूति (हीरो) नहीं बल्कि काल-विशेष की जनता होती है, श्रेष्ठ उपन्यासकार इतिहास के नीरस विवरणों का सरस कल्पना के रंग से रंजित करने में सफलता प्राप्त करता है।

कुछ आलोचकों ने ऐतिहासिक उपन्यास के तीन प्रकार वताये हैं (१) कालखण्ड का चित्र (पीरियड-नावेल) इसमें उपन्यासकार की दृष्टि ऐतिहासिक शोधक की होती है। आरम्भिक उपन्यास यथा वार्थेलेमी के 'अनाकार्सेस इन ग्रीस' १७८८ ई० में लिखा ऐसा ही उपन्यास है। (२) ऐतिहासिक रोमान्स—इसमें इतिहास के सत्य की अपेक्षा, जनश्रुति, अन्य नई घटना आदि चामत्कारिक माल-मसाले का उपयोग होता है। वर्तमान से पलायन का भी यह एक ढङ्ग है, ड्यूमा, लिटन, स्काट आदि के उपन्यास इसी कोटि में आते हैं, (३) ऐतिहासिक उपन्यास—इसमें इतिहास के अधिक निकट-इतिहास या एक पीढ़ी पहले की घटनाओं की, उस समय के समाज-स्थिति की अभिव्यञ्जना होती है यथा थैकेरे

का हेनरी एसमांड या रोमोला आदि । इसमें अतीत को वर्तमान से मिलाने का यत्न होता है ।रूसी उपन्यासकार टालस्टाय का 'युद्ध और शान्ति' ऐसे श्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यास का उत्तम प्रमाण है । शिपले के अनुसार उपन्यास की श्रेष्ठता जीवन के प्रति ईमानदारी और उसमें के सुन्दरता के तत्त्वों को समोने की शक्ति; विस्तार और गहराई दोनों में निहित हैं :—

भारतीय साहित्य में—भारत की विभिन्न भाषाओं के समुन्नत साहित्य में कई ऐसे उदाहरण ऐतिहासिक उपन्यासों की विविध विधाओं के मिलते हैं । बँगला के राखाल वन्दोपाध्याय के 'शशाङ्क' और 'करुणा', बंकिमचन्द्र के 'आनन्दमठ' और 'देवी चौधरानी', मराठी में हरिनारायण आपटे के 'गड आला पण सिंह गेला', 'उषाकाल', 'चन्द्रगुप्त' आदि । बालचन्द नेमचन्द शाहा के 'सम्राट अशोक' और 'छत्रशाल', नाथमाधव को 'कादम्बरीमय शिवशाही' और बाद में हडप की इसी प्रकार की पेशवा-कालीन और ब्रिटिश राज्य पर उपन्यासावलियाँ, गुजराती में 'करण वाधे लो' और बाद में क० मा० मुंशी के 'गुजरात नो नाथ' 'पृथ्वीवल्लभ' 'जय सोमनाथ' आदि; तमिल में कल्की के 'पॉर्थिवन कनवु' (पार्थिव का स्वप्न); मलयालम में 'रायराज-बहादुर' और सरदार पणिक्कर के 'केरलसिंहम', अकबर के 'रानी झाँसी' जैसे उपन्यास; कन्नड़ में मास्तिवेंकटेश अय्यंगर का 'चैन्न बसन नायक' और अ० ना० कृष्णराव का 'चित्तूर की रानी' आदि ऐसे ही सुन्दर उदाहरण हैं । इनमें से कुछ उपन्यासकार तो इतिहासकार, पुरातत्त्ववेत्ता, समाजशास्त्रज्ञ, विचारक और कुछ केवल कहानीकार रहे हैं । जैसे क० मा० मुंशी ने अपनी आत्मकथा में कहा है ड्यूमा और स्काट से ये सभी प्रभावित हैं । कई उपन्यासकारों के पीछे राष्ट्रीयता की भावना मुख्य प्रेरणा रही है । हरिभाऊ ने तानाजी की आत्म-बलिदानी घटना को तो मुंशीजी ने 'पाटण की प्रभुता' को, पणिक्कर ने केरल वर्मा की बहादुरी को और इसी प्रकार से अन्य लेखकों ने अपनी प्राचीन गौरव गाथा के गुणगान में उपन्यास लिखे हैं ।

अब इधर प्राचीन इतिहास को नई दृष्टि से देखने का भी प्रयत्न हो रहा है । 'कलिकातार काछेई' या 'साहेब बीबी गुलाम' जैसे बँगला उपन्यासों में यही दृष्टि है । अब सारा समाज प्रधान है, व्यक्ति नहीं । पूरा उपनगर या नगर उपन्यास का प्रमुख विषय होता है । अभी हमारे देश के जीवन के कई ऐसे प्राचीन अंश भग्नावशेषों की तरह पड़े हैं, जिन पर लेखक चाहें तो बहुत लिख सकते हैं । पूरा आसाम, उड़ीसा, काश्मीर, आन्ध्र, राजस्थान, पंजाब,

मालवे का इतिहास अछूता पड़ा है। कुछ उपन्यासकारों ने जोश में आकर बौद्ध-काल या १८५७ के गदर पर ही अपना ध्यान केन्द्रित किया है, लेकिन कितने अंश हमारे प्राचीन जीवन के अप्रदर्शित पड़े हैं। निकालाओ मानुजी, निकितिन, युआनच्यांग, इब्नबतूता, अलबेरूनी, फाहियान, टैवर्नियर, बर्नियर, टामस रो और सैकड़ों यात्रियों और प्रवासियों के वर्णन अछूते पड़े हैं। किसी कुशल उपन्यासकार को इनमें बड़ा मसाला मिल सकता है। राहुल सांकृत्यायन ने 'एक विस्मृत यात्री' उपन्यास में (और 'मधुर स्वप्न' में, जो शायद अनूदित हैं) इस प्रकार की सम्भावना की ओर उपन्यास लेखकों का ध्यान आकृष्ट किया है। परन्तु बहुत कम परिश्रम से अधिक परिणाम चाहने वाले हमारे उपन्यास-कार इतिहास से अधिक कल्पना को आधार बनाते हैं।

हिन्दी साहित्य में—हिन्दी में कई ऐतिहासिक उपन्यासों के अनुवाद बँगला-मराठी आदि से आरम्भिक काल में हुए। बाद में चतुरसैन शास्त्री ने 'वैशाली की नगर-वधू' के रूप में, 'दिव्या' में यशपाल ने (अम्बापाली पर शायद हिन्दी में दो तीन उपन्यास हैं) और 'सिंह सेनापति' में राहुलजी ने बौद्धकालीन-गुप्तकालीन भारत पर उपन्यास लिखे। रांगेय राघव ने बहुत से उपन्यास ऐतिहासिक कथावस्तु के आधार पर लिख डाले। भगवतशरण उपाध्याय बहुत अच्छा ऐतिहासिक उपन्यास लिख सकते हैं—उनके पास ऐति-हासिक दृष्टि, सामग्री और शैली भरपूर है; परन्तु वे संसार के साहित्यों के इतिहास और ज्ञानकोष में लग गये। हिन्दी में इतिहासकारों में औपन्यासिक दृष्टि रखने वाले बहुत थोड़े हैं। सबसे प्रमुख और मूर्धन्य नाम डाक्टर वृन्दावन-लाल वर्मा का है। उनकी 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' क्लासिक कृति है। 'मृगनयनी' और 'गढ़ कुण्डार' उनकी सशक्त कृति है। बाद की रचनाएँ जैसे 'माधवजी सिन्धिया' या 'अहिल्याबाई' फोटोग्राफ बन कर रह गये, उनमें पोर्ट्रेट-पेंटिङ्ग की कलात्मकता कम रही। वैसे अन्य उपन्यासकारों में ओमप्रकाश का गदर पर लिखा 'साँझ का सूरज', प्रो० इन्द्र का 'शाहआलम की आँखें', यादवेन्द्र शर्मा के राजस्थान के जीवन पर ऐतिहासिक रोमान्स उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने भी गदर पर 'सोना और खून' लिखा है। 'जय यौधेय' में राहुलजी द्वारा अङ्कित कालिदास के साथ न लेखक की सहानुभूति है, न पाठक की। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' एक सजीव 'पीरियड नावेल' जान पड़ती है। उसमें इतिहास के पूरी प्रामाणिकता से लेखक ने खुली आँखों से, श्रद्धापूर्वक दर्शन किये हैं।

इस सम्बन्ध में कुछ प्रश्न उठते हैं जिनका उत्तर वांछित है:—

१—क्या उपन्यासकार को यह अधिकार है कि वह इतिहास के साथ स्वतन्त्रता ले ? यानी उसे अधिक रङ्गीन बनाए, या उसके एक ही पक्ष को उभारे, या उस पर अपने दृष्टिकोण का रङ्ग चढ़ाये ?

२—यदि उपन्यासकार इति+ह+आस (यह ऐसा हुआ) के याथातथ्य के साथ प्रमाणिक रहे तो उसमें कल्पना का अंश कहाँ तक मिलाये ?

३—जहाँ कुछ भी इतिहास में सामग्री नहीं मिलती; या जहाँ सब प्रकार के ऐतिहासिक साधन मौन हैं, उपन्यासकार की कल्पना क्या करे ?

[साहित्य-सन्देश, जनवरी-फरवरी १९५९ ।

उपन्यास की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि

[प्रो० मक्खनलाल शर्मा]

हिन्दी-उपन्यास की नवीनतम प्रवृत्तियों में मनोवैज्ञानिक मान्यता प्रमुख सिद्ध हुई है। उपन्यासों की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि को समझने के लिए यह आवश्यक है कि तत्सम्बन्धी सिद्धान्तों का सम्यक पर्यालोचन हो। मनोवैज्ञानिक मान्यताओं के अनेक आचार्यों में फ्रायड, एडलर, जुंग तथा पावलव आदि के नाम प्रमुख हैं। नीचे इन्हीं की मान्यताओं का विश्लेषण किया गया है।

महान् व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति ही महान् साहित्य होता है। व्यक्तित्व में संस्कार, विचार, देश काल और परिस्थितियों का प्रभाव ही नहीं जीवन का आदर्श भी सम्मिलित है। व्यक्तित्व निरपेक्ष न होकर समाज सापेक्ष है, जिसमें विचारधारा का प्रमुख स्थान है, जिसका उद्गम स्थान मन है। इसी मन का विश्लेषण मनोविज्ञान का प्रमुखतम मान्यताओं पर दृष्टिपात करना अनावश्यक न होगा।

मनोविश्लेषण की मनोवैज्ञानिक प्रणाली उपन्यास के लिए वरदान स्वीकार की गई है। इस प्रणाली के प्रवर्तक सिगमंड फ्रायड हैं। उपचार-गृह के अनुभवों ने उन्हें अन्तर्मन की ओर अग्रप्रेषित किया। उन्होंने मन के दो विभाग करके उन्हें चेतन और अचेतन (अवचेतन) की संज्ञा दी है। इन दोनों के मध्य में वह एक तीसरा योग भी स्वीकार करते हैं जिसकी स्थिति चेतन से कुछ पूर्व मानकर उसे पूर्वचेतन कहा है। अचेतन में प्रविष्ट होने के लिए यह पूर्वचेतन द्वार का कार्य करता है। चेतन की अपेक्षा अचेतन अधिक प्रबल और व्यापक है। परिमाण के विषय में फ्रायड विश्लेषण करते हुए बताते हैं कि चेतन से कम से कम तीन गुना अचेतन है। अचेतन की शक्ति भी इसी अनुपात से है। चेतन वह भाग है जो सामाजिक जीवन में सदैव क्रियाशील रहता है। इसकी समस्त क्रियाओं का ज्ञान मनुष्य को होता रहता है। अवचेतन की क्रियाओं का ज्ञान मनुष्य को नहीं रह पाता किन्तु वह भी निरन्तर क्रियाशील रहता है और हमारी सारी क्रियाएँ उससे प्रेरित और प्रभावित होती रहती हैं। अचेतन को हम उन इच्छाओं और क्रियाओं का समूह कह सकते हैं जो

अनेक कारणों से या समाज के डर से पूरी नहीं हो पाती हैं और चेतन मन भी संस्कारों या धर्म आदि के डर के कारण उन्हें स्थान नहीं देता है; तब वे नीचे चली जाती हैं और अवचेतन की आकार वृद्धि करती रहती हैं। ये इच्छाएँ नीचे से अपनी अभिव्यक्ति के लिए समय-समय पर प्रयत्न करती रहती हैं। नीचे से निकलते समय उन्हें अधीक्षक का सामना करना पड़ता है जो उन्हें बाहर निकालने से रोकता रहता है। यह अधीक्षक हमारी सामाजिक मान्यताओं का प्रतीक है। अपने मूल स्वरूप में जब ये नहीं निकल पातीं तो अभिव्यक्ति के लिए छद्मवेश धारण करती हैं और बाहर निकल पड़ती हैं। ये छद्मवेश ही स्वप्न, स्वप्न-चित्र और कला आदि हैं। स्वप्न की व्याख्या करते हुए फ्रायड बहुत गहराई में चले गए हैं और यह अङ्ग उनके शास्त्र का महत्वपूर्ण अङ्ग है।

मन को तीन विभागों में विभक्त करते हुए आचार्य फ्रायड बताते हैं कि इड, एगो और सुपरएगो जिन्हें इद्, अहं और अतिअहं कहा जाता है, चेतन, अचेतन और अधीक्षक से बहुत भिन्न नहीं हैं। रागों के समूह को इद् कहा गया है जिसमें अचेतन की ही प्रमुखता है। इसे हम अपनी वासना के सदृश मान सकते हैं। अहं चेतन मन है जो इद् में नीचे पड़ी हुई कुण्ठाओं के धक्के खाता हुआ सामाजिक मूल्यों के प्रति सदैव जाग्रत रहता है। अतिअहं पूर्व संचित सामाजिक मान्यताओं का प्रतिनिधि है जो आलोचना करके अधीक्षण करता रहता है। फ्रायड के अनुसार 'अहं' 'इद्' का वह भाग है जिसका निर्माण ऐन्द्रिक ज्ञानमय चेतन के माध्यम से बाह्य-जगत् के सम्पर्क द्वारा हुआ है।

'इद्' का प्रेरक सिद्धान्त है आनन्दवाद और अहं का प्रेरक सिद्धान्त है वस्तुवाद। अहं में ज्ञान की प्रधानता है और 'इद्' में वासना की प्रधानता है। हमारा अचेतन मन काम कुण्ठाओं का समूह है। ये कुण्ठाएँ काम के चारों ओर केन्द्रित हैं। इस प्रकार मूलवृत्ति काम है। इस काम वासना को लिबिडो कहा गया है। हमारी सभी व्यक्तिगत क्रियाओं तथा चेष्टाओं में भी काम के सूक्ष्म अन्तर्सूत्र विद्यमान रहते हैं। यह वृत्ति अनेक रूप धारण करती है।

फ्रायड रोग का कारण मन की ग्रन्थियाँ निर्धारित कर लेने के पश्चात् रोग का निदान उनको खोल देने (रेचन) में मानते हैं। फ्रायड के अनुसार 'मुक्त सम्बन्ध' अथवा 'मुक्त सम्बन्ध विचार प्रवाह' (Free association) शैलियाँ, इसकी अचूक चिकित्सा पद्धतियाँ हैं जिनके द्वारा अटल मन के गह्वरों में पड़े हुए विचार बाहर निकल आते हैं। अचेतन से चेतन में आजाने पर गाँठें प्रयत्न द्वारा खोली जा सकती हैं; इसी को विचारों का 'उन्नयन' कहते हैं। उस

पद्धति को कार्यकारणवाद के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है। इसके अनुसार प्रत्येक कार्य का एक निश्चित कारण है, जो ज्ञात और अज्ञात दोनों प्रकार का हो सकता है। अकस्मात होने वाले कार्य भी सर्वथा सकारण होते हैं। उनके कारण, हमारे चेतन और अचेतन दोनों में ही रहते हैं।

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रणाली का हिन्दी उपन्यास पर विशेष प्रभाव पड़ा है अतः इस पद्धति को अग्रसर करने वाले एडलर और जुङ्ग की मान्यताओं का विश्लेषण करना आवश्यक हो जाता है।

डॉक्टर एल्फ्रेड एडलर के अनुसार जीवन मूलरूप में परम्परा से प्राप्त, सोद्देश्य भावनाओं का समूह है जो उसे पूर्णता प्राप्त करने के निश्चित उद्देश्य की ओर अग्रसर करती हैं। यह क्रिया मुख्य रूप से शक्ति प्रदर्शन की भावना द्वारा अहं के सहयोग से सम्पादित होती है। जीवन के आरम्भ काल में प्रत्येक व्यक्ति अपनी निजी 'जीवन विधि' स्वीकार करके उसका विस्तार करता है जिसका विकसित रूप ही जीवन में उसको आगे बढ़ाता है। जीवन के तीन तत्त्व हैं जिनकी ओर मनुष्य की यह शक्ति प्रयत्नशील होती है जो सामाजिक सम्बन्ध, प्रेम और विवाह हैं। एडलर के अनुसार यही शक्ति प्रदर्शन की भावना 'लिविडो' है। एडलर फ्रायड के समान काम की ही प्रधानता स्वीकार नहीं करता वरन् उसे शक्ति प्रदर्शन की भावना का एक अङ्ग या सहायक समझता है। जीवन के प्रारम्भ काल से ही बच्चे को अपने बड़ों के ऊपर निर्भर रहना पड़ता है जिससे उसमें हीनता की भावना का उदय हो जाता है, इसको एडलर हीनता की ग्रन्थि कहते हैं जिसकी प्रतिक्रिया स्वरूप बच्चा अपूर्व शक्ति-संचय करना चाहता है किन्तु उसकी आर्थिक और सामाजिक कठिनाइयाँ तथा देश, काल और परिस्थितियों आदि से उत्पन्न विषमताएँ इन भावनाओं को पूर्णरूपेण प्रस्फुटित नहीं होने देती हैं। अतः वह अपनी अभिव्यक्ति के लिए अन्य मार्ग खोजती हैं जिनमें इस प्रकार के प्रतिबन्ध न हों। दूसरी मूलभूत भावना 'उच्चता की ग्रन्थि' है जो परिवार के बड़े लड़के, राजपुत्रों और सामन्तों आदि में अपनी चरम सीमा तक विकसित हो जाती है। प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी से उच्च बनना चाहता है। सृष्टि के प्रारम्भ काल से ही पुरुष कुटुम्ब का नेता रहा है और उसी में शक्ति निहित रही है। अतः पुरुषत्व को शक्ति का स्रोत समझकर ही स्त्रियाँ उनके समकक्ष अपना स्थान बनाने की चेष्टा में व्यस्त हैं और इसीलिए बच्चे भी बाप का स्थान ग्रहण करने के लिए उत्सुक रहते हैं।

समान दृष्टियों वाले एडलर और फ्रायड यद्यपि एक ही क्षेत्र के अनुसन्धानकर्त्ता हैं किन्तु उनकी उपलब्धियों में कुछ मूलभूत अन्तर भी पाये जाते हैं। जहाँ फ्रायड चेतन को भी मान्यता देता है वहाँ एडलर केवल अचेतन को ही समस्त भावनाओं का उदगम स्थान बताता है। दूसरे वह काम भावना को प्रमुख पद प्रदान नहीं करता है। वाह्य जीवन की क्रियाओं पर यदि दृष्टि डाली जाय तो फ्रायड सीमित और एडलर सत्य तथा व्यापक दृष्टिकोण वाले मनोवैज्ञानिक सिद्ध हो जाते हैं।

जुङ्ग ने १९२२ में मनोविज्ञान के क्षेत्र में अपनी सर्वोत्तम मान्यता प्रस्तुत की। यद्यपि प्रारम्भ से वह फ्रायड का शिष्य था किन्तु आगे चलकर उसने समन्वयवादी दृष्टिकोण स्वीकार किया और फ्रायड की काम भावना तथा एडलर की शक्ति प्रदर्शन भावना के अपूर्व संयोग को लिविडो कहा। उसने संसार भर के व्यक्तियों को दो भागों में विभक्त किया है और उन्हें बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी संज्ञा दी है। बहिर्मुखी वे व्यक्ति होते हैं जिनकी मूल प्रवृत्ति बाहर (वाह्य जगत) की ओर होती है। उनकी इच्छाओं का केन्द्र बहिर्जगत है जबकि अन्तर्मुखी इसके विपरीत अपने ही अन्तर्जगत में अपना केन्द्र स्वीकार कर लेते हैं। अपने जीवन के मुख्य तत्त्व और सन्तोष वह एक ऐसे कल्पनालोक में पाते हैं जिसे वह अपनी इच्छानुकूल निर्मित कर लेते हैं। जुङ्ग के अनुसार 'जीवन शक्ति' दो दिशाओं में बहती है जो वाह्य और आन्तरिक कहलाती है। दोनों प्रकार की जीवन शक्ति बुद्धिवाद का स्वरूप ग्रहण कर सकती है जो वाह्य मूल्यों द्वारा संचालित होती है। यह 'अबुद्धिवादी क्रियाओं' का स्वरूप धारण कर सकती है, जो घटना, अवसर विशेष और बुद्धि से परे की भावनाओं द्वारा संचालित होती है। 'बुद्धिवादी प्रक्रिया' को वह दो रूपों में विभक्त करता है जो विचार और भावना हैं। अबुद्धिवादी या बुद्धि से ऊपर की क्रिया को वह अनुभव और प्रातिभज्ञान में विभक्त करता है। इनमें से प्रथम दो विचार और भावना, बुद्धि और उसके निर्णयों से संचालित रहते हैं किन्तु शेष दो अनुभव और प्रातिभज्ञान ऐन्द्रिकज्ञान की गहनता से संचालित रहते हैं, न कि बुद्धि द्वारा। इस प्रकार प्रत्येक वर्ग (अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी) चार विभागों में विभक्त किया गया है जो विचार, भावना, अनुभव और प्रातिभज्ञान हैं। लिविडो सम्बन्धी जुङ्ग की मान्यताएँ उसे अध्यात्मवादियों की कोटि तक ले जाती हैं। वे लिविडो को काम भावना से ऊपर मानते हैं। उदात्त भावनाओं में लिविडो ही बीज रूप में रहती है। लिविडो ही ब्रह्म है जिसमें

सारे विश्व की मूलभूत भावनाओं का बीज है। लिविडो को यदि हम विश्व भावनाओं का समष्टि रूप कहें तो स्थिति स्पष्ट हो जाती है।

सम्वद्ध-प्रत्ययवाद (Conditioned Reflexes) के प्रवर्तक रूसी मनोवैज्ञानिक पावलव महोदय हैं; जिनके अनुसार प्रत्येक वस्तु सम्बद्ध है। ज्ञान भी वातावरण से प्रभावित और सम्वद्ध होता है, उन्होंने अनेक कुत्तों को पालकर यह अनुभव किया था कि खाने के निश्चित समय पर घण्टी बजते ही कुत्ते की लार टपकने लगती है। कुत्ता अपने आप विचार करके रोटी की कल्पना में मग्न हो जाता है किन्तु यह समस्त वाह्य परिस्थितियों से सम्बन्धित ज्ञान हुआ। इससे सिद्ध किया गया है कि ज्ञान की किसी भी शाखा पर विचार करते समय भी जीवन की सापेक्षता में उसे ग्रहण करना चाहिए और कला का सम्बन्ध मानव-जीवन के अन्य शास्त्रों से अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

अवयवीवाद के प्रवर्तक कर्क कोफका हैं। उनकी मान्यता के अनुसार किसी भी वस्तु का पूर्ण बिम्ब हमारे समक्ष उपस्थित होता है। कविता में भी पूर्ण चित्र आता है, खण्ड चित्र नहीं, कोफका महोदय यह मानते हैं कि आगे उस चित्र के खण्ड किए जा सकते हैं। सौन्दर्य इस मान्यतानुसार अवयवी है न कि अवयव। यह मत १९ वीं शती के चिन्ताणुवाद (Amtomism) के विरोध में प्रस्तुत किया गया है। चिन्तगुावाद के अनुसार कला के अलग-अलग तत्त्वों पर विचार किया जाता है, पूरी वस्तु पर एक साथ विचार नहीं होना चाहिए। कोफ़का महोदय तथा उनके समर्थक कोलहर महोदय जिन्होंने 'जेस्टाल्टमत' चलाया, सिद्ध करते हैं कि काव्य में चित्र और अनुभूतियाँ पूर्ण रूप में ही हमारे सामने आती हैं, खण्डित स्वरूप में नहीं। जब पूर्ण स्वरूप को ही दूरी से दिखाया जाता है तो बड़ा करके दिखाते हैं अतः अत्युक्ति में भी यही सिद्धान्त कार्य करता है।

मनोविज्ञान के इन मूलभूत सिद्धान्तों का काव्य और विशेषतः हिन्दी उपन्यासों के साथ जो व्यापक सम्बन्ध है, उसे निम्नसूत्रों से दिखाया जा सकता है।

(१) सारा जीवन आनन्द के लिए प्रयत्नशील है और इसी के अनुसार हमारा उपन्यास भी आनन्द (रस) हेतु निर्मित किया जाता है।

(२) बुद्धि और राग दोनों का संङ्घर्ष होता रहता है जिससे सभ्यता और कला आदि का विकास होता है। विवेक और राग के असामञ्जस्य के फलस्वरूप विकृतियाँ और कुण्ठाएँ उत्पन्न होती है जिनका निराकरण 'अहं के समाजीकरण (उन्नयन) द्वारा होता है। उपन्यास भी यही कार्य करता है।

(३) फ्रायड के अचेतन मन के अन्वेषण ने मानव मनोविश्लेषण का एक नया संसार निर्मित कर दिया है, व्यक्ति और समाज की अनेक समस्याएँ जिन पर अब तक अन्धकार था, नया प्रकाश पड़ने लगा है। साहित्य निर्माण तथा मूल्याङ्कन की नवीन विधाएँ चल निकली हैं। काल की वृत्ति को मूलभूत रूप में स्वीकार कर लेने से रागतत्व और रागात्मक सम्बन्धों की मनोवैज्ञानिक व्याख्या की जा सकती है। फलस्वरूप जीवन में बौद्धिक मूल्यों की प्रतिष्ठा स्थापित हो सकी है।

(४) फ्रायडवाद के प्रभाव स्वरूप अज्ञेय आदि प्रयोगवादी कलाकारों ने भावतत्व और सहजानुभूति के बीच का सम्बन्ध तत्त्व राग की अपेक्षा बुद्धि को ठहराया है। फलस्वरूप ये काव्य उच्चकोटि के काव्य की सीमा से बाहर हो गया है। यदि बौद्धिकता और कामकुण्ठाओं को रागात्मक सम्बन्धों के माध्यम से व्यक्त किया जाता तो निस्सन्देह 'मनोवैज्ञानिक उपन्यास' हिन्दी का सौभाग्य होता किन्तु मूलभूत त्रुटि तो फ्रायड के दर्शन में ही है, बेचारे कलाकारों का कोई दोष नहीं है, जो केवल अन्धानुकरण मात्र कर रहे हैं।

(५) मनोविश्लेषण की प्रणाली का प्रवर्तक होता हुआ भी फ्रायडवाद असामाजिक जीवन दर्शन है। कॉडवेल उसे परम्परागत चारित्रिक मान्यताओं (morality) धार्मिक दुर्वलताओं, पाखण्डवाद आदि की पोल खोलने वाला स्वीकार करते हुए भी भ्रमात्मक मानकर अपना तर्क प्रस्तुत करता है कि फ्रायड का लिविडो अपरिवर्तनीय है। उसके अनुसार प्रवृत्ति का उदात्तीकरण होता है परिवर्तन नहीं। फ्रायड सभी प्रकार के प्रेम को 'काम' के अन्तर्गत स्वीकार करता है जबकि हमारे शास्त्रों और कवियों में 'रति' के अनेक रूप हैं। जैसे देशभक्ति, ईश्वर भक्ति आदि। कॉडवेल फ्रायड के मत को अस्वीकार करता हुआ कहता है कि मिट्टी का गुलाब बन जाना परिवर्तन है उदात्तीकरण नहीं है।

(६) फ्रायडवाद ने अतिवादी प्रगतिशील कलाकारों और आलोचकों द्वारा साहित्य को 'प्रोपेगेण्डा' होने से बचाया है तथा उसके अन्तर्मुखी स्वरूप को यथेष्ट बल दिया है।

(७) फ्रायड आदि की मुक्त-सम्बन्ध-शैली को कथाकारों और कवियों ने ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है जिससे बिम्ब पूरे न आकर खण्ड रूप में और असम्बद्ध होकर आते हैं।

(८) एडलर के अनुसार कथा-काव्य में कुछ पात्र हीन भावना-ग्रन्थि और अन्य उच्च भावना ग्रन्थि के प्रतीक होकर सामने उपस्थित किए जाते हैं।

एक सीमा तक यह साहित्य उचित दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है किन्तु अपने अतिवादी रूप में गर्हित और अस्पृहणीय बन जाता है।

(९) फ्रायड जिस Super ego को कामेच्छा मानता है। जुंग उसी को उच्च स्तरीय मूल चेतना कहता है। इसी को अध्यात्मवादी ब्रह्म कहते हैं। सौन्दर्य के उदात्तीकरण का मूल कारण यही Super ego है। जुंग इसी आधार पर कला को 'लोकोत्तर' बना देता है। जुंग की मान्यता भारतीय अध्यात्मवाद के अनुसार संगति युक्त है।

(१०) साहित्य का आधार सिद्धान्त 'रसवाद' है जिसमें विभाव, अनुभाव और संचारी भावों का संयोग महत्वपुर्ण है। आधुनिक मनोविज्ञान इस विभाव, अनुभाव और संचारी भावों की व्याख्या करता हुआ बताता है कि ये 'सम्बद्ध वातावरण' (Conditioned Reflexes) के अन्तर्गत आ जाते हैं, और इस प्रकार पावलव महोदय का मत हमारे 'रसवाद' को मान्यता देकर समाज विरोधी साहित्य की मनोवृत्ति को प्रश्रय न देकर, समाजवादी दृष्टिकोण को स्वीकार करने में सहायक सिद्ध होता है।

(११) मनोविज्ञान का आज की सभी साहित्य-विधाओं पर व्यापक प्रभाव पड़ रहा है, और सब मिलाकर यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता हैं कि मनोविज्ञान के विकास ने औपन्यासिक विकास में सहायता दी है और इसके लिये उपन्यास मनोविज्ञान का ऋणी है।

[साहित्य-सन्देश, अप्रेल १९५८।

उपन्यास में मनोविज्ञान

आचार्य विश्वप्रकाश दीक्षित 'बटुक'

उपन्यास में मनोविज्ञान का स्थान निर्धारित करने के लिए हमें यह जानना आवश्यक होगा कि उसमें पात्रों का स्थान क्या है क्योंकि मनोविज्ञान का प्रत्यक्ष सम्बन्ध पात्रों से है। पात्र उपन्यास के सात तत्त्वों में से एक है। वे सब तत्त्व एक दूसरे के साथ इतना घनिष्ट सम्बन्ध रखते हैं कि उनमें से किसी एक तत्त्व को प्रमुखता और महत्ता प्रदान करना श्रेयस्कर नहीं हो सकता। बल्कि हमें यह भी देखना होगा कि वे तत्त्व एक दूसरे से इतने अभिन्न हैं कि इस प्रकार की प्रमुखता और महत्ता से पूर्व किसी विशेष तत्त्व को भिन्न करना उपन्यास की कला पर आघात ही होगा। परन्तु उपन्यास साहित्य की उन विधाओं में से है जो जीवन के अत्यन्त समीप हैं। 'मैथ्यू आर्नल्ड' की साहित्य सम्बन्धी वह व्याख्या और परिभाषा जिसमें वह कहता है कि "साहित्य जीवन की व्याख्या है" उपन्यास पर पूर्णरूपेण घटित होती है। इस कारण उपन्यास पात्रों से विशेष सम्बन्ध रखता है क्योंकि वह पात्रों के जीवन की व्याख्या है। हमारे हिन्दी जगत के विद्वानों ने भी उपन्यास की परिभाषा व्यक्त करते हुए पात्रों को विशेष महत्ता दी है। बाबू गुलाबराय की परिभाषा भी यही है कि "उपन्यास मानव जीवन का चित्र है।" मुन्शी प्रेमचन्दजी के मतानुसार हम उनके विचारों को इन शब्दों में स्पष्ट हुए पाते हैं "मैं उपन्यास को मानव चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है।" इन परिभाषाओं में हमारे ये विद्वान पात्रों के चरित्र-चित्रण को विशेष महत्ता प्रदान करते हैं। परन्तु श्यामसुन्दरदासजी ने उपन्यास की जो परिभाषा निश्चित की है कि "उपन्यास मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा है" उसमें कथावस्तु को ही अधिक महत्ता दी गई है। इसके अनुसार स्वभावतया ही कुछ मतभेद हमारे सामने प्रस्तुत हो जाता है और जब हम श्यामसुन्दरदासजी के उपन्यास सम्बन्धी चार कोटियों का निर्धारण देखते हैं तो यह विवाद कि महत्ता पात्रों को मिलनी

चाहिए या कथावस्तु को अथवा अन्य किसी तत्त्व को और भी प्रखर हो जाता है। उन्होंने उपन्यासों की चार कोटियाँ मानी हैं—

१—घटना प्रधान।

२—सामाजिक।

३—अन्तरङ्ग।

४—देशकाल सापेक्ष तथा निरपेक्ष।

इस विभाजन में यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उपन्यास की एक विशेष कोटि, अर्थात् 'अन्तरङ्ग जीवन सम्वन्धी' ऐसी है जिसमें पात्रों का चरित-चित्रण प्रमुख स्थान प्राप्त करता है। परन्तु अन्य तीन कोटियों में कहीं घटना और कथावस्तु प्रधान हैं और कहीं सामाजिक परिस्थितियाँ और कहीं देशकाल सम्वन्धी वातावरण। 'हडसन' ने उपन्यास की कला सम्बन्धी एक विशेष बात हमारे समक्ष रखी है कि घटना और पात्रों का समुचित संकलन होना चाहिए। परन्तु यहाँ प्रश्न उठता है कि दो तत्त्वों का ऐसा सङ्कलन जिसकी ओर हडसन ने संकेत किया है, किस प्रकार सिद्ध हो सकता है? हडसन इस प्रश्न का उत्तर कुछ इस प्रकार देते हैं कि घटनाओं पर पात्रों का नियन्त्रण होना चाहिए। इससे घटनाओं का प्रवाह नियन्त्रित गति से आगे बढ़ता हुआ दिखाई देगा जो उपन्यास की कला को यथेष्ट रूप से उत्कृष्ट बना देगा। यदि हम इस बात को स्वीकार करें तो यह बात सिद्ध हो जाती है कि उपन्यास में पात्रों की ही प्रधानता होगी।

परन्तु इस प्रकार की स्वीकृति हमारे प्रश्न को हल करने में सहायक नहीं हो सकती। और हमारे वास्तविक जीवन का यह प्रश्न हमारे समक्ष उदय होता हुआ दिखाई देता है कि सृष्टि पूर्व निर्धारित है अथवा व्यक्तियों का सङ्कल्प स्वतन्त्र है? यदि सृष्टिक्रम को पूर्व निर्धारित मान लिया जाए तो उस अवस्था में व्यक्तियों के कर्त्ता पात्र हमें असमर्थ दिखाई देंगे। दूसरी ओर यदि व्यक्तियों के सङ्कल्प को स्वतन्त्र मान लिया जाए तो पात्र न केवल परिस्थितियों के निर्माता दृष्टिगोचर होंगे अपितु परिस्थितियों के संचालक भी। पात्रों के सङ्कल्प को स्वतन्त्र मानने वाले हमारे कुछ आलोचकों ने पात्रों से उपन्यासकार के विरुद्ध विद्रोह करवाया है जैसा कि श्री नगेन्द्रजी ने 'वाणी के न्याय मन्दिर' शीर्षक वार्तालाप में प्रेमाश्रम के एक पात्र ज्ञानशङ्कर द्वारा प्रेमचन्दजी के प्रति कई अभियोग लगाये हैं। प्रेमाश्रम में मुन्शी प्रेमचन्दजी ने बिना कोई विशेष

कारण दिये ज्ञानशङ्कर द्वारा आत्महत्या करवाई है। वहाँ प्रेमचन्दजी का यह प्रलोभन हमें दिखाई देता है कि वह घटनाओं को एक विशेष दिशा की ओर मोड़ना चाहते हैं। वह गांधीवाद से प्रेम रखने वाले अन्य कुछ पात्रों को आदर और सम्मान प्रदान करने के हेतु ज्ञानशङ्कर में आत्महत्या की प्रवृत्ति का आधार दरसाए बिना उसे आत्महत्या करवा देते हैं। घटनाओं के लिए ऐसा प्रलोभन उपन्यास के लिए अवश्य ही अनिष्टकर है। इसीलिए तो थैकरे ने भी कहा है कि मैं अपने द्वारा निर्माण किए गये पात्रों के हाथ की कठपुतली बन जाता हूँ और वह मुझे कहाँ किस ओर ले जाते हैं इसका मुझे ज्ञान नहीं रहता। हमने कुछ उपन्यासों में देखा कि लेखक घटनाओं के चक्कर में आकर पात्रों को किसी विशेष परिस्थिति में विशेष स्थान पर प्रस्तुत कर देता है। ऐसी स्थितियाँ न केवल वास्तविक जीवन से बहुत परे होती हैं बल्कि वे पाठकों को अरुचिकर भी प्रतीक होती हैं। कारण, उपन्यासकार के हाथ की कठपुतली बने हुए पात्र सजीव पात्र नहीं होते और वह जीवन की वास्तविक व्याख्या करने में सर्वथा असमर्थ होते हैं। सजीवता और वास्तविक जीवन में दैवयोग सम्बन्धी घटनाओं का भले ही अपना निजी अस्तित्व हो परन्तु जीवन का एक बड़ा भाव हमें अपने द्वारा निर्मित परिस्थितियों में ही उलझाने वाला दिखाई देता है और यह बात तो सर्वथा स्पष्ट ही है कि उन सङ्कल्पों के निर्माता हम स्वयं ही होते हैं जो ऐसी परिस्थितियों और घटनाओं का निर्माण करते हैं। इस प्रकार हमें पात्रों की प्रधानता स्वीकार करनी पड़ती है और उसके साथ ही पात्रों की सजीवता भी।

परन्तु सजीव पात्र कौन हो सकते हैं? श्यामसुन्दरदासजी ने कहा है कि "पात्रों पर एक वास्तविकता का परिधान होना चाहिए। उपन्यास के पात्रों के प्रति हमारा स्नेह, ईर्ष्या, द्वेष, उसी प्रकार उत्पन्न हो कि जिस प्रकार हमारे वास्तविक जीवन से सम्बन्ध रखने वाले अन्य व्यक्तियों के प्रति हमें होता है।" यह बात सत्य है कि उपन्यास के पात्र हमें उपन्यास के पृष्ठों में घूमते और चलते फिरते दिखाई देने चाहिए। उपन्यास पढ़ लेने के पश्चात् भी हमें उनका स्मरण उसी प्रकार रहना चाहिए मानो हमारे जीवन से सम्बन्ध रखने वाले व्यक्ति ही थे। सजीव पात्रों में विकास और ह्रास, उत्थान और पतन, प्रभावोत्पादन और प्रभावग्रहण स्पष्ट व्यक्त होने चाहिए। चाहे वह परिस्थितियों का स्वयं ही निर्माण करें परन्तु वह मकड़ी के जाल के समान अपने द्वारा निर्मित घटनाओं से प्रभावित होते हुए भी दिखाई दें। इसलिए उनके चरित्र में किसी

प्रकार का भी परिवर्तन युक्तियुक्त तो होना आवश्यक है। चरित्र के परिवर्तन के लिए उपन्यासकार दो प्रकार के कारणों में से किसी को उपस्थित कर सकता है। वे कारण हैं—

१—दैवयोग सम्बन्धी घटनायें।

२—उसके मानस-पटल के स्तर को क्रमानुसार उभारते जाना अथवा उसकी कुछ विशेष प्रवृत्तियों को एक-एक करके विकास प्रदान करना।

दैवयोग सम्बन्धी घटनाओं का बाहुल्य कथानक को अवास्तविक बना देगा परन्तु इस बात में सन्देह नहीं कि चरित्र के परिवर्तन में ये घटनायें अपना विशेष स्थान रखती हैं। यदि चरित्र परिवर्तन की इन दो विधाओं को हम स्वीकार कर लें तो उसके फलस्वरूप यह भी स्वीकार करना होगा कि उपन्यास में मनोविज्ञान विशेष स्थान रखता है।

इसके पश्चात् एक दूसरा कारण भी है, जिसने आधुनिक युग के उपन्यासों में मनोविज्ञान को स्थान देने में सहायता की है। आज का जीवन कोलहल और सङ्घर्ष से परिपूर्ण है। बाहर के कोलाहल और सङ्घर्ष से पीड़ित व्यक्ति अन्तर्मुखी हो गया है। उसकी भावनायें अन्तःजगत् का विश्लेषण करने के लिए अधिक समर्थ और क्रियाशील हो गई हैं। हम जीवन से सम्बन्ध रखने वाले अन्य व्यक्तियों के उद्देश्यों को जानने का प्रयत्न करते हैं और इसको छिपा रखने की कला भी आज के युग के मानव ने खूब सीखी है। राजनैतिक नेता स्टेज पर खड़ा होकर विश्वशान्ति और देशकल्याण की बातें करता है परन्तु अपने निजी उद्देश्य....वोट प्राप्त कर सत्तारूढ़ होना....आदि को व्यक्त नहीं करना चाहता। सामाजिक व्यक्ति देव आराधना के लिए मन्दिर में जाता है परन्तु अपने कारोबार के ग्राहक बनाने की और अपने लिए सम्मानित स्थान प्राप्त करने की महत्वाकांक्षा को व्यक्त नहीं करता। इस प्रकार जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्यक्ति का बाह्य उद्देश्य कुछ और किन्तु अन्तर उद्देश्य कुछ भिन्न ही दिखाई देता है। इसी कारण जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उद्देश्यों की खोज के लिए दौड़ धूप लगी हुई है। व्यक्ति के अन्तर्मन के उद्देश्यों ने विशेष महत्ता भी प्राप्त करली है। न्यायाधीश का निर्णय निर्धारण इस बात पर आधारित होता है कि अभियुक्त ने किसी को मार डालने की इच्छा से मारा है अथवा आत्मरक्षा की इच्छा से। जासूस अपराधी के अन्तर्मन के उद्देश्य को जानना चाहता है ताकि वह उसके कृति सम्बन्धी कार्य कारण को समझ सके। जीवनी-लेखक

और इतिहास-लेखक की बुद्धि इस बात पर केन्द्रित रहती है कि वह जिस जीवन सम्बन्धी घटनाओं को अङ्कित कर रहा है उस जीवन के प्रमुख उद्देश्य क्या थे ? उसके सब कार्य जानबूझकर किए गए अथवा अनजाने ही ? इन उद्देश्यों की खोज उपन्यास में उपन्यासकार मनोविज्ञान-विश्लेषण द्वारा ही प्रदर्शित कर सकता है।

यह नहीं कहा जा सकता कि घटना प्रधान सामाजिक अथवा देशकाल सम्बन्धी उपन्यासों में मनोविज्ञान के लिए स्थान ही नहीं। वस्तुतः उनमें मनोविज्ञान न्यूनाधिक मात्रा में निहित ही रहता है। जिस उपन्यास का निर्माण केवल कौतूहल को शान्त करने के लिए ही हुआ हो उसमें भी हम देखते हैं कि लोभ सम्बन्धी निकृष्ट उद्देश्यों की हीनता और मान और प्रसिद्धि प्राप्त करने सम्बन्धी सूक्ष्म उद्देश्यों की प्रधानता मिलती है। फिर घटनाचक्र भी पात्रों के एक-दूसरे पर प्रभाव डालने के कारण उत्पन्न हो सकता है और पात्रों का यह प्रभाव उनके व्यक्तित्व में छिपा हुआ है। इन पात्रों का व्यक्तित्व उनके उद्देश्यों से कदापि भिन्न नहीं हो सकता। इसलिए घटना प्रधान और अन्य प्रकार के उपन्यास की कोटियों में भी उपन्यासकार को अपनी बुद्धि मनोविज्ञान पर केन्द्रित करनी पड़ती है।

यहाँ तक तो विवेचन हुआ उपन्यास में मनोविज्ञान के महत्वपूर्ण स्थान का। अब दो-चार बातें उसकी मात्रा पर भी कह देना अप्रासङ्गिक न होगा। उपन्यासकार को मनोविज्ञान के नियमों को आधारभूत तो अवश्य मान कर चलना चाहिए, परन्तु उनसे अपनी विचार-परम्परा को जकड़ लेना उचित नहीं है। सभी घटनाओं और सभी भावों के सम्बन्ध में मनः शास्त्र से संश्रय रखने की चेष्टा से कहानी आरोचक और अस्वाभाविक हो जावेगी। क्योंकि मनुष्य के मन पर मनोविज्ञान के नियमों की अखण्ड सत्ता नहीं देखी जाती। मनः-शास्त्र में जिस कारण से जैसे कार्य की उत्पत्ति होना वर्णित है, उस कारण से कभी-कभी वैसा कार्य नहीं उत्पन्न होता। अतः मनुष्य का मानसिक भाव उसे जिस अवस्था की ओर ले जाय, उसी का वर्णन करना चाहिए। इस बात की चिन्ता न करनी चाहिए कि मनोविज्ञान के अनुसार तो ऐसी अवस्था प्राप्त ही नहीं हो सकती। घटना-चक्र के निदर्शन और भाव-चित्रण के मूल में मनोविज्ञान प्रच्छन्न रूप में ही रहना चाहिए।

घटना विस्तार और चरित्र-चित्रण करने में मानस-शास्त्र का आधार अवश्य लेना चाहिए पर उतना ही जितने से मानव-मन की स्वाभाविक गतियों

को गर्त में गिरने से बचाया जा सके। यह ध्यान रखना चाहिए कि सब के मन एकसे नहीं होते, सब की ज्ञानेन्द्रियों की ग्राहिका शक्ति भी एकसी नहीं होती। अतः जिसके मन में मानसिक भावों का विकास करना है, उसके संस्कारों की, उसकी तत्कालीन अवस्था की, उसके आसपास की व्यवस्था की, आलोचना करनी चाहिए। देखना यह चाहिए कि ऐसे समय और ऐसी परिस्थिति में ऐसे मनुष्य के मनोगत भाव किस प्रकार के होंगे। तद्नुकूल ही उनका विकास करना चाहिए। अन्यथा उपन्यास हास्यास्पद होगा, अस्वाभाविक होगा और नीरस शास्त्र मात्र होकर रह जायेगा।

[साहित्य-सन्देश, नवम्बर १९५५।

आधुनिक हिन्दी-उपन्यास में मनोविज्ञान

[श्री इलाचन्द्र जोशी]

हिन्दी में हम पहले-पहल सूरदास और तुलसीदास की कृतियों में मनोवैज्ञानिकता का आभास पाते हैं। पर ये दोनों कवि बहुत से दृष्टिकोणों से महान् रचयिता होते हुए भी गहरे स्तर के मनोवैज्ञानिक चमत्कार नहीं दिखा पाए। फिर भी जिस मध्यम स्तर की मनोवैज्ञानिकता का निदर्शन उन्होंने किया है वह उस युग की बौद्धिक जड़ता को देखते हुए कम प्रशंसनीय नहीं है। उस जड़ मध्ययुग में उन्होंने मानव मनोद्वेगों के जिस ज्ञान का परिचय दिया वह उन्नीसवीं सदी के यूरोपियन कथाकारों की अपेक्षा अधिक उन्नत था, आधुनिक युग में शरत्चन्द्र का मनोविज्ञान भी उनके आगे कहीं ठहर नहीं पाता। सूरदास ने राधा और कृष्ण के बाल्यकाल से आरम्भ करके उनकी परिणत यौवनावस्था तक की प्रेम-लीला का जो भावपूर्ण और मनोवैज्ञानिक वर्णन किया है, वह इतना हृदयग्राही और मार्मिक है कि उसे देखते हुए शरत्चन्द्र की सारी विशेषताएँ फीकी जँचने लगती हैं। तुलसीदास ने रामचरितमानस के अयोध्याकाण्ड में मानव के स्वार्थ और परार्थ, प्रेम और घृणा तथा अन्तरात्मा की परस्पर विरोधी उलझनों के संघर्ष और विघर्ष का जो मार्मिक और विस्फोटात्मक वर्णन किया है (जिसकी चरम परिणति भरत के चरित्र-चित्रण में हुई है) वह मध्य-युग में शेक्सपीयर और उन्नीसवीं सदी में डास्टाएवस्की के मनोवैज्ञानिक संघात विघातात्मक चित्रण से किसी अंश में भी न्यून नहीं है, बल्कि अधिक उन्नत है—इसलिए कि उसका ध्येय उनकी तुलना में अधिक कल्याणकारी है।

सूरदास और तुलसीदास के बाद रातिकालीन कवियों ने मानव-मन के एक दम ऊपरी स्तर की छिछली रागात्मक प्रवृत्तियों के सारहीन स्वरूप का वर्णन किया और उसी में उनकी शब्दजाल-पूर्ण कविता-कला की सारी चातुरी समाप्त हो गई। द्विवेदी-युग में तो अन्तर-विज्ञान के क्षेत्र में कवियों और लेखकों का जैसे दिवाला ही निकल गया।

छायावाद के युग में अन्तरवैज्ञानिकता की ओर कवियों का झुकाव फिर से दिखाई दिया। पर इस युग में मानव की अन्तर्प्रवृत्तियों के निरपेक्ष विवेचन और विश्लेषण के बजाय कवियों ने अपने मन के उद्वेगों का मुक्त उद्गार ही अधिक व्यक्त किया। पर छायावाद युग की कविताओं का मनोविज्ञान अपनी प्रारम्भिक अवस्था में था। इधर कुछ नवीन कवियों ने अपनी अति-प्राकृत (Surrealist) कविताओं में जिस बाहरी कोटि की मनोवैज्ञानिकता का परिचय दिया है वह वास्तव में हिन्दी कविता के बहुत उज्ज्वल भविष्य की ओर संकेत करता है, हाल में अज्ञेयजी ने तारसप्तक नाम से एक कुछ नवीन कवियों की कविताओं का संकलन प्रकाशित कराया है। जिसमें स्वयं उनकी भी सुन्दर और महान् मनोवैज्ञानिक कवितायें हैं।

कथा-साहित्य के क्षेत्र में द्विवेदी-युग के समाप्ति-काल में प्रेमचन्दजी का आविर्भाव हुआ। प्रेमचन्दजी ने अपनी रचनाओं में मनोविज्ञान को किंचित प्रश्रय देने का प्रयास अवश्य किया; पर अव्वल में जिस स्तर के मनोविज्ञान को वह प्रश्रय देना चाहते थे वह यों भी अत्यन्त छिछला और केवल ऊपरी सतह को छूने वाला था, तिस पर वह ऊपरी सतह के मनोविज्ञान को भी ठीक से अपना नहीं पाए। इसका कारण स्पष्ट था। वह मानव-जगत् के वाह्य संघर्षों से इस कदर प्रभावित थे, और उनके विवेचन में इस हद तक उलझे हुए थे कि अन्तर्संघर्षों की ओर ध्यान देने का अवकाश ही उन्हें नहीं था। उनके समस्त उपन्यासों में अधिकतर वाह्य जीवन के आघात-प्रघातों के ही चित्रण मिलते हैं—अन्तर्प्रवृत्तियों के आधार से रहित। यही कारण है कि जिस उन्नत 'मिशन' को लेकर वह चले थे उसे वास्तविक अर्थ में पूरा करने में वह एक दम असफल रहे। क्योंकि उसी वाह्य जीवन-चक्र का चित्रण सच्ची सफलता प्राप्त कर सकता है जो अन्तर्जीवन-चक्र पर आधारित हो; उसी प्रकार अन्तर्जीवन की वही प्रगति श्रेयोन्मुखी हो सकती है जो वाह्य जीवन की प्रगति से निश्चित सम्बन्ध स्थापित किये हुए हो। वाह्य और अन्तर—दोनों जीवनों की प्रगतियाँ एक-दूसरे से अन्योयाश्रित सम्बन्ध रखती हैं। जो भी लेखक इन दोनों में से किसी एक को अपनाकर दूसरे की अवज्ञा करेगा उसकी एकांगीयता निराधार और निरर्थक सिद्ध होगी। प्रेमचन्दजी ने ग्रामीण जीवन के चित्रण में चाहे कैसी ही सफलता क्यों न पाई हो, और किसानों और जमींदारों का संघर्ष चाहे कैसी ही तीव्रता के साथ अपनी रचनाओं में प्रदर्शित क्यों न किया हो, इस ध्रुव, निश्चित और

सुस्पष्ट सत्य को उनके सैकड़ों, बल्कि हजारों, स्वपक्षी स्वयं श्री आलोचक भी दबा नहीं सकते कि औपन्यासिक कला के चमत्कार-प्रदर्शन में और जीवन के किसी भी मार्मिक सत्य के उद्घाटन में वह पूर्णतया असफल रहे। हिन्दी में उनके समय तक उपन्यास-साहित्य प्रायः शून्य होने के कारण उन्होंने बहुत बड़े अंश तक उसकी पूर्ति की, इसका श्रेय उनको है, और इसके लिए वह आदरणीय रहे हैं और रहेंगे। पर आज भी, जबकि हिन्दी का उपन्यास-साहित्य लम्बी छलाँगें भरकर बहुत आगे बढ़ चुका है, यदि हम लोग कुछ न्यस्त स्वार्थ वाले, गुटों तथा व्यक्तियों का अनुकरण करते हुए उन्हें 'महान् कलाकार' तथा 'उपन्यास सम्राट' के विशेषणों से विभूषित करते हुए उनमें उन गुणों का आरोप करते हुए चले जावें जो उनमें नहीं थे, तो निकट भविष्य में यह मूर्खता वैसी ही हास्यास्पद सिद्ध होगी; जैसी द्विवेदी-युग के उन आलोचकों की नासमझी छायावादी युग में सबके आगे उपहास-योग्य प्रमाणित हो गई जिन्होंने गुप्तजी की 'भारत-भारती' को काव्य-कला की एक अत्यन्त महान् कृति घोषित करने में कोई बात उठा नहीं रखी थी। 'भारत-भारती' में भी प्रेमचन्दजी की रचनाओं की ही तरह भारत की दुर्दशा का वर्णन करते हुए दलित और शोषित वर्ग की दुर्दशा के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित की गई थी। पर इस बात से आज सभी एकमत हैं कि यह रचना, कला की किसी भी परिभाषा के अन्तर्गत नहीं आती और इस कारण हर दृष्टि से वह महत्त्वहीन है। स्वयं गुप्तजी के आगे यह बात बाद में स्पष्ट हो गई थी, और इसीलिए उन्होंने अपनी बाद की रचनाओं से ('साकेत', 'यशोधरा' आदि में) मनुष्य के अन्तर्जीवन चक्र की प्रगति की अपेक्षा नहीं की। 'भारत-भारती' को इस समय जो साहित्यिक मूल्य प्राप्त है वही निकट भविष्य में प्रेमचन्दजी की समस्त रचनाओं को मिलना अनिवार्य है, और तब स्वभावतः उन आलोचकों की बुद्धि का भी मूल्यांकन भावी साहित्यिकों के आगे सुस्पष्ट हो जावेगा जो इस समय किन्हीं न्यस्त स्वार्थों से प्रेरित होकर प्रेमचन्दजी को महान् कलाकार सिद्ध करने पर तुले हैं और उनकी आड़ में उन नये उपन्यासकारों की निन्दा और उपहास करना अपना परम कर्तव्य समझे बैठे हैं जिन्होंने प्रेमचन्दजी की तरह अन्तर्जीवन की प्रगति और मनोवैज्ञानिक सत्यों की उपेक्षा नहीं की है।

आधुनिक भारतीय साहित्य में मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की नींव बंकिमचन्द ने डाली थी। उनके अधिकांश उपन्यास सर वाल्टर स्काट की रचनाओं की तरह ऐतिहासिक घटना-चक्रों पर आधारित हैं पर उनके तीन उपन्यास—

'रजनी', 'कृष्णकांतेर उइल' और 'विषवृक्ष' मनोवैज्ञानिक धरातल पर प्रतिष्ठित हैं। विशेष कर 'विषवृक्ष' में उन्होंने जिस कोटि के मनोविज्ञान का अवलम्ब ग्रहण किया है वह उन्नीसवीं सदी के पाश्चात्य लेखकों की श्रेष्ठ रचनाओं से टक्कर लेता है। अन्तर केवल यह है कि बंकिम ने व्यक्ति के अंतर्जीवन का समाज के वाह्य जीवन से संघर्ष दिखाकर दोनों सामंजस्य का मार्ग निर्देशित किया है और उनके समसामयिक पाश्चात्य लेखकों ने केवल संघर्ष की तीव्रता दिखाकर ही अपना कर्तव्य पूरा हुआ माना है।

बंकिम के वाद रवीन्द्रनाथ की 'चोखेर वाली' (आँख की किरकिरी) में सबसे पहले मनोविज्ञान आया है जिसको चरम परिणति रवीन्द्रनाथ ने 'घरे बाहरे' में की है। 'चोखेर वाली' में रवीन्द्रनाथ ने मनोविज्ञान के साथ केवल खेला है। इस उपन्यास में मनोविज्ञान न अपने गहरे रूप में आया है, न वह अपनी सार्थकता ही प्रमाणित कर पाया है। पर 'घरे बाहरे' (घर और बाहर) में गहन मनोवैज्ञानिक सत्य उद्घाटित किये हैं और अन्तर्जीवन के साथ वाह्य जीवन के संघर्ष का चित्रण ऐसी कलात्मक मार्मिकता के साथ किया है जो उच्चकोटि की औपन्यासिक कला की प्रधान विशेषता है। पर उस संघर्ष को रवीन्द्रनाथ ने जीवन का एकमात्र सत्य नहीं माना है। सभी श्रेष्ठ आदर्शवादी कलाकारों की तरह उन्होंने उक्त संघर्ष के द्वारा जीवन के सामंजस्य का सूत्र पकड़ा है। उन्होंने वाह्य जीवन की उपेक्षा नहीं की है; पर अन्तर्जीवन से रहित जीवन को महत्व देना उनके समान वास्तविक अर्थ में महान् कलाकार के लिए असम्भव था।

रवीन्द्रनाथ के बाद शरतचन्द्र ने अपने कलात्मक आदर्शों के प्रस्फुटन में मनोविज्ञान का आश्रय ग्रहण किया। पर शरत्चन्द्र अपने मनोविज्ञान में स्वयं उलझकर रह गए। मनोवैज्ञानिक पात्रों के चरित्र-चित्रण में जिस बौद्धिक निरपेक्षता की आवश्यकता है, उसका उनमें नितान्त अभाव था। फल यह देखने में आया कि उनके अधिकांश उपन्यासों के जो नायक निरपेक्ष मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से अत्यन्त दुर्बल-चरित्र और समाजघाती उतरते हैं उनके प्रति उन्होंने पूर्ण सहानुभूति प्रतिष्ठित करके उन्हें आदर्श रूप में पाठकों के आगे रखा है। यह कमी रवीन्द्रनाथ में कभी नहीं रही। उनकी मनोवैज्ञानिक दृष्टि जैसी पैनी रही है वैसी ही तीखी उनकी बौद्धिक निरपेक्षता भी रही है। यही कारण है कि क्या 'चोखेर वाली' में और क्या 'घरे बाहरे' में उन्होंने अपने नायकों के चरित्र को आदर्श-स्वरूप मानकर चित्रित नहीं किया।

आश्चर्य की बात है कि शरत् का यह जादू हिन्दी के आलोचकों तथा पाठकों पर व्यापक रूप से छा गया, किन्तु हिन्दी के प्रमुख उपन्यासकार उस जादू के प्रभाव से एकदम मुक्त रहे। इसके विपरीत रवीन्द्रनाथ की औपन्यासिक कला का प्रभाव जिस हद तक हमारे कुछ विशेष उपन्यासकारों पर पड़ा उस हद तक हमारे आलोचकों पर नहीं पड़ा। उदाहरण के लिए जैनेन्द्रजी की 'सुनीता' में रवीन्द्रनाथ के 'घरे बाहरे' का प्रभाव सुस्पष्ट रूप से परिस्फुट है। 'घरे-बाहरे' का नायक निखिलेश जिस प्रकार अपनी पत्नी विमला को व्यावहारिक तथा मानसिक गतिविधि के प्रति उदार भाव रखता है और खतरा देखते हुए भी उसे पर्दे से बाहर निकालने में सक्रियता दिखाता है, उसी प्रकार 'सुनीता' का नायक श्रीकान्त भी अपनी पत्नी सुनीता के प्रति अत्यधिक उदार रहता है और उसे घर की तङ्ग चहारदीवारी से बाहर विश्व के मुक्त प्रांगण में स्वच्छन्द विचरने के लिए छोड़ देना चाहता है। जिस प्रकार 'घरे-बाहरे' में क्रान्तिकारी संदीप विमला से घनिष्टता बढ़ाता है और उसे केवल अपने हृदय की रानी नहीं, बल्कि अपने दल की भी 'मक्खीरानी' बनाना चाहता है और निखिलेश उसमें सहायक होता है, उसी प्रकार 'सुनीता' में क्रान्तिकारी हरिप्रसन्न सुनीता को अपनी सब कुछ बनाने की इच्छा रखते हुए भी अपने दल के बीच में भी उसे देवी के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहता है और सुनीता का पति श्रीकान्त सुनीता और हरिप्रसन्न के बीच की घनिष्ठता में सहायक सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार विमला पतन के गड्ढे में गिरते-गिरते सँभल जाती है, उसी प्रकार सुनीता भी ऐन मौके पर केवल स्वयं सँभल ही नहीं जाती बल्कि हरिप्रसन्न को भी सँभाल लेती है।

पर यह सब होते हुए भी यदि कोई पाठक 'सुनीता' की मौलिकता में तनिक भी संदेह करे तो वह अपनी घोर अज्ञता का परिचय देगा। वास्तव में जहां तक मनोवैज्ञानिकता की बारीकी का प्रश्न है वहाँ जैनेन्द्रजी रवीन्द्रनाथ को भी पीछे छोड़ गए हैं। रवीन्द्रनाथ ने अपने पात्रों की मनोवैज्ञानिकता के केवल कुछ विशेष-विशेष पहलुओं को ही लिया है और बारीकियों को वह छोड़ते चले गए हैं। इसके अतिरिक्त रवीन्द्रनाथ के पात्र उतने जटिल हैं भी नहीं जितने जैनेन्द्रजी के। निखिलेश, विमला और संदीप क्रम से श्रीकान्त, सुनीता और हरिप्रसन्न से ऊपरी साम्य रखते हुए भी दोनों पक्ष मन की गुत्थियों, जटिलताओं के रूपों में एक-दूसरे से बहुत दूर पड़ जाते हैं। रवीन्द्रनाथ के पात्रों की जटिलता मनोवैज्ञानिक उतनी नहीं है जितनी कि सैद्धन्तिक। उनके प्रत्येक

पात्र के जीवन के कुछ सिद्धान्त स्थिर और निश्चित बने हुए हैं। जैनेन्द्रजी के पात्रों के भी किसी हद तक अपने कुछ निश्चित सिद्धान्त हैं, पर साथ ही उनके मन की गुत्थियाँ बहुत ही अधिक उलझी हुई हैं। अपने पात्रों की उन जटिल गुत्थियों को सुलझाने की जो दिक्कत जैनेन्द्रजी को पड़ती है वह रवीन्द्रनाथ को नहीं पड़ती। जैनेन्द्रजी की यह बहुत बड़ी विशेषता है कि उन्होंने उन जटिल गुत्थिओं को बड़ी सफाई के साथ सुलझाने की चेष्टा की है और बड़ी हद तक उसमें सफलता पाई है। हरिप्रसन्न जैसे अज्ञेय और गुमसुम व्यक्ति के मन के गहनतम स्थान में दबी पड़ी उलटी-सीधी प्रवृत्तियों की जटिल और कुटिल गाँठों को एक-एक करके खोलकर सुलझे हुए रूप में उन्हें पाठकों के आगे रखना किसी साधारण योग्यता वाले लेखक के बूते की बात नहीं। यह बात सुनीता के समान जटिल-प्रकृति नारी के रहस्यमय मनोजाल के उद्घाटन के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। साथ ही यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि रवीन्द्रनाथ का संदीप extervert (बहिरोन्मुख) है और जैनेन्द्रजी का हरिप्रसन्न intervert (अंतरोन्मुख) दोनों में यह मूल्यात् अन्तर है। इन सब कारणों से दोनों उपन्यासों में ऊपरी साम्य देखकर पाठकों को भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए।

'सुनीता' में जैनेन्द्रजी का वही उद्देश्य रहा है जो किसी भी श्रेष्ठ कलाकार का रहना चाहिए। इनके पात्र अन्तर्जगत में भटकते हुए बहिजर्गत् में अपने विकास का पथ खोजते हैं। दोनों के बीच संघर्ष चलता है और अन्त में दोनों के बीच का मार्ग ग्रहण कर वे जीवन में सामञ्जस्य का सूत्र पकड़ने की ओर उन्मुख होते हैं। जैनेन्द्रजी की मनोवैज्ञानिकता की सार्थकता इसी बात पर है।

उपन्यास-कला में मनोवैज्ञानिकता का एक और उद्देश्य माना जा सकता है—जो प्राचीन ग्रीक पण्डित अरस्तू का भी मत रहा है। वह उद्देश्य यह है कि कलाकार अपनी रचना में प्रचण्ड आतंक और मार्मिक करुणा का वातावरण उत्पन्न करके अपने पात्रों के मनोविकारों के क्षालन (और स्वभावतः उन्नतिकरण) के साथ ही पाठकों के मन पर भी वही प्रभाव डालता है—अर्थात् उनके भी अपने मनोविकारों के क्षालन और उन्नतिकरण में सहायता पहुँचाता है। जैनेन्द्रजी की 'कल्याणी' और 'त्याग पत्र' की निर्मम मनोवैज्ञानिकता इसी कारण सार्थक है, और उनका उद्देश्य संकीर्ण प्राण मनोवैज्ञानिक आलोचक की छिन्द्रान्वेषी हीन दृष्टि को भले ही समाजघाती लगे, पर वास्तव में वह कल्याणोन्मुखी है। 'कल्याणी' दरअसल 'कल्याणी' है, पर उसके भीतर निहित कल्याणीयता की खोज के लिए वास्तविक अर्थ में निरपेक्ष मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि और

साथ ही स्वस्थ और सबल साहित्यिक सप्राणता होनी चाहिए, नहीं तो क्षीण प्राण छिन्द्रावेषी आलोचक उसमें विकास और वीभतसता के अतिरिक्त और कुछ नहीं देख पावेगा।

कुछ आलोचकों ने आधुनिक मनोविज्ञान के व्याकरण का किंचित ज्ञान प्राप्त कर लिया है और अपने उसी अधूरे व्याकरण ज्ञान से दुर्विदग्ध होकर उन्होंने अपनी संकुचित दृष्टि से जैनेन्द्रजी की मनोवैज्ञानिक रचना की छानबीन की है और उन्हें समाजघाती तथा अकल्याणकारी बताया है। मनोविज्ञान के इन अधकचरे लेखकों को इस बात का पता नहीं है कि कोई भी प्रतिभाशाली कलाकार किसी भी मनोविज्ञान स्कूल के व्याकरण का अनुगमन नहीं करता, बल्कि उल्टा मनोविज्ञान गहन जीवन-सम्बन्धी अनुभवों के अनुसार अपने निर्णयों में सुधार करता रहता है।

जैनेन्द्रजी वास्तविक अर्थ में हिन्दी के प्रमुख मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार हैं। उन्होंने हिन्दी-साहित्य की निर्जीव औपन्यासिकता में (जिसमें या तो किसानों तथा जमींदारों के बीच संघर्ष दिखाने वाले निर्जीव कठपुतलों का खेल दिखलाया जाता था या काव्य-जगत् के अवास्तविक जीवों के 'स्वर्गीय प्रेम' का स्वांग सजाया जाता था) सप्राण और अन्तर्संघर्षशील पात्रों की सजीवता भरदी।

जैनेन्द्रजी के बाद हिन्दी के मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में अज्ञेयजी का नाम लिया जा सकता है। अज्ञेयजी की 'शेखर : एक-जीवनी' दो खण्डों में प्रकाशित हुई है। वास्तव में उपन्यास के पारिभाषिक अर्थ में इस रचना को उपन्यास नहीं कहा जा सकता, यह जीवनी, उपन्यास औद दर्शन के बीच की कोई चीज है। प्रथम खण्ड में अक्सर एक-एक दो-दो पैरा के बाद नया प्रकरण प्रारम्भ हो जाता है, और अधिकांश स्थलों में प्रत्येक प्रकरण अपने आप में समाहित सा लगता है और बहुत से स्थलों में उन छोटे-छोटे स्वतन्त्र प्रकरणों में मूलय-'जीवनी' सम्बन्धी कोई बात कही जाने के बजाय लेखक ने अपने स्वतन्त्र दार्शनिक विचार सम्बन्धी उद्‌गार प्रकट किये हैं। दूसरे खण्ड में कुछ सम्बन्धता अवश्य पाई जाती है, पर खण्डित प्रकरणों में वह भी अछूता नहीं है। यह सब होते हुए भी हमने 'शेखर' की गणना मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में इन कारणों से की है—एक तो यह कि जब तक इस कोटि की मिश्रित रचना का कोई निश्चित और स्वतंत्र नामकरण नहीं हो जाता तब तक उसे उपन्यास कहना ही होगा; दूसरे उसकी समग्रता को यदि लिया जाय, तो मानना होगा कि

लेखक ने अपने नायक के चरित्र का विकास मूलतः मनोवैज्ञानिक आधार पर ही कराया है, यद्यपि वह मनोवैज्ञानिकता बीच-बीच में दार्शनिक रूप धारण कर लेती है।

प्रारम्भ से लेकर अन्त तक शेखर के चरित्र का विकास एक ही मूलगत आधार को लेकर हुआ है—और वह आधार है उसका अत्यन्त गहन, तीव्र, सर्व गामी और सर्वग्रासी अहंभाव। अपने इस गहरी जड़ों वाले अहंभाव को शेखर नाना कलात्मक रङ्गों से रञ्जित और विचित्र दार्शनिक सिद्धान्तों से परिपुष्ट करता चला जाता है। व्यक्ति के अहंभाव के चरम विकास को ही शेखर ने जीवन का एकमात्र उन्नत ध्येय माना है, और सारी पुस्तक को पढ़ जाने के बाद इस सम्वन्ध में सन्देह के लिए कोई गुञ्जाइश नहीं रह जाती कि लेखक का अपना दृष्टिकोण भी यही है।

प्राचीन युग से लेकर आज तक जितने भी श्रेष्ठ कलाकार या दार्शनिक हुए हैं उन सबने व्यक्ति के अहंभाव के एकाङ्गीय विकास-मूलक साधना को केवल समाजघाती ही नहीं बल्कि आत्मघाती भी बताया है। शेखर की अहंभावात्मक प्रगति जिस चरम विस्फोट के लिए उन्मुख होती चली गई है वह कभी कल्याण-कारी नहीं हो सकती। पर इस उपाय से लेखक जिस आदर्श-सम्बन्धी वैपरीत्य को हमारे सामने रखता है वह परोक्ष रूप से—अपने प्रतिक्रियात्मक प्रभाव से—पाठकों के लिए हितकर सिद्ध हो सकता है। जो भी हो, 'शेखर' की दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक चातुरी महत्वपूर्ण है।

मेरे अपने उपन्यासों में अज्ञेयजी से ठीक उलटा दृष्टिकोण प्रतिपादित हुआ है। मेरे सभी उपन्यासों का प्रधान उद्देश्य व्यक्ति के अहंभाव की ऐकान्तिकता पर निर्भय प्रहार करने का रहा है—'घृणामयी', 'सन्यासी', 'पर्दे की रानी' और 'प्रेत और छाया' इन चारों उपन्यासों में मैंने इसी दृष्टिकोण को अपनाया है। आधुनिक समाज में पुरुष की बौद्धिकता ज्यों-ज्यों बढ़ती चली जा रही है त्यों-त्यों उसका अहंभाव तीव्र से तीव्रतर और व्यापक से व्यापकतर रूप ग्रहण करता चला जाता है। अपने इस कभी तृप्त न होने वाले अहंभाव की अस्वाभाविक पूर्ति की चेष्टा में जब उसे पग-पग पर स्वाभाविक असफलता मिलती है, तो वह बौखला उठता है और उस बौखलाहट की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप वह आत्म-विनाश के पहले अपने आस-पास के संसार के विनाश की योजना में जुट जाता है। उसकी इस विनाशात्मक क्रिया का सबसे पहला और सबसे घातक शिकार बनना पड़ता है नारी को। युगों से प्रपीड़ित और शोषित वर्ग है यह

नारी। उसे और अधिक प्रपीड़ित और अधिक शोषित करने की चेष्टा में आज का अहंवादी पुरुष कोई बात उठा रखना नहीं चाहता। आज का अहंवादी पुरुष बुद्धिवादी भी है, इसलिए अपनी मनोवृत्ति की यथार्थता से बहुत कुछ परिचित भी रहता है। और इसी कारण उसके भीतर विस्फोटक सङ्घर्ष मचते रहते हैं। साथ ही यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि उसी विस्फोट के उपादान वर्तमान युग की बुद्धिवादिनी नारी की शोषित अन्तरात्मा में भी प्रलयंकर रूप से जुटते चले जा रहे है—किन्तु विपरीत दिशा में। अर्थात भारतीय नारी के भीतर निकट भविष्य में जो विस्फोट होगा वह उसकी युग-युग से पीड़ित आत्मा के प्रचण्ड विद्रोह की सामूहिक घोषणा करेगा। यही कारण है कि धीरे-धीरे वर्तमान युग की बुद्धिवादिनी नारी का दृष्टिकोण यथार्थवादी बनता चला जा रहा है अर्थात् वह शरत् युग की नारी की तरह भावुकता के फेर में पड़कर अहंवादी पुरुष को इच्छा के बहाव में अपने को पूर्णतया बहाना और मिटा देना पसन्द नहीं करती, बल्कि स्थिति की वास्तविकता को समझकर व्यक्ति और समाज के अत्याचारों का सामना पूरी शक्ति से करने योग्य अपने को बनाने की चेष्टा में जुट रही है। सामाजिक पर्दे के भीतर छिपे हुए इसी सत्य का उद्घाटन मनोवैज्ञानिक उपायों से करने का प्रयास मैंने किया है। चूँकि वर्तमान युग में अहंवाद और बुद्धिवादि का संघर्ष व्यक्तियों के भीतर उसी भीषण रूप में चल रहा है जिस प्रकार वाह्य जगत् में महायुद्ध के रूप में सामूहिक अहंवाद और बुद्धिवाद का अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष, इसलिए उपन्यासकार को अत्यन्त जटिल प्रकृत पात्रों का विश्लेषण अत्यन्त गहरे स्तर की मनोवैज्ञानिकता के आधार पर करना पड़ता है, ऊपरी स्तर पर नजर डालने वाले पाठक उसे न समझ पाने के कारण उकता जावें तो कोई आश्चर्य नहीं। अन्य उपन्यासकारों की चर्चा यहाँ पर चलाना मैं इसलिए व्यर्थ समझता हूँ कि उनमें से किसी का मनोविज्ञान तो मनोविज्ञान की आरम्भिक स्थिति भाव-विज्ञान (Science of emotions) को भी पार नहीं कर सका है और किसी का मनोविज्ञान इस आरम्भिक अवस्था को भी नहीं पहुँच पाया है।

हर युग में, हर देश में और हर काल में प्रत्येक श्रेष्ठ कलाकार द्वारा अन्तर्जीवन का सत्य ही प्रधान सत्य माना गया है, माना जा रहा है और माना जायगा। बीच बीच में कट्टर भौतिकतावादी दार्शनिकों अथवा राजनैतिक क्रांतिकारियों की तूती साहित्य में क्षणिक रूप से बोल उठी है, पर वह अन्तर्जगत् के प्रचंड सत्य की भीषण बाढ़ में बह चली हैं। एकमात्र वही राजनीतिक सामा-

जिक अथवा दार्शनिक मतवाद साहित्य के स्थायी सत्य से किसी हद तक सम्बन्ध स्थापित कर सकेगा, जो अन्तर्जीवन के सत्य के आधार पर वाह्य जीवन की परिचालना और वाह्य जगत की सामाजिक व्यवस्था का पथ प्रदर्शित कर सकेगा। आज हमारे मार्क्सवादी आलोचक साहित्य में प्रतिपादित किये गये मनोवैज्ञानिक सत्यों का उपहास करने पर तुले हैं, और अपने संगठित साहित्यिक प्रचार कार्य द्वारा इस उद्देश्य की सफलता के लिए पूर्ण प्रयत्न कर रहे हैं कि साहित्य-कलाकार मनोविज्ञान को ताक पर रखकर अन्तर्जीवन के सत्यों की पूर्ण उपेक्षा करे और केवल उन राजनीतिक तथा समाजवादी तथ्यों का उद्घाटन करे जो वाह्य जीवन-चक्रों के पारस्परिक संघर्ष (श्रेणी संघर्ष) के रूप में परि-स्फुट होते हैं। पर निश्चित रूप से कल उन लोगों को यह मानना पड़ेगा कि राजनीतिक जीवन का सत्य, साहित्य में यथा रूप किसी भी हालत में स्वीकृत नहीं किया जा सकता। बड़े से बड़े राजनीतिक सत्य को पहले वेश बदल कर अंतर्जगत् में प्रवेश करना होगा, तभी वहाँ से वह मनोवैश्लेषिक उपायों से साहि-त्यिक सत्य के रूप में बाहर प्रस्फुटित हो सकता है। यथार्थवादी दृष्टि रखने वाले रूप ने प्रत्यक्ष अनुभवों के बाद इस परम सत्य को स्वीकार लिया है, पर हमारे तथाकथित प्रगतिशील आलोचक कुछ लकीर के फकीर अंगरेज मार्क्सवादी आलोचकों का अंध अनुकरण करते हुए हिन्दी की मनोविज्ञान-सम्बन्धी नवीन औपन्यासिक रचनाओं की निन्दा और उपहास करना अपना परम कर्त्तव्य माने बैठे हैं। पर उनकी यह निराधार चेष्टा निश्चय ही चट्टान पर सिर पटकने के बराबर व्यर्थ सिद्ध होगी।

आज कुल मिलाकर हम यह कह सकते हैं कि हिन्दी का मनोवैज्ञानिक उपन्यास-साहित्य आश्चर्यजनक रूप से उन्नति कर रहा है और भारत की अन्य सभी भाषाओं के उपन्यास-साहित्य को इस क्षेत्र में बहुत पीछे छोड़कर आगे निकल गया है। आज वह न पाश्चात्य जगत के किसी मनोवैज्ञानिक स्कूल का आश्रय प्रार्थी रह गया है न रवीन्द्र अथवा शरद की औपन्यासिक रचनाओं के आधार का। आज हिन्दी का उपन्यासकार मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में जीवन के स्वतन्त्र अवयवों के स्वतन्त्र सत्यों का साहित्य के प्रांगण में आत्म-विश्वास के साथ रखने का दावा करता है।

[साहित्य-सन्देश, अक्टूबर १९४४।

हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यास

[डा० राजेश्वर गुरु]

हिन्दी-उपन्यास के विकास में प्रेमचन्द बतौर एक लैंडमार्क हैं। प्रेमचन्द के पहले तिलिस्म से अय्यारी और अय्यारी से जासूसी हिन्दी-उपन्यासों की मूल प्रवृत्ति रही है। प्रेमचन्द के एकदम जरा पूर्व किशोरीलाल गोस्वामी के प्रेम-मूलक उपन्यास सामने आये। यानी उपन्यासकार की निगाह तहखानों-तहखानों भटककर थकने के बाद जीवन के द्वार पर पहुँचने के उपक्रम में लगी मालूम हुई। लेकिन जीवन अब भी दूर रहा। गोस्वामीजी के उपन्यासों ने प्रेम के मेल बेमेल बैठाने में ही अपनी प्रतिभा समाप्त कर दी। इन प्रेम-चित्रणों का आधार न सामाजिक था, न मनोवैज्ञानिक और न ही इसमें लैला-मजनूं आख्यान की तीव्रता थी। उनमें रसिकता तथा यौन आकर्षण है और इसके लिए पर-पुरुष और पर-नारी के कामुक मिलन के लिए अनेकों आश्चर्यजनक उपाय और काण्डों की कल्पना की गई है।

प्रेमचन्द के पहले कलाकार थे जिन्होंने जीवन को उसके भीतर पैठकर देखा है। जो कुछ भी देन उनके पूर्ववर्ती उपन्यासकारों की थी; उसे तो परिष्कृत रूप में प्रेमचन्द ने ग्रहण किया ही, साथ में बहुत कुछ नया भी उन्होंने दिया है। कथा-सूत्र का मनोरञ्जकता से निर्वाह और वर्णनात्मकता की सजीवता प्रेमचन्द ने अपने पूर्ववर्तियों से जैसे विरासत में पाई, लेकिन समय के तकाजे ने उन्हें इतने ही तक सीमित नहीं रहने दिया। प्रेमचन्द का साहित्य युग सन् १९०५ से १९३५ तक ,व्याप्त रहा। इसका पूर्वार्ध सामाजिक चेतना का समय था, और उत्तरार्ध राजनैतिक चेतना का। अपने पूर्वार्ध में वे साहित्य को जासूसी, अय्यारी और शरीर-प्रेम के प्रभावों से मुक्त करने में लगे रहे। फिर समय की सुधारवादी प्रवृत्ति के प्रभाव में समाज-परिष्कार के रास्ते सुझाते रहे और रौलट-एक्ट से सन् १९३५ के इण्डिया एक्ट के बीच के समय में समाज की राजनैतिक चेतना को बल देते रहे।

समस्त प्रेमचन्द-साहित्य में और युग में भी समाज हिन्दी उपन्यासों की आधार-भूमि रहा। व्यक्ति समाज की इकाई के रूप में ही चित्रित हुआ। उसके सफल वैचित्र्य को लेकर व्यक्ति रूप में उसे चित्रित करने का अवकाश युग को नहीं था। प्रेमचन्द के पात्र 'क्लास' रहे, 'टाइप्स' नहीं हो पाये। फिर भी अपने पूर्ववर्ती उपन्यासकारों से एक कदम आगे बढ़ कर प्रेमचन्द ने अपने क्लास-पात्रों को उनके चरित्र की विशिष्ट रेखाएँ प्रदान की हैं। किशोरीलाल गोस्वामी के १६ वर्षीय वैश्य नायक प्रेमदास और १३ वर्षीय कन्या त्रिवेणी के स्वरूप की कल्पना हम जरा भी नहीं कर पाते, किन्तु प्रेमचन्द-युग समाज का युग था, व्यक्ति का नहीं। समाज के विस्तृत केनवास पर व्यक्ति अपनी सामाजिक सत्ता में विद्यमान था। प्रेमचन्द के समकालीन लेखक भी व्यक्ति को उसके ऐकान्तिक सत्ता वशिष्ट्य में चित्रित नहीं कर पाये। हाँ, प्रेमचन्द-युग के जाते-जाते हम 'चित्रलेखा' के उपन्यासकार को समाज की समस्याओं से आगे बढ़कर जीवन की चिरन्तन समस्याओं पर सोचते हुए पाते हैं। वह पाप-पुण्य के प्रश्न पर विचार करते हुए कहता है—"संसार में पाप कुछ भी नहीं है। वह केवल मनुष्य के दृष्टिकोण की विषमता का दूसरा नाम है।" चित्रलेखा में पाप और पुण्य की समाज-निरपेक्ष व्यक्तिवादी व्याख्या करके भगवती चरण वर्मा ने पात्रों का मनोवैज्ञानिक आधार परखने की दिशा का संकेत किया है। प्रेमचन्द के गोदान में फिलासफर मेहता भी प्रेम के प्रश्न को समाज और व्यक्ति, दोनों के दृष्टिकोणों से देखते हैं।

मेरे लेखे प्रेमचन्द ने जाते-जाते और भगवतीचरण वर्मा ने आते ही व्यक्ति की ऐकान्तिक सत्ता के अध्ययन की जरूरत महसूस कर ली थी। लेकिन व्यक्ति की सत्ता और व्यक्ति-मानव का महत्त्व जैनेन्द्रकुमार के उपन्यास के साथ आया। लोग उनके 'सुनीता' को हिन्दी का पहला मनोवैज्ञानिक उपन्यास मानते हैं, लेकिन जिन्होंने उनका 'परख' पढ़ा है, वे कट्टो और मास्टर साहब के साथ सहानुभूति किये बिना नहीं रहेंगे।

उपन्यासों के क्षेत्र में पिछले पचास वर्षों का इतिहास भावुकता से बौद्धिकता, भावुक सहृदयता से मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, परम्परा से प्रगति, समाज से व्यक्ति और परिस्थिति से प्रवृत्ति की दिशा में विकास का क्रम है। समाज और जीवन की झाँकी प्रस्तुत करने वाले उपन्यास में इस निरंतर विकास के साथ नवीन क्षमताओं का उदय हुआ। तिलिस्म और जासूसी, बाहर-बाहर की एक दम खत्म हो गई, लेकिन उपन्यासकार ने मानव-मन के पट खोल

कर, तहें की तहें उभारकर जासूसों की तरह सूत्र से सत्य तक पहुँचने के लिए मनोविज्ञान का सहारा लिया। फ्रायड, एडलर और जुंग के सिद्धांतों, क्राफ्ट एबिंग और हेवेलिक एलिस की धारणाओं और लारेंस के साहित्य ने हिन्दी उपन्यास को नई दिशा, नया क्षितिज प्रदान किया। अवचेतन मन की धारा स्वप्नवाद, एडीपरस काम्प्लेक्स आदि के अध्ययन ने हिन्दी-उपन्यासकार को मानव मन की गति शोधने के नये साधन प्रदान कर दिए और चरित्र-चित्रण को नया अर्थ दे दिया। यद्यपि जैनेन्द्रकुमार ने इस आरोप को सदा अस्वीकार किया है कि फ्रायड ने उन्हें प्रभावित किया है, उनकी ईमानदारी को उनके द्वारा व्यक्त मूल्य पर ग्रहण करने के बाद भी इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकेगा कि चरित्रों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में हिन्दी के उपन्यासकारों ने पश्चिम की नवीनतम उद्भावनाओं से प्रेरणा प्राप्त की है।

वर्णन से घटना, घटना से चरित्र, चरित्र से समस्या, समस्या से व्यक्ति, और व्यक्ति से मन। लगभग इसी क्रम से उपन्यासों का विकास हुआ है। इस प्रसंग में यह आवश्यक है कि मनोवैज्ञानिक के भिन्न, मनोविश्लेषात्मक का अर्थ समझ लिया जाय। प्रेमचन्द के साथ चरित्रों के मनोवैज्ञानिक विकास का क्रम प्रारम्भ हो गया था। लेकिन पश्चिम के मनोवेत्ताओं, और मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासकारों के साथ जो मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास हिन्दी में आये, वे इन मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में भिन्न कोटि के हैं। उन्हें चाहे तो वर्जनामूलक उपन्यास की संज्ञा दी जा सकती है।

वर्जना अंग्रेजी के 'इनहिविशन' का अनुवाद है। इनहिविशन लेटिन के हेबियों से बना शब्द है, जिसका अर्थ होता है, धारण करना। इन और एक्स उपसर्गों से बने इनहिविशन और एक्ज़ीविशन शब्द अन्तर्धारण और बहिर्धारण के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। मन प्रवृत्य अभिव्यक्तात्मक होता है, उसकी गति बहिर्मुखी होती है। किन्तु अभिव्यक्ति की प्रवृत्ति वाले मन की बातें बहुत कुछ व्यक्त होकर भी बड़े परिमाण में उसकी अतल गम्भीर गुहा में पड़ी रहती हैं। बहिर्धारण के रूप में मन का जो परिचय मिलता है, वही उसका सम्पूर्ण परिचय नहीं है। जो कुछ अन्तर्धारण के कारण व्यक्त नहीं हो पाता, वह भी उसके परिचय का मुख्य अंग है। व्यक्तित्व की परख के लिए व्यक्त के साथ-साथ अव्यक्त की जानकारी आवश्यक है।

जब मन की गति अभिव्यक्तात्मक है, तब जो कुछ व्यक्त होने से रह जाता है, उसका कारण किसी न किसी प्रकार का अवरोध या वर्जना है। जिस

प्रकार धारा की सहज गति अवरोध मिलने पर सहज नहीं रह पाती, विषम हो जाती है, उसी प्रकार वर्जित मन की गति भी विषम रहती है।

मन के अध्ययन की प्रणाली पुरानी है; लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में सिगमन फ्रायड के शोधपूर्ण चिन्तन ने इस अध्ययन का स्वरूप ही बदल दिया। तब यह शब्द इनहिबिशन अपने सामान्य अर्थ से ऊपर उठकर मनोविज्ञान शास्त्र में विशिष्ट अर्थ का द्योतक हो गया।

वर्जना के कई कारण हो सकते हैं—धर्मगत, समाजगत, राजनीतिगत, अर्थगत। लेकिन सामान्यतः फ्रायड को आधार मानकर कामगत वर्जना को ही इस संज्ञा के द्वारा व्यक्त किया जाता है और विकृत काम-चेष्टाओं को वर्जना का परिणाम माना जाता है।

फ्रायड ने अपने अध्ययन के प्रसङ्ग में दो मान्यताएँ निर्धारित की हैं और उन्हीं के आधार पर जीवन और समाज की गतिविधियों की परख की है। भारतीय दार्शनिकों ने चार पदार्थों को मन-प्रेरणा के तत्त्व माना है—अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष। नये बुद्धिवादी युग में मार्क्स और फ्रायड ने चार की समष्टि को खण्ड-खण्ड करके खण्ड को पूर्णता का अहङ्कार प्रदान कर दिया है।

फ्रायड ने चेतना का प्रेरणाधार काम-प्रवृत्ति को माना है, जो जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त अवियुक्त भाव से नव-नव रूप धारण करके जीवन में विद्य-मान रहती है, और उसकी गति को संचालित करती रहती है। काम-प्रवृत्ति का भव्यीकरण साहित्य-सभ्यता-संस्कृति के रूप में व्यक्त होता है, किन्तु यह प्रवृत्ति काम्प्लेक्स बनकर जीवन की स्वस्थता को निषेधात्मक ढङ्ग से प्रभावित करती है।

चेतना की धारा को सहज गति नहीं मिली, तो मत के भीतर सङ्घर्ष उत्पन्न होते हैं। प्रवृत्तियाँ अभिव्यक्ति के लिए बेचैन रहती हैं, लेकिन अनेक प्रकार से इन पर पहरा (सेंसर) लगा रहता है। यह सेंसर समाज के नेम-नियमों, विधि-विधानों के रूप में रहता है। सेंसर के फलस्वरूप वे प्रवृत्तियाँ जो अभि व्यक्ति हासिल नहीं कर पातीं, अन्तर्मुखी हो जाती हैं। ये वर्जित प्रवृत्तियाँ मन के भीतर उसी प्रकार दबी पड़ी रहती हैं, जैसे किसी ढक्कन-बन्द देगसी में बन्द भाप, जिन्हें जरा सा मौका मिला कि शत-गुणित वेग से विषम-पन्थ ग्रहण करके बाहर फूट निकलती है।

फ्रायड की मान्यताओं ने मानव और उसकी गति-विधियों के अध्ययन के लिए मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के रूप में एक नई प्रणाली प्रस्तुत कर दी है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के द्वारा व्यक्ति के मनोद्वन्द्व के अध्ययन के आधार पर व्यक्ति की हिस्ट्री-शीट तैयार कर सकना असम्भव है। बाहर से एक दीखने वाले व्यक्तित्व के अन्दर अन्य क्या है, उसकी तह तक पहुँच सकना इस विश्लेषण के द्वारा हो सकता है।

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की प्रणाली प्रचलित होने के बाद साहित्य के यथार्थ का स्वरूप बदल गया इसके पहले यथार्थ का रूप सामाजिक था। हिन्दी उपन्यास तो पाश्चात्य उपन्यास का अनुवर्ती है। वहाँ के यथार्थवादी उपन्यास-कार, डिकेन्स और गोर्की, जोला और फ्लावर्ट; गाल्सवर्दी और डास्टोवस्की के द्वारा समाज के यथार्थ के विभिन्न पक्षों को लेकर उपन्यास लिखे गये। काम-भावना भी इन उपन्यासों में अछूती नहीं रही। लेकिन इस काम-भावना का सामाजिक पक्ष ही व्यक्त हुआ। वैसे ही हिन्दी में भी प्रेमचन्द्र के साथ यथार्थ का जो युग कथा-साहित्य में आया, उसका रूप सामाजिक था, व्यक्तिवादी नहीं। फ्रायड और उसके समवर्ती एडलर, जुङ्ग और वाटसन ने मनोविश्लेषण के सम्बन्ध में जिन धारणाओं को मान्यता प्रदान की, उनको लेकर जेम्स जायस, डी० एच० लारेन्स; वर्जीनिया वुल्फ, कोनराड और सामरसेट माम जैसे उपन्यासकारों ने मन की चेतनधारा को अपने अध्ययन-मनन-चिन्तन का आधार बनाया और वासनाओं के व्यक्तिगत विश्लेषण के द्वारा वर्जनाओं की यथार्थता पाठकों के सामने रख दी।

हिन्दी में मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का प्रारम्भ जैनेन्द्रकुमार के 'परख' और 'सुनीता' से माना जाता है, लेकिन इसके पहले भी सन् १९१९ में ब्रज-नन्दन सहाय के 'सौन्दर्योपासक' सन् १९२२ में अवधनरायण के 'विमाता' और सन् १९२३ में कृपानाथ मिश्र के 'प्यास' के रूप में व्यक्ति और मन को परखने के प्रयत्न हो चुके हैं। किन्तु इन प्रयत्नों को मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की अपेक्षा शरच्चन्द्र की भाँति भावुकतापरक व्यक्तिवादिता कहना अधिक उपयुक्त होगा -

जैनेन्द्रकुमार ने प्रथमतः रूढ़िवादी शृंखलाओं और बँधी हुई परिस्थितियों से मुक्त होकर मन की परख की। उनका 'परख' 'मानसिक द्वन्द्वों और मानसिक संघर्षों का सूक्ष्म अवलोकन करके व्यक्तित्व की रेखाएँ निर्धारित करता है। कहा जाता है कि इस उपन्यास में लेखक ने पात्रों के मानसिक जगत में होंने वाले अविराम भावनाओं के संघर्ष का कुशलतापूर्वक पैठ के साथ चित्रण किया

है। लेखक मानों स्वयं जाकर पात्रों के गहरे ग्रन्तस् में घुस गया है। वहाँ बैठ कर वह हृदय ग्रौर बुद्धि की क्रिया ग्रौर प्रतिक्रियाग्रों को परखता है।

सुनीता परख से जरा भिन्न कृति है। यहाँ उपन्यासकार दार्शनिक बन बैठा है। सुनीता में कथा का ग्रंश बहुत थोड़ा है। दार्शनिक वाद-विवादों का महत्त्व है। हरिप्रसन्न, श्रीकान्त ग्रौर सुनीता को विशिष्ट परिस्थितियों में डाल कर उपन्यासकार दार्शनिक विवेचन द्वारा ग्रागे बढ़ता है। स्व ग्रौर पर के भेद ग्रौर ग्रभेद की वाद-विवादात्मक विवेचना ग्रौर में ग्रौर मेरा के जीवन-सङ्घर्ष की क्रिया-प्रतिक्रियाग्रों का चित्रण सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक तूलिका से जैनेन्द्रकुमार ने किया है। 'सुनीता' में रवीन्द्रनाथ के 'घरे-बाहिरे' की छाया खोजने वालों को मालूम होगा कि सुनीता मधुरानी से ग्रधिक सशक्त ग्रौर ग्रादर्शोन्मुख है। यद्यपि हरिप्रसन्न को ज्ञान देने के लिए सुनीता का नग्न प्रदर्शन ग्रालोचक को ग्रनुचित ग्रौर ग्रस्वाभाविक भी लगा है, फिर भी मानव की सबलता-दुर्बलता की यह तर्कजन्य तसवीर हिन्दी-उपन्यास में नये युग का प्रारम्भ लेकर ग्राई।

'सुनीता' की तरह ही उनके 'त्यागपत्र' की मृणाल है, जो एक सुसंस्कृत उच्च परिवार में पल चुकी है, किन्तु जिसका सम्बन्ध उपन्यासकार ने एक कोयले वाले से जोड़ा है। सामान्य समाज में यह बात स्वाभाविकता से दूर जा पड़ी दीखती है, लेकिन जहाँ स्वाभाविकता को ठीक प्रचलन का समानार्थी नहीं माना जाता, जहाँ प्रचलन शायद स्वभाव को दबा देने वाला माना जाता है, जहाँ प्रचलित व्यक्त से वर्जित ग्रव्यक्त का काम नहीं, निश्चय ही ग्रधिक है, वहाँ के देश की बात, मन के भीतरी देश की बात इस मृणाल में मिलती है। जैनेन्द्र-कुमार ने तो इतना ही कहा है कि स्वाभाविकता क्या ऐसी चीज है, जिसकी सीमाग्रों का कुछ पता हो।

स्वाभाविकता नाम की चीज की सीमाएँ ज्ञात नहीं। लेकिन फ्रायड ने स्वाभाविकता की सीमा जिस ग्रज्ञात तक पहुँचा दी है, उसी के विश्लेषण के द्वारा ग्रादमी की उस ग्रसलियत को भी स्वाभाविकता की संज्ञा मिल जाती है, जो समाज के डर से दबे रूप में मन के भीतर उसी तरह पड़ी रहती है, जिस तरह किसी पुलिसमैन को देखकर कोई ग्रपराधी सहमकर दुबक जाता है। जैनेन्द्रकुमार के सभी उपन्यासों में समाज के बहिर्जगत को छोड़कर ग्रन्तर की यथार्थता ऊपर ला देने की कोशिश मिलती है।

जैनेन्द्रकुमार इस प्रकार मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के पहले प्रणेता ठह-रते हैं। मनोविश्लेषण की प्रवृत्ति उनमें सर्वत्र मिलती है। लेकिन यह ठीक नहीं

कहा जा सकता कि इस मनोविश्लेषण के पीछे फ्रायड ही पूरी-पूरी तौर से मौजूद है। जान पड़ता है कि फ्रायड से कुशल चीरा-फाड़ी का काम सीखने के बाद, मर्ज का सही-सही पता पा जाने के बाद जैनेन्द्रकुमार चुपके-चुपके जिसके लिए कहा गया है कि रहस्यात्मक ढङ्ग से, गांधीवादी इलाज की ओर उन्मुखता दिखाते हैं। उनके लिए निर्मम चीड़-फाड़ साध्य नहीं है, साधन है। तभी वे कहते हैं :—कला, कुलीनता और शिष्टता के नाम पर बहुत कुछ व्यर्थता, आज पल और पुज रही है। पर वह निर्वीर्य है। जीवन का स्वरूप विकसेगा, तो यह मानी गई भद्रता, शुचिता और कला-पूजा झर जायगी। मानी गई यानी प्रचलित मान्यता के पाखण्ड को खण्ड-खण्ड कर सकें, ऐसा जैनेन्द्रकुमार का संकल्प कहीं डिगा हुआ नहीं मालूम होता।

अपने उपन्यासों में मिलने वाले असम्पूर्ण एकांकी चरित्राङ्कन के विषय में स्वयं जैनेन्द्रकुमार ने एक जगह लिखा है—"व्यक्ति क्या एकांगी के अतिरिक्त सर्वसम्पूर्ण हो भी सकता है। अमुक के रिलेशन में किसी एक के रिलेशन क्या हैं इसे दिखाते-दिखाते यदि मैं कहीं भी आत्मा के गहरे तल को छू जाता हूँ, तो यही मेरे लिए बहुत है।" यह है लेखक का लक्ष्य, जिसे सामने रखकर आलोचक उसके साथ न्याय कर सकते हैं। जैनेन्द्रकुमार ने उपन्यास को यथार्थ चित्रण के क्षेत्र से उठाकर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के क्षेत्र में ला दिया। सुनीता, कट्टो, मृणाल हिन्दी के क्लासिक पात्रों में से हैं।

जैनेन्द्रकुमार के बाद जिस उपन्यासकार ने हिन्दी में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर कथा और कला का संयोजन किया है, वह हैं इलाचन्द्र जोशी। इलाचन्द्र जोशी ने जैनेन्द्रकुमार की तरह अपने को गांधीवादी युग की प्रवृत्तियों से प्रभावित नहीं होने दिया। जिन्हें सोशल प्रज्यूडिस या प्रिकन्सीव्हड-नोशन्स कहते हैं, अन्धविश्वास और रूढ़ियाँ कहते हैं, उनसे लेखक ने अपने को सर्वथा मुक्त रखा है। इलाचन्द जोशी एकदम आवजेक्टिव—आत्मनिरपेक्ष कलाकार हैं और मेरे लेखे हिन्दी में चरित्रों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की प्रणाली का सूत्रपात जैनेन्द्रकुमार ने नहीं, इलाचन्द जोशी ने किया है। दिशा भले ही जैनेन्द्रकुमार ने दिखाई हो पथ की प्रशस्ति का श्रेय इलाचन्द जोशी को है।

मनोविज्ञान की नवीनतम धारणाओं के अनुसार मानव ने सभ्यता और संस्कार के नीचे पशु-प्रवृत्तियों को दबाने का प्रयत्न बराबर किया है। ये प्रवृत्तियाँ ऊपर से दबी हुई अवश्य प्रतीत होती हैं, परन्तु वास्तव में उनका अस्तित्व मिट नहीं सकता, और वे किसी न किसी रूप में हमारे अन्दर

विद्यमान रहती हैं। मानव जब सभ्यता का ढोंग रचकर उन प्रवृत्तियों को दबाने का प्रयत्न करता है, तभी ये प्रवृत्तियाँ और जागरूक होकर उभर पड़ती हैं, और मानव के स्वभाव में एक ऐसी विचलन पैदा कर देती हैं, कि उसका जीवन अस्थिर हो उठता है। वर्जनाओं का जितना सुन्दर और मार्मिक अध्ययन इलाचन्द जोशी के पात्र प्रस्तुत करते हैं, उतना हिन्दी के किसी अन्य उपन्यास के पात्रों में नहीं मिलता है। इनकी मनोविश्लेषण की कसौटी ठीक वही है, जो फ्रायड की कोटि के चिंतकों ने तैयार की है। इनके पाँचों उपन्यासों के नायक अपनी ही दमित वासनाओं के शिकार बनकर समाज के भीतर क्षोभ भर देते हैं। सन्यासी का नन्दकिशोर, पर्दे की रानी के निरंजना और इन्द्रामोहन, प्रेत और छाया के पारसनाथ और नन्दिनी, निर्वासित का महीप, और लज्जा के लज्जा और रज्जू—सभी दमित वासनाओं की ओजमयी प्रेरणा लेकर जीवन में अशांत भटकते हैं और इनके माध्यम से समाज पर पड़ा सफेदी का आवरण अपने आप उघरकर छिन्न-भिन्न हो जाता है।

शेखर : एक जीवनी के उपन्यासकार अज्ञेय प्रकृत्या चिन्तनशील व्यक्ति हैं। अपने इस उपन्यास में उन्होंने एक व्यक्ति के जीवन-तथ्यों का चित्रण प्रस्तुत किया है। यह संस्मरणात्मक उपन्यास नायक की दमित वासनाओं को उघार कर रख देता है, और इसकी दीदी भी मनोविश्लेषण की अच्छी सामग्री प्रस्तुत करती है। अज्ञेय का नवीनतम उपन्यास नदी के दीप चेतना के प्रवाह-स्ट्रीम आव कान्शसनेस का गत्यांकन है। जान पड़ता है कि उपन्यासकार के मन पर अदृश्य रूप से डी० एच० लारेन्स का असर मौजूद है। तभी इस उपन्यास के पात्र डी० एच० लारेन्स में से उद्धरण देते नहीं थकते। आलोचकों का अनुमान है कि अज्ञेय में शास्त्रीय विश्लेषण का आग्रह तो मिलता है, किन्तु जो स्पष्टवादिता लारेन्स को प्राप्त है, अगर उसका पर्याप्त अंश अज्ञेय में होता, तो हिन्दी-उपन्यासकारों में उनका स्थान और अधिक आदरणीय होता।

मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों में सबसे कमजोर कड़ी यशपाल हैं, और शायद सबसे भयंकर द्वारिकाप्रसाद। यशपाल ने मार्क्स और फ्रायड को एक साथ मिलाकर अपने उपन्यासों में रखना चाहा है। मार्क्स को प्रचारक की नजर से ग्रहण करके और फ्रायड को युग की फैशन के ढङ्ग पर स्वीकार करके, उसके प्रति केवल बाहिरी अभिरुचि दिखाने के कारण यशपाल के उपन्यास उथले-उथले रह गये हैं। रोटी और काम इनके उपन्यासों के प्रतिपाद्य रहते हैं लेकिन

इनके चित्रण में राजनैतिक भाषणकर्त्ता की समस्या को सहज बनाकर रख देने की प्रवृत्ति तो मिलती है, विचारक की गम्भीरता नहीं ।

द्वारिकाप्रसाद का 'घेरे के बाहर' जिन्होंने पढ़ा है, वे स्तम्भित रह गये हैं । वर्जनाओं के घेरे में घिरे सम्बन्धों को उद्घाटित करके रख देने का नाम तो मनोविश्लेषण समझ में आता है, लेकिन अन्तःपुर की स्वच्छन्दता और एकान्त की षडयन्त्रबाजी को रसस्निग्धता से वर्णित करने को साइको-एनालिसिस का नाम देना सचमुच विडम्बना है । घेरे के बाहर की अश्लीलता को फ्रायड और मार्क्स से लम्बे-लम्बे उद्धरण द्वारा अवतरित करने के प्रयत्न में उपन्यासकार कुशल बनने की बजाय हास्यास्पद हो गया है ।

हिन्दी में वर्जनाओं को व्यक्त करने वाली प्रमुख कृतियों का अध्ययन करते समय एक दो बातें बरबस ध्यान आकृष्ट करती हैं । एक तो यह कि भारतीय मन चाहकर भी एकान्त बुद्धिवादी नहीं बन सकता, इसलिए भारतीय साहित्यिक की वृत्ति में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी भावना का रास्ता ग्रहण करता चलता है । यह फ्रायड के सिद्धान्तों को एक सीमा तक तो मानता है, उसके आगे बढ़ने से उसके संस्कार उसे रोकते हैं । दूसरी बात डा० देवराज के शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं—

"हिन्दी में फ्रायड की अचेतन काम-वृत्ति की पुस्तकों के न होने से इसका ज्ञान हमें या हमारे लेखकों को नहीं हो सका । अतः यह हमारी सृजनात्मक प्रतिभा को यहाँ जाग्रत नहीं कर सका है, हमारे व्यक्तित्व की उस तह को नहीं छू सका है, जहाँ सृजन प्रारम्भ होता है । इसलिए या तो ये कृतियाँ अस्पष्ट रह जाती हैं, या फिर उनमें सिद्धान्त प्रतिपादन अधिक मिलता है जीवानुभूति की प्रेरणा कम ।"

[साहित्य-सन्देश, अगस्त १९५६ ।

———

समाजवादी यथार्थ

[प्रो० दामोदर झा]

समाजवादी यथार्थवाद साहित्य का नवीनतम सिद्धान्त है। इसका दार्शनिक आधार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दर्शन द्वन्द्वात्मक प्रणाली और भौतिकवादी दृष्टिकोण का सन्निवेश करता है। इसके अनुसार प्रकृति आकस्मिक घटनाओं और प्रक्रियायों का जमघट नहीं, वरन् सङ्गठित और श्रृङ्खलाबद्ध है; इसमें स्थिरता, सनातनता और अगति नहीं, सतत गति अनवरत विकास और परिवर्तन है। समाजशास्त्र के क्षेत्र में द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दर्शन के सिद्धान्त को ऐतिहासिक भौतिकवाद कहा गया है। समाजवादी यथार्थवाद ऐतिहासिक भौतिकवाद का साहित्यिक सिद्धान्त है। आधुनिक प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन की दार्शनिक पृष्ठभूमि का आधार भी समाजवादी यथार्थवाद है। आज यह केवल कतिपय सिद्धान्तवादियों के तार्किक क्षेत्र तक सीमित नहीं, हजारों लेखकों, कवियों और समीक्षकों को अनुप्राणित और संचारित कर रहा है।

समाजवादी यथार्थवाद 'यूरोपीय यथार्थवाद' की पुनरावृत्ति नहीं उसका विकसित और क्रान्तिकारी रूप है। यूरोपीय यथार्थवाद साहित्यिक को व्यक्ति और समष्टि का दर्पण मानता है। साहित्य का प्रयोजन, इस सिद्धान्त के अनुसार, कला-कृतियों के माध्यम से तत्कालीन समाज में विभिन्न रूपों, सामाजिक प्रक्रियायों और प्रकृति के विभिन्न स्वरूपों का चित्रण प्रस्तुत करना है। साहित्य की यथार्थवादी धारा वैज्ञानिक और ऐतिहासिक प्रणालियों की प्रमुखता और उनमें बढ़ते हुए प्रभाव की कलात्मक अभिव्यक्ति है। थैकरे और हेनरी जेम्स, बालगक और जोला, डास्टव्यस्की और टाल्सटाय, यूरोप के साहित्य में, यथार्थवादी साहित्य के सुन्दर उदाहरण हैं।

वस्तुतः समाजवादी यथार्थवाद कोई नूतन साहित्यिक सिद्धान्त नहीं। यह यथार्थवादी प्रणाली को एक सुनिश्चित दार्शनिक दृष्टिकोण के प्रति लागू करता है। यथार्थवादी प्रणाली, मूलतः स्थिर, गतिहीन और चित्रकला के

अधिक समीप है। समाजवादी यथार्थवाद एक गतिशील दृष्टिकोण है जिसका उद्देश्य यथार्थवादी प्रणाली के अनुसार समाज में सतत होने वाले परिवर्तन, विकास और अविराम गति को चित्रण कर, उच्चतर सामाजिक अवस्था के लिए व्यक्तिगत मनोविज्ञान को प्रेरित करना है। 'समाजवादी यथार्थवाद' के अन्तर्गत व्यक्तिगत भावना का स्थान गौण ही नहीं, वरन् सामाजिक दृष्टिकोण, व्यक्तिगत मनोविज्ञान का नियन्त्रण करता है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, जिसका साहित्यिक रूप समाजवादी यथार्थवाद है, विचार और भावना की अपेक्षा वस्तु की प्राथमिकता मानता है। इसके अनुसार वस्तु प्रकृति का दृश्यगत तथ्य है, विचार और भावना की उत्पत्ति वस्तु से होती है। अतः साहित्य का प्रयोजन व्यक्ति के विचार और भावनाओं का संश्लेषण और विश्लेषण प्रस्तुत करना नहीं है। व्यक्ति की भावना का महत्व समाज में वस्तुगत परिवर्तन, विकास और क्रान्ति से अलग नहीं है। व्यक्ति की भावना सामाजिक तत्व की प्रक्रिया से उद्भूत हुई है। अतः यथार्थवादी प्रणाली के अनुसार व्यक्ति की भावना और उसमें मस्तिष्क की प्रक्रियायों का चित्रण करता है, सामाजिक तत्व की महत्ता स्वीकार करते हुए भी, व्यक्ति के मन और हृदय के घात और प्रतिघात का विश्लेषण करता है। समाजवादी यथार्थवाद के सिद्धान्त के अनुसार, व्यक्ति का अस्तित्व सामाजिक आन्दोलन, आर्थिक यन्त्र के नियन्त्रणकर्त्ता से स्वतन्त्र नहीं है। यही कारण है कि सोवियट उपन्यास में नायक, कोई व्यक्ति नहीं, वह जन समूह का प्रतीक है, सामाजिक क्रान्ति का यन्त्र है। उसके विचार और भावना की सार्थकता उच्चतर सामाजिक उत्पादन और भविष्य की ओर विकासोन्मुख गतिशीलता में है।

समाजवादी यथार्थवाद, साहित्य क्षेत्र में, नीति-प्रधान सिद्धान्त है। इसका स्फुरण मार्क्स और लेनिन के दर्शन से हुआ है, लेकिन इसकी रूपरेखा सोवियट साहित्यकारों द्वारा निर्मित हुई है। गोगल और पुश्किन, तुर्गनेव और डास्टवयस्की, टाल्सटाय और गोर्की के नीति-प्रधान साहित्य का उत्तराधिकारी सोवियट रूस का यथार्थवादी साहित्य है, जिसका लक्ष्य साहित्य के माध्यम से समाज की व्याख्या गति और परिवर्त्तन के सिद्धान्तों के अनुसार कर, सप्रयोजन और सोद्देश्य प्रमाणित करना है। समाजवादी यथार्थवाद में 'शाब्दिक सौन्दर्यवाद' 'शैली प्राथमिकता' का स्थान नहीं। इसके अनुसार साहित्य और कला मानव का व्यापार है और इसका मापदण्ड अन्य मानव-व्यापारों की तरह समाज-कल्याण-भावना है। 'कला एक मानव-व्यापार है' टाल्सटाय ने 'कला

क्या है' में घोषित किया। समाजवादी यथार्थवाद टाल्सटाय के सिद्धान्तों, सरलता, सत्यता और कल्याण-भावना की मार्क्सवादी दर्शन के अनुसार व्याख्या है। मार्क्सवादियों का सत्य ऐतिहासिक और स्थूल वास्तविकता है, जो मानव के विचारों और भावनाओं का रूपान्तर करती रहती है। कल्याण-भावना से उनका मतलब क्रान्ति के पश्चात् वर्गविहीन समाज का कल्याण है।

समाजवादी यथार्थवाद सरल सिद्धान्त नहीं है। यह एक निगूढ़ और सतत विकसित होने वाला सिद्धान्त है। व्यापक अर्थ में, समाजवादी यथार्थवाद के अनुसार, कलाकार, शाश्वत कहे जाने वाले सत्यों और मानव-वासनाओं में न उलझ, अपने युग की स्थूल ऐतिहासिक घटनाओं से प्रेरणा प्राप्त करता है। 'समाजवादी मानव' मानव का निर्माता है, मानव की वासनाओं का शिकार नहीं। इस दृष्टि से वास्तविकता का कोई स्थिर और सनातन अर्थ नहीं, यह सतत परिवर्तनशील है। १९४२ ई० का यथार्थ १९४६ ई० का यथार्थ नहीं है। इसके अनुसार दान्ते का 'डीवाइन कौमेडी' और तुलसी की रामायण प्रगतिशील साहित्य है। मध्य-युग में धर्म युग की वास्तविकता थी; धार्मिक समस्या युग की स्थूल ऐतिहासिक समस्या थी। आदिम युग में 'व्यक्तिगत वीरता' जीवन का कठोर सत्य थी, जो मानव को सामूहिक जीवन का स्वरूप निर्धारित करती थी। आज के युग में अर्थ की समस्या और आर्थिक प्रश्नों से संलग्न समस्याएँ युग के ऐतिहासिक सत्य हैं। अतः आज का कलाकार अपने युग की कठोर वास्तविकता से विमुख हो सच्ची कलाकृति का सृजन नहीं कर सकता। कलाकार की सच्ची अनुभूतियों का उक्त आज के युग में सतत होने वाले संघर्ष और क्रान्तिकारी कार्य होंगे। आज का कलाकार, यथार्थवाद में व्यापक अर्थ में, सामाजिक प्राणी है और विशुद्ध कलाकार गौण रूप में है। सामाजिक प्राणी होने की हैसियत से कलाकार का यह धर्म हो जाता है कि उसकी कला, न केवल अपने युग की चेतना से प्रेरणा प्राप्त करे, वरन् उच्चतर सामाजिक जीवन में होड़ होने वाले प्रयासों में हथियार का काम करे।

संकुचित अर्थ में, समाजवादी यथार्थवाद को वर्ग-सङ्घर्ष के सिद्धान्त तक सीमित किया गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी भी कला-कृति का मापदण्ड यह है कि यह कहाँ तक वर्ग-सङ्घर्ष से तीव्रकर, इसकी यथार्थता को चित्रण कर, वर्ग विहीन समाज की स्थापना में योग देता है। यह मनोवृत्ति सङ्कीर्ण और संकुचित है, जो साहित्य को जीवन की गतिशीलता से वंचित कर सिद्धान्त की बेड़ियों में जकड़ देता है। रूसी क्रान्ति के पश्चात् सोवियट साहित्यकारों

और समीक्षकों की यह प्रवृत्ति कुछ वर्षों तक रही। वस्तुतः यह समाजवादी यथार्थवाद के तथ्य का विकृत स्वरूप है।

कहा जाता है कि समाजवादी यथार्थवाद के सिद्धान्तों के आधार पर रचित प्रगतिशील साहित्य में कला के शैली पक्ष की अवहेलना की जाती है। कला के शैली पक्ष की उपेक्षा का प्रश्न नहीं है। कला सम्बन्धी सभी सिद्धान्त वस्तु और शैली की प्राथमिकता से सम्बद्ध हैं। समाजवादी यथार्थवाद, न कोई कलावादियों की तरह, कला को नीति और उपयोगिता से परे मानता है न क्रोचे जैसे अभिव्यञ्जनावादियों की तरह कला को स्वयं प्रकाशज्ञान (intuition) से उद्भूत मान, कला का चरमोत्कर्ष अभिव्यक्ति में समझता है और न मनोवैज्ञानिकवादियों की तरह कला को मानसिक विकारों के विश्लेषण की गुत्थियों तक सीमित करता है, बल्कि कला में वस्तु की भावपक्ष की प्राथमिकता स्वीकार कर, कला को नीति और उपयोगिता से सम्बद्ध कर, इसका लक्ष्य समाज के स्थूल ऐतिहासिक सत्यों की व्याख्या; उच्चतर समाज स्थापना की दृष्टि से प्रस्तुत करना मानता है। स्वभावतः कला का शैलीपक्ष, उपेक्षित नहीं, गौण हो जाता है। दर्शन के क्षेत्र में आदर्शवादी, जड़ की अपेक्षा विचार, भावना तथा स्वयं प्रकाशज्ञान की प्रमुखता स्वीकार करते हैं और कला के क्षेत्र में शैली को या तो प्रधानता देते हैं अथवा वस्तु और शैली को अभिन्न समझते हैं। दर्शन के क्षेत्र में, समाजवादी विचार और भावना को भौतिक अवस्थाओं से उद्भूत मानते हैं, विचार की अपेक्षा जड़ की प्राथमिकता में विश्वास करते हैं, कला के क्षेत्र में कला के शैलीपक्ष की अपेक्षा भावपक्ष की समाजवादी दृष्टिकोण के अनुसार व्याख्या को प्रधानता प्रदान करते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि समाजवादी कलाकार केवल युग की आर्थिक समस्याओं में ही उलझा रहता है अथवा वह कला के शैलीपक्ष की नितान्त अवहेलना करता है। समाजवादी यथार्थवाद, आधुनिक जीवन की जटिलता के अनुसार कला को समाज के आर्थिक पक्ष, बौद्धिक पक्ष और भाव पक्ष से संश्लिष्ट रखता है। प्रगतिशील साहित्य जीवन के अन्तर्सम्बन्धों, जटिलता और विविधता को स्वीकार करता है। इस तथ्य की पुष्टि, सोवियट साहित्यकार अलेक्सी टाल्सटाय की कहानियों में होती है। अन्तर इतना ही है कि समाजवादी कलाकार की कृतियों का मनोविज्ञान युग के आर्थिक प्रश्नों और उच्चतर सामाजिक जीवन हेतु सङ्घर्ष अथवा सतत प्रयासों से सम्बन्धित रहता है। चूँकि उसका विश्वास है कि आज के युग में मानव के व्यक्तित्व का विकास प्रधानतः 'सम्पूर्णतः नहीं आर्थिक अवस्था पर

निर्भर करता है। वर्तमान युग में आर्थिक निर्भरता मानसिक और आध्यात्मिक दासत्व की निशानी है। इस अर्थ में समाजवादी कलाकारों का यह दावा है कि वे आध्यात्मिक कलाकार हैं।

समाजवादी यथार्थवाद के सिद्धान्त, व्यापक अर्थ में प्रगतिशील साहित्यिक सिद्धान्त हैं। इसने साहित्य को कल्पनातीत रहस्यवादियों और प्रतीकवादियों की अस्पष्टता और अबोधगम्यता के घिराव से छुटकारा दिला, सरलता और बोधगम्यता प्रदान की है, कोरे कलावादियों के शब्दजाल और अभिव्यक्ति-वादियों के दार्शनिक अभिव्यक्तिकरण से उन्मुक्त कर साहित्य को जीवन की दृढ़ भित्ति पर खड़ा किया है, मनोवैज्ञानिकवादियों की आन्तरिकता को समाज की व्यापक स्थूल समस्याओं से संश्लिष्ट कर, वहिर्मुखी बना, मनोविज्ञान की निगूढ़ और पेचीली कोठरी से निकाल साहित्य को जीवन की स्वस्थता और प्रकाश दिया है, प्रकृतिवादी कलाकारों के तटस्थ सिद्धान्तों की निष्क्रियता से विच्छिन्न कर साहित्य को गतिशील और सङ्घर्षशील दर्शन की नीति से संलग्न किया है। साहित्य और जीवन को एक दूसरे के निकट लाना ही समाजवादी कलाकार की सबसे बड़ी देन है।

समाजवादी यथार्थवाद का सिद्धान्त प्रगतिशील, स्वस्थ और आधुनिक युग के अनुकूल है। फिर भी उस सिद्धान्त में एक वहुत बड़ी कमी है। साहित्य को युग के स्थूल, साकार, ऐतिहासिक सत्यों से सम्बद्ध करने के फलस्वरूप कलाकारों की प्रवृत्ति साहित्य के कलापक्ष और भाव पक्ष को हेय समझने की हो जाती है। सोवियट साहित्यकारों की कृतियों को पढ़ने के पश्चात् मेरी यह आशङ्का और भी दृढ़ हो गई है। हिन्दी में भी प्रगतिशील साहित्य के नाम पर साहित्य के कलापक्ष की हत्या हो रही है। यही कारण है कि प्रगतिशील साहित्य के विरुद्ध भी एक प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो गई है, जो बतलाती है कि प्रगतिशील साहित्य का एक मात्र उद्देश्य अर्थ-साधन और जीवन का कुत्सित चित्रण करना है। इस प्रतिक्रिया के कारण, वे प्रगतिशील कलाकार हैं, जो समाजवादी यथार्थवाद के निगूढ़, गतिशील और अन्तर्सम्बन्धित सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप न प्रदान कर, कला और भावनापक्ष की उपेक्षा कर, साहित्य में गत्यवरोध उत्पन्न कर रहे हैं। वर्तमान-युग सही अर्थ में, यथार्थवादी कला-कारों की प्रतिज्ञा कर रहा है, जो अपने युग की कठोर यथार्थता का कलात्मक चित्रण कर, साहित्य के सहारे उन्नतिशील समाज की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा दे सके।

[साहित्य-सन्देश, मार्च १९५३।

समस्यामूलक उपन्यास

[डा० महेन्द्र भटनागर]

उपन्यास का अत्याधुनिक स्वरूप समस्यामूलक है। समस्यामूलक उपन्यास जैसा कि शब्दों से ध्वनित होता है किसी समस्या विशेष को लेकर चलते हैं। समस्या परिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक, नौतिक, पारलौकिक आदि किसी भी प्रकार की हो सकती है। सामाजिक उपन्यास और सामाजिक समस्यामूलक उपन्यास में वस्तु-विन्यास सम्बन्धी भेद हैं, ठीक इसी प्रकार राजनीतिक उपन्यास, परिवारिक उपन्यास आदि के सम्बन्ध में है। समस्यामूलक उपन्यास वस्तु को प्रधानता नहीं देते, वे कहीं-कहीं तो औपन्यासिक रचनातन्त्र तक की उपेक्षा कर जाते हैं, पर समस्या के महत्त्व और उसके प्रभावशाली ढङ्ग से रखने के कारण इस उपेक्षा से पाठक को कृति के प्रति अरुचि नहीं होती। समस्यामूलक उपन्यास औपन्यासिक तत्त्वों में सबसे अधिक महत्त्व अपनी समस्या को ही देते हैं। शेष तत्त्व उनमें मिलेंगे पर अन्य औपन्यासिक प्रकारों से भिन्न। उसके चरित्राङ्कन, कथा विकासादि के पृथक मानदण्ड हैं।

समस्यामूलक उपन्यास के दो भेद पाए जाते हैं—

(१) जिसमें केवल एक समस्या हो।

(२) जिसमें एक प्रधान समस्या के साथ अन्य समस्याएँ भी गुंथी हुई हों, पर उनका स्थान गौण हो।

वास्तव में देखा जाय तो केवल एक समस्या वाले उपन्यास ही समस्यामूलक उपन्यास के नाम से पुकारे जाने के अधिकारी हैं। दूसरे प्रकार के उपन्यास समस्या-प्रधान होते हुए भी समस्यामूलक नहीं कहे जा सकते; क्योंकि उनका रचनातन्त्र अन्य औपन्यासिक स्वरूपों से इतना भिन्न नहीं होता। समस्यामूलक उपन्यास की श्रेणी में उनको इस कारण गिना जा सकता है कि उपउन्यासकार का ध्यान उनमें भी समस्याओं की ओर ही केन्द्रित रहता है। स्वरू

में कुछ भिन्नता होते हुए भी उद्देश्य में एकता अवश्य मिलती है। इसके अतिरिक्त वे एक दूसरे के अत्यधिक निकट भी हैं, विरोधी होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। अतः समस्यामूलक उपन्यास की विस्तृत परिभाषा के अन्तर्गत उपर्युक्त दोनों प्रकार के उपन्यास सम्मिलित किए जा सकते हैं।

समस्यामूलक उपन्यासों का प्रचार दिन पर दिन बढ़ता जा रहा है। वे प्रत्येक देश में लोकप्रिय हो रहे हैं। जीवन की नाना समस्याओं का उद्घाटन तथा उनका हल, यद्यपि हल सदैव अपेक्षित नहीं होता, आज के उपन्यास का प्रधान कर्म है। उयन्यासकार एक सामाजिक प्राणी होता है; वह अपने समय की समस्याओं से विमुख नहीं रह सकता। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में लिखते हैं, "लोक या किसी जन समाज के बीच काल की गति के अनुसार जो गूढ़ और चिन्त्य परिस्थितियाँ खड़ी होती हैं उनको गोचर रूप में सामने लाना और कभी-कभी निस्तार का मार्ग भी प्रत्यक्ष करना उपन्यास का काम है।"[1] प्रेमचन्द साहित्य का उद्देश्य ही समस्याओं पर विचार एवं उनका हल उपस्थित करना घोषित करते हैं, "अब यह (साहित्य) केवल नायक नायिका के संयोग वियोग की कहानी नहीं सुनता, किन्तु जीवन की समस्याओं पर भी विचार करता है, और उन्हें हल करता है।"[2] अपने समय की समस्याओं के प्रति लेखक को उदासीन नहीं रहना चाहिए। रेल्फ फाक्स के शब्दों में, "क्या उपन्यासकार दुनिया की समस्याओं की जिनमें वह रहता है उपेक्षा कर सकता है? क्या वह युद्ध के लिए होने वाले शोर के प्रति अपने कान बन्द कर सकता है अपने देश की कला के प्रति आँखें बन्द रख सकता है, क्या वह अपने चारों ओर भयानक वातावरण देखकर अपना मुँह बन्द रख सकता है जबकि राजकीय रेहन के नाम पर व्यक्तिगत लोलुपता को ज्यों का त्यों कायम रखने के लिए जीना दूभर कर दिया गया है। दिन पर दिन उपन्यासकार यह अनुभव करने लगे हैं कि आँख, कान और स्वर वास्तव में चेतना के अङ्ग है और मानवीय दुनिया को शक्ति प्रदान करने के लिए उत्तर दायी हैं; वे किसी आध्यात्मिक विश्व के निष्क्रिय दास मात्र नहीं हैं जैसीं कि कला के क्षेत्र में परम्परागत मान्यता रही है। "यही उपन्यासकार का युग धर्म है। उसे अपने समय की समस्याओं में काफी गहरे डूब जाना होता है। समस्या-

---

[1] हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५३६

[2] कुछ विचार, पृष्ठ ८।

मूलक उपन्यास को कला का उपयोगितावादी दृष्टिकोण ग्रहण करना पड़ता है। उसका उद्देश्य सामाजिक है। वैयक्तिक समस्याओं के उपन्यास मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की कोटि में आते हैं। वे मात्र व्यक्ति के मन का विश्लेषण करते हैं; किसी सामूहिक जन-जीवन के प्रश्नों को, समस्याओं को व आवश्यकताओं को सम्मुख नहीं रखते। समस्यामूलक उपन्यास हमारे जटिल और विभिन्न रूपात्मक संसार का दर्पण हैं।

औपन्यासिक तत्त्व समस्यामूलक उपन्यासों में सीमित और निर्दिष्ट दृष्टिकोण लेकर आते हैं। कथावस्तु, चरित्र चित्रण, कथोपकथन देशकाल आदि सभी तत्त्व अपने स्वतंत्र रूप में इनमें दृष्टिगोचर होंगे। जहाँ तक वस्तु का सम्बन्ध है समस्यामूलक उपन्यास में उसके विन्यास का विशेष महत्त्व है। समस्या को आधार मानकर उपन्यासकार वस्तु की रचना करता है। जीवन की घटनाओं का वह इस तरह सङ्कलन करता है कि समस्या पाठकों के सामने धीरे-धीरे आती है और आगे चलकर पूरे उपन्यास पर छा जाती है। इस क्रिया में सामाजिक व राजनीतिक परिपार्श्व की बड़ी अपेक्षा रहती है। सामाजिक व राजनीतिक वातावरण समस्यामूलक उपन्यासों की रङ्गभूमि है। इसी वातावरण पर समस्या की गम्भीरता निर्भर करती है। समस्या की जटिलता भी सामाजिक या राजनीतिक सीमाओं में ही आबद्ध रहती है; तथा समस्या का हल भी इन्हीं सीमाओं के परिवर्तन या विकास पर निर्भर करता है। समस्यामूलक उपन्यासकार का कर्म ऐतिहासिक उपन्यासकार से भी अधिक बँधा हुआ है। जिस प्रकार ऐतिहासिक उपन्यासकार अपने उपन्यास की कथा को मनमाना रूप नहीं दे सकता उसी प्रकार समस्यामूलक उपन्यासकार भी अपने प्रतिपाद्य समाज की स्थिति का वर्णन करते समय उसे अपनी इच्छानुकूल बदल नहीं सकता। जिस प्रकार की समस्या अवस्थित हो उसको ज्यों का त्यों उसे ग्रहण करना पड़ता है; फिर समाजगत बाधाओं, मर्यादाओं तथा सीमाओं का परिचय करता हुआ वह समयोचित और देशोचित हल निकालेगा। प्रायः समस्याओं का उत्पन्न होना सामाजिक, पारिवारिक या राजनैतिक दशाओं पर निर्भर करता है। अतः समस्यामूलक उपन्यासकार को अपने समय के समस्त प्रकार के वातावरण की सम्पूर्ण जानकारी होनी चाहिए। समाज शास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति, नीतिशास्त्र और इतिहास का विस्तृत वैज्ञानिक ज्ञान उसको होना चाहिए। हडसन लिखते हैं—"उपन्यासकार जीवन के जो भी क्षेत्र अपने लिए चुने उसे उन्हें पूर्ण समझ के पश्चात् ही लिखना चाहिए, व जो वर्ण्य विषय के नैकट्य से ही प्राप्त

हो सकती है।" * यह तथ्य समस्यामूलक उपन्यास के अन्तर्गत विशेष महत्त्व रखता है। समस्यामूलक उपन्यास में कथा का विकास विशिष्ट दृष्टिकोण को लेकर होता है। उपन्यासकार का यहाँ उद्देश्य पाठकों का मनोरञ्जन करना नहीं होता। उसे तो यथार्थ की कठोर भूमि पर खड़े होकर अपनी कृति का निर्माण करना होता है। जिस समस्या को लेकर वह चलता है और जो उस समस्या को देखने का दृष्टिकोण होता है उसी की पूर्तिभावना को सामने रख कर वह कथा सामग्री एकत्र करता है। इस कथा सामग्री में कोई भी अनावश्यक घटना का समावेश नहीं होना चाहिए। अन्य घटनाओं के समावेश से प्रायः अन्य उपन्यासों की रोचकता बढ़ जाती है, पर समस्यामूलक उपन्यासों में ऐसा करने से उसके प्रभाव की तीव्रता पर आघात होता है। समस्यामूलक उपन्यासकार अपने पाठक का ध्यान एक क्षण भी प्रतिपाद्य समस्या से हटाना नहीं चाहता। उसका मार्ग प्रशस्त राजपथ नहीं है, उसे सकरी पगडण्डी पकड़नी होती है और समस्याओं के बीहड़ जङ्गलों में काफी गहरे पहुँचना होता है। उस पगडण्डी के आसपास या मध्य में जो कुछ है वह उसका है, उसके बाहर के क्षेत्र से उसे कोई सरोकार नहीं।

समस्यामूलक उपन्यास कोई निबन्ध नहीं होता वह कलात्मक रचना होती है। इसलिए उसके समस्या सम्बन्धी विचारों, प्रश्नों व जिज्ञासाओं के लिए अत्यधिक तीव्र व प्रभावशाली घटना की खोज जरूरी है। घटना साधारण होने पर समस्या उभर नहीं सकती। एक ही समस्या को लेकर नाना उपन्यासों की रचना की जा सकती है; पर उसकी सफलता की दृष्टि से श्रेष्ठता बहुत कुछ घटना पर निर्भर करती है। विषय वस्तु के चुनाव में समस्यामूलक उपन्यासकार को बड़ा सजग रहना होता है। बिना इसके उसके ऊँचे विचार और सूक्ष्म दृष्टि का पूरा-पूरा उपयोग नहीं हो सकता।

कथावस्तु की स्वाभाविकता अनिवार्य है। उसके विकास पथ का ग्राफ वक्र होता है। प्रारम्भ का अंश विस्तृत नहीं होता। मध्य भाग में समस्या का

---

* "Whatever aspects of life the novelist may choose to write about, he should write them with the grasp and thoroughness which can be secured only by familiarity with his material."

An Introduction to the study of Literature (William Henry Hudson) Page 175—

उभार होता है और चरमोत्कर्ष कई आते हैं तथा द्वन्द्व की तीव्रता बढ़ती जाती है और फिर प्रायः सभी पहलुओं के प्रकाशन के बाद उसका अन्त हो जाता है। समस्यामूलक उपन्यासों का अन्त प्रायः आकस्मिक होता है। वह समस्या को रखता है, उसका विश्लेषण करता है, उसके कारणों पर प्रकाश डालता है, पर हल नहीं व्यक्त करता, सुझाव भले ही दे। वह पाठकों को सोचने के लिए बाध्य करता है और उनकी विचार शक्ति को बढ़ाता है। कुछ समस्यामूलक उपन्यासकार हल भी व्यक्त करते हैं और उपन्यास का अन्त धीरे-धीरे करके एक आदर्श समाज के सामने स्थित करते हैं। समस्याओं के हल का निर्देश यदि उपन्यासकार करता है तो वह उपन्यासकार के साथ-साथ नेता का भी काम करता है। समाज को बदलने के साथ-साथ नव निर्माण में भी योग देता है; पर यहाँ उसके फल के व्यावहारिक और वैज्ञानिक होने का प्रश्न आता है। और यहीं पर उपन्यासकार के व्यक्तिगत मन्तव्यों, धारणाओं, विश्वासों आदि का परिचय मिलता है।

प्रत्येक उपन्यासकार का अपना उद्देश्य होता है। प्रायः यही देखा जाता है कि उपन्यासकार समस्याओं को अपने उद्देश्य की रोशनी में ही देखते हैं। उनका जीवन दर्शन समस्याओं को देखने व हल करने में सदैव आगे रहता है। लेखक का व्यक्तित्व ऐसे उपन्यासों में विशेष रूप से लक्षित होता है। वह सभी चीजों को अपने दृष्टिकोण से देखता है। पर उसका दृष्टिकोण वैयक्तिक नहीं होना चाहिए यदि उसने वस्तुओं को देखने का अपना दृष्टिकोण सामाजिक चेतना व आवश्यकताओं को सामने रखकर बनाया है तो उसकी कृति समाज के लिए स्वस्थकर तथा उपयोगी सिद्ध होगी।

पात्रों के चरित्र-चित्रण का स्थान समस्यामूलक उपन्यासों में समस्याओं के साथ ही रहता है। पात्र इतने स्वतन्त्र नहीं हो सकते जितने चरित्र-प्रधान या घटना-चरित्र-प्रधान उपन्यासों में। चरित्र-प्रधान उपन्यासों में लेखक का ध्यान पात्रों पर केन्द्रित रहता है जबकि समस्यामूलक उपन्यासों में समस्याओं पर। कभी-कभी यह ध्यान इतना अधिक दे दिया जाता है कि पात्रों का स्वतन्त्र अस्तित्व तक खतरे में पड़ जाता है और वे उपन्यासकार की इच्छा पर नाचने लगते हैं, कठपुतली की तरह। यह एक दोष अवश्य है और प्रत्येक उपन्यासकार को इससे बचना चाहिए। समस्यामूलक उपन्यास को भी इस अतिरेक से बचना जरूरी है। क्योंकि उससे इसके उद्देश्य के कमजोर पड़ने की सम्भावना रहती है। समस्यामूलक उपन्यास में कथोपकथन केवल कथा के विकास

अथवा चरित्रांकन के दृष्टिकोण से नहीं रखे जाते वरन् समस्याओं के उद्घाटन करने उनके कारण आदि पर प्रकाश डालने के निमित्त होते हैं। लेखक उनके द्वारा अपने विचारों को भली भाँति प्रकट करता है। प्रायः संवाद लम्बे हो जाते हैं। विचार प्रधान तो वे होते ही हैं। पात्रों के मुख से लेखक अपने मन्तव्यों को सामने रखता चलता है। शेष उपन्यासों के समान उसका उद्देश्य यह नहीं होता कि संवाद छोटे हों, कथा को आगे बढ़ाएँ, पात्रों की मनोवृत्तियों, स्वभाव आदि पर प्रकाश डालें आदि। अतः समस्यामूलक उपन्यासों में यह स्वाभाविक है कि संवाद कहीं-कहीं लेख व भाषण का रूप धारण कर लेते हैं। क्योंकि उपन्यासकार का प्रयोजन ही यह होता है। आलोचक ऐसे संवादों वाले उपन्यासों पर प्रचार का आक्षेप लगाते हैं उनका यह आक्षेप संगत नहीं दीखता; क्योंकि समस्यामूलक उपन्यासकार उद्देश्य व उपयोगिता से सम्बन्ध रखता है। वह जान बूझकर उपन्यासों को प्रचार का माध्यम बनाता है। यदि यह दोष माना भी जाय तो भी उपन्यासकार की चेतनावस्था का जनक है। अतः वह तो अन्ततोगत्वा समस्यामूलक उपन्यास की टेकनीक का एक तत्त्व ही बन जाता है। अन्त में समस्यामूलक उपन्यास और कला का क्या सम्बन्ध है प्रश्न शेष रहता है। कोई भी रचना बिना कलात्मक हुए प्रभावशाली नहीं हो सकती। कला की ओर से समस्यामूलक उपन्यासकार भी उदासीन नहीं रह सकता। कलाशून्य रचनाओं की अवधि क्षणिक होती है। ये सब पाठकों को प्रभावित भी नहीं कर सकतीं। लेकिन कलात्मक उपन्यासों में दो भेद हैं। कलात्मक उपन्यासों को कला के दृष्टिकोण से ही परखना चाहिए जबकि समस्यामूलक उपन्यासों के विश्लेषण का आधार सामाजिक पृष्ठभूमि है। समस्यामूलक उपन्यासों में कला रहती है; लेकिन उनका मूल्यांकन कला की दृष्टि से करना अवैज्ञानिक है। उपन्यासकार यदि कहीं-कहीं कला की सीमाओं का उल्लंघन भी कर जाए तो यह चतुरता नहीं है; क्योंकि ऐसे उपन्यास अपने उद्देश्य में इतने सुदृढ़ होते हैं कि उनका सामूहिक प्रभाव कला के अभाव की पूर्त्ति कर देता है। वे हमें सोचने के लिए विवश करते हैं। उनका प्रभाव उपन्यास पढ़ लेने के बाद नहीं मिलता है। ये हमारी चेतना और सृजनात्मक शांति को क्रियाशील करते हैं।

समाज अपनी समस्याओं से परिचित तो रहता ही है; बड़े-बड़े राजनीतिक नेता अपने भाषणों से उसे उन समस्याओं में सङ्घर्ष करने के लिए उत्तेजित करते हैं। पर इन चीजों का उस पर उतना प्रभाव नहीं पड़ता जितना साहित्य के द्वारा। उपन्यासकार कथा के सहारे समस्याओं के सम्बन्ध में जो भी

विचार व्यक्त करते हैं उनका सीधा असर समाज पर पड़ता है। स्पष्ट है कि इस क्रिया में कला का योग है; जिसे हम समस्यामूलक उपन्यास की कला कहते हैं, पर, यहाँ कला प्रधान पद पर आरूढ़ नहीं की जाती उसका तो सहारा मान लिया जाता है। इस सहारे से उपन्यासकार के गहरे से गहरे विचार टिके रहते हैं और पाठक को अरुचि नहीं होती। यह उसकी टिप्पणियों को ध्यान से पढ़ता है। ऐसे ही उपन्यास समाज को बदलने की क्षमता रखते हैं।

[साहित्य-सन्देश, जुलाई-अगस्त १९५६

———

प्रेमचन्द का आदर्शोन्मुख यथार्थवाद

[प्रो० ग्रानन्दनारायण शर्मा]

प्रेमचन्द की ग्रालोचना के क्रम में ग्रादर्शवाद ग्रौर यथार्थवाद इन दो शब्दों की चर्चा प्रायः हुग्रा करती है। प्रेमचन्द ने स्वयं भी जैसे ग्रालोचकों से मिलकर ग्रपनी कला के लिए 'ग्रादर्शोन्मुख यथार्थवादी' शब्द का प्रयोग किया है। निश्चय ही प्रेमचन्द ग्रादर्शोन्मुख यथार्थवादी कलाकार थे, लेकिन उस ग्रर्थ में नहीं, जिस ग्रर्थ में उनके ग्रालोचक उन्हें स्वीकार करते हैं। साहित्य में सत् ग्रौर ग्रसत् का द्वन्द्व चिरकाल से चित्रित किया जाता रहा है। एक उदात्त चेता मनुष्य स्वभावतः 'सत्' तत्त्व के प्रति एक उत्कट ग्राकर्षरण से ग्रभिभूत होता है ग्रौर उदात्त ग्रौर मंगलकारी भावों ग्रौर विचारों का प्राबल्य तथा प्राधान्य साहित्य में प्रतिष्ठित हुग्रा देखना चाहता है। किंतु इस प्रतिष्ठा का ढङ्ग ऐसा होना चाहिए कि वह इस व्यक्त विश्व में दैनंदिन घटित होने वाले कार्य व्यापारों से सर्वथा प्रतिकूल ग्रौर फलतः ग्रविश्वसनीय न हो एवं हमारी ग्रालोचक बुद्धि को संतोष देता चले। कलाकृति में जब 'सत्' के प्रति लेखक का पक्षपात ग्रधिक मुखर होता है तब वह रचना ग्रादर्शपरक हो जाती है।

'गोदान' को छोड़कर प्रेमचन्द के सभी उपन्यास शतप्रतिशत ग्रादर्शवादी हैं। यह ठीक है कि उनकी कथावस्तु नैतिक ग्रौर यथार्थ जीवन संग्रहीत है ग्रौर उनके पात्र हमारे ग्रतिपरिचय की सीमा में हैं, पर जिस विशेष ढङ्ग से उनका नियोजन हुग्रा है, उसमें यथार्थवाद के लिए बहुत कम ग्रवकाश रह जाता है। बल्कि कहीं-कहीं तो जान बूझकर प्रेमचन्द ने ग्रपनी रचनाग्रों में ऐसे ग्रप्राकृतिक तत्त्वों का समावेश कर दिया है (जैसे 'कायाकल्प' ग्रौर 'रङ्गभूमि' में) कि वे ग्रादर्शवादी ही नहीं, ग्रविश्वसनीय भी हो गई हैं। उनके उपन्यास ग्रारम्भ से ही एक सुनिश्चित ग्रादर्श को लेकर चलते हैं ग्रौर बीच में कई कृत्रिम ग्रकृत्रिम मोड़ लेते हुए ग्रन्त में ग्रपने उद्देश्य की सिद्धि में पर्यवसित हो जाते हैं। यथार्थवाद के लिए जिस वस्तुगत दृष्टिकोण की ग्रपेक्षा होती है, उसका प्रेमचन्द के पास एकान्त ग्रभाव था। यथार्थवाद के विपरीत दो दृष्टि-

कोण संभव हैं—रूमानी और आदर्शवादी। जब विषयवस्तु पर भावना के साथ कल्पना का रङ्ग गाढ़ा चढ़ जाता है तो कला में रूमानी झलक आ जाती है। दूसरी ओर जब भावना विवेक के अंकुश द्वारा अनुशासित रहती है तो आदर्शवाद प्रमुख होता है। रूमानीपन भी एक प्रकार की आदर्शवादिता ही है, क्योंकि उसका लगाव ठोस धरती से नहीं के बराबर रहता है। दूसरी ओर आदर्शवादी अपने कल्पित मनोराज्य में विचरण करता हुआ भी बुद्धि के अंकुश को सर्वथा अस्वीकृत नहीं कर सकता। जैसा अनेक अवसरों पर प्रेमचन्द ने स्वयं स्वीकार किया है, उनकी कला का उद्देश्य कभी सस्ता मनोरंजन नहीं रहा। वह तो उनके हाथ में एक हथौड़े की भाँति थी, जिसकी हर चोट जीवन की प्रतिभा को एक विशिष्ट आकृति देने के लिए होती है। उन्होंने सामाजिक असङ्गतियों और विषमताओं को निकट से देखा और उनके परिष्कार के लिए साहित्य का सृजन किया। प्रेमचन्द प्रथम भारतीय उपन्यासकार हैं, जिन्होंने किसानों और निम्न-मध्यवर्ग का चित्रण बड़ी तत्परता और ईमानदारी के साथ किया है। "प्रेमचन्द शताब्दियों से पददलित, अपमानित और निष्पेषित कृषकों की आवाज को, पर्दे में कैद, पद-पद पर लांछित और असहाय नारी जाति की महिमा के जबरदस्त वकील थे; गरीबों और वेकसों के महत्व के प्रचारक थे।" (हिन्दी-साहित्य—हजारीप्रसाद द्विवेदी) साथ ही उनका अध्ययन एक तटस्थ दर्शक का मनोविनोद नहीं, वरन् वे स्वयं उस समाज के अङ्ग से बन गए हैं। इसलिए उनकी कला आदर्शवादी के सिवा और कुछ हो भी नहीं सकती। उनका जीवन-दर्शन, नीतिवाद, उपयोगितावाद—ये सभी उनके आदर्शवाद के ही उपकरण हैं। उन्होंने अपनी कला द्वारा उपयोगिता पर आवरण डालने की चेष्टा की है, लेकिन इसलिए नहीं कि पाठक इन्द्रधनुषी आवरण के व्यामोह में ही भटक कर रह जाय, बल्कि इसलिए कि वह आवरण द्वारा आवेष्ठित सत्य और भी उपयोगी बनकर ग्राह्य हो। कुनैन की गोलियाँ भी तो शकर लपेट कर दी जाती हैं।

प्रेमचन्दजी यथार्थ को बराबर असुन्दर का पर्याय समझते रहे। उन्होंने इस असुन्दर (यथार्थ) को कभी अपनी कृतियों में स्थान देने से इन्कार नहीं किया पर इसका प्रयोग उन्होंने वहीं तक अपेक्षित माना है, जहाँ तक सुन्दर को प्रस्तुत कर सकने में सहायक सिद्ध होता है। किंतु इससे आगे, जहाँ इसकी नग्नता कुरुचि उत्पन्न करने वाली या जुगुप्साजनक होती है, वहाँ तक बढ़ने को प्रेमचन्द ने कभी खतरे से खाली नहीं समझा। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार

किया है—"यथार्थवादी नग्नता तो भयंकर होती है, लेकिन उसकी ओर यदि संकेत भी कर दिया जाए तो एक नया ही सौंदर्य हो जाता है। कला संयम और संकेत में है। ऊषा की लाली में जो सौंदर्य है, वह सूर्य के पूर्ण प्रकाश में हरगिज नहीं।" (कुछ विचार) लेकिन जीवित रहने के लिए केवल ऊषा की लाली ही तो पर्याप्त नहीं। उसके लिए तो मध्याह्न का प्रखर प्रकाश और प्रदाह भी चाहिए और अवश्य चाहिए। कुरूप और नग्न यथार्थवाद किस प्रकार दिन के जीवनप्रद प्रकाश और प्रवाह में परिवर्त्तित हो सकता है, यह प्रेमचन्द ने अपने अन्तिम काल में अनुभव किया। कथा साहित्य की जो परम्परा प्रेमचन्द को अपने पूर्ववर्त्ती लेखकों से विरासत में मिली थी, उसमें भी यथार्थवाद के लिए कोई स्थान न था। फलतः प्रेमचन्द को अपना रास्ता आप गढ़ना पड़ा।

यथार्थवाद से दूर भागने का प्रेमचन्द के पास एक दूसरा कारण भी है। वर्त्तमान जीवन का जो चित्र सामने प्रस्तुत है, उसमें सुख से कहीं ज्यादा रङ्ग दुःख का है, उल्लास से कहीं अधिक स्थान उत्पीड़न ने ले लिया है। साथ ही आज समय कुछ इतना बदल गया है और परिस्थितियाँ इतनी विषम हो गई हैं कि अच्छे कार्यों का फल बराबर अच्छा ही देखने को नहीं मिलता। प्रेमचन्द ने देखा कि यदि कोरे यथार्थ का आग्रह करके चला गया तो सम्भव है 'सत्' के प्रति लोगों की आस्था डिगने लगे। अपने इसी भय को उन्होंने इस प्रकार व्यक्त किया है—"यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओं, हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है और इस तरह यथार्थवाद हमको निराशवादी बना देता है, मानव चरित्र पर से हमारा विश्वास उठ जाता है। हमको अपने चारों तरफ बुराई-ही-बुराई नजर आने लगती है।" (कुछ विचार) इस तरह अच्छाइयों पर से विश्वास न उठने देने और निराशावाद से पाठकों को (और स्वयं अपने को भी) बचाने के लिए भी वे आदर्शवाद की ओर मुड़ गये। प्रेमचन्द का सारा युग (गांधी-युग) ही एक प्रकार की स्थूल नैतिकता से आक्रान्त था। गद्य के क्षेत्र में पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी और पद्य में कवि-वर मैथिलीशरण गुप्त में भी यही स्थूल नैतिकताजनित आदर्शवाद काम कर रहा था। अतएव प्रेमचन्द जैसे सर्वथा नार्मल व्यक्तित्व वाले लेखक का आदर्श-वादी न होना ही आश्चर्य की बात होती!

प्रेमचन्द के मन में यथार्थवाद के प्रति इसलिए मोह नहीं कि वह कुत्सित है और मनुष्य को पतन की ओर ले जाने वाला है। उनका दृढ़ विश्वास

है कि मनुष्य दुर्बलताओं का आगार है और उसकी दुर्बलताओं का यथातथ्य चित्रण उसके लिए उन्मनकारी न होकर घातक भी हो सकता है। यदि हम किसी आदमी को ऊपर उठाना चाहते हैं तो हमें यह दिखलाना चाहिए कि मनुष्य कितना ऊपर उठ सकता है, न कि यह कि वह कितना नीचे गिर सकता है, या गिर चुका है। किन्तु यह दृष्टिकोण जीवन के विकास के लिए चाहे कितना भी स्वस्थ हो, साहित्य को आदर्शवाद से आक्रान्त कर उसे अत्यन्त साधारण स्तर पर ले आता है। कला हमारे लिए तभी सार्वजनीन और संवेद्य हो सकती है, जब वह यथार्थ से अपने जीवन का रस ग्रहण करती रहे। जो पात्र हमारी ही तरह अस्थि-माँस से निर्मित, दुःख-सुखों में प्रकम्पित होने वाले तथा अश्रु-हास से युक्त होते हैं, उन्हीं के प्रति हमारी मानवीय सहानुभूति प्लावित होती है और जो केवल लेखक के हाथों की कठपुतली, पुस्तकीय सिद्धान्तों के निर्जीव प्रतिविम्ब मात्र होते हैं, वे हमारी संवेदना को उकसा-उभार नहीं पाते। देवमन्दिर के आगे मस्तक झुकाने वाले अनेक व्यक्ति होते हैं, लेकिन ऐसे कितने हैं, जो सब समय देवता के प्रति अन्तर में अटूट आस्था रखते हों ? इसी एकान्त आदर्शवादी और काल्पनिक मनोराज्य के चित्रण के कारण प्रेमचन्द के अधिकांश प्रारम्भिक उपन्यास प्रभावहीन हो गए हैं और वे हमारी आलोचक बुद्धि को संतोष नहीं दे पाते।

जिस तरह प्रेमचन्द यथार्थवाद को पूर्णतया स्वीकार करने में हिचकते हैं, उसी तरह बुद्धिवाद से भी बचने के पक्ष में हैं। वे कहते हैं--"सच पूछिए तो कला और साहित्य बुद्धिवाद के लिए उपयुक्त ही नहीं। साहित्य तो भावुकता की वस्तु है। बुद्धिवाद की उतनी ही जरूरत है कि भावुकता वेलगाम होकर दौड़ने न पाए।" (कुछ विचार) यहाँ तक बुद्धिवाद से कोई खतरा नहीं। लेकिन आगे चलकर तो वह आदर्शवादी कल्पना की इमारत को ही ढहाने लगता है। इसलिए प्रेमचन्द उसे ज्यादा बढ़ने देना उचित नहीं समझते। यह भी उनकी आदर्शवादिता का ही परिणाम है।

लेकिन प्रेमचन्द की कला का एक दूसरा पक्ष भी है, जिसके कारण उन्हें यथार्थवादी तो नहीं, पर उसके निकट अवश्य कहा जा सकता है। उन्होंने कल्पित राजा-रानी, परी-जिन्न, तिलस्म-इन्द्रजाल आदि के स्थान पर जन-जीवन को अपने चित्रण का लक्ष्य बनाया, यह तो यथार्थवाद की पहली सीढ़ी है। प्रेमचन्द इससे कुछ और ऊपर चढ़ने पर भी यथार्थवादी ही रहे हैं, जहाँ पहुँचने पर अधिकांश तथाकथित यथार्थवादी लेखक आदर्शवादी बन जाते हैं।

पहली बात यह कि प्रेमचन्द ने यदि निम्नवर्गीय पात्रों को आदर्श बनाने के फेर में पुस्तकीय बना दिया है तो आज का लेखक उच्चवर्गीय पात्रों को कठपुतलियों से अधिक महत्व देने की आवश्यकता नहीं समझता। दूसरी बात, प्रेमचन्द की कथाएँ नित्यप्रति की यथार्थ समस्याओं को लेकर चलती हैं, अर्थात् उनकी समस्याएँ कुछेक फ्रायडियन या मार्क्सवादी लेखकों की तरह सैद्धान्तिक अथवा प्रतिज्ञात्मक नहीं हैं। वे सर्वथा व्यावहारिक और यथार्थ हैं। आज का लेखक पहले मन में एक यौन अथवा आर्थिक ग्रंथि की कल्पना कर लेता है और फिर उसी के अनुरूप पात्र और घटनाओं को गढ़ना आरम्भ करता है। इसलिए बहुधा उसके पात्र यथार्थवाद की भावभूमि पर जन्म लेकर भी हमारी मानवीय संवेदनाओं के आधार नहीं बन पाते। उदाहरण के लिए जैनेन्द्रकुमार और इलाचन्द जोशी की कुछ सर्वथा नवीन कृतियों को लिया जा सकता है। इसके विपरीत प्रेमचन्द ने एक निश्चित परिणाम की सिद्धि के लिए कभी अपने आधार को तोड़ा-मरोड़ा नहीं है। जैसे वे किसानों और जमींदारों में वर्ग सङ्घर्ष नहीं चाहते थे, वरन् वे सोचते थे कि उनमें एक-न-एक दिन समझौता हो जायगा। किंतु इसलिए उन्होंने किसानों पर जमींदारों के अत्याचारों को कम करके नहीं दिखाया। आर्थिक शोषण का यथार्थ चित्रण, उसकी सम्पूर्ण भयानकता के साथ उन्होंने किया। प्रेमचन्द के नियोजन में चाहे जितनी भी आदर्शवादिता हो, पर उनकी कथावस्तु, घटनाएँ और पात्रों में इतनी यथार्थता वर्त्तमान है कि हमारे अपने जीवन के ही अंश प्रतीत होते हैं। उन्होंने युग की समस्याओं की पर्याप्त छानबीन की है, जीवन की कटुता का भरपूर सामना किया है और इसके बाद भी जब वे निराशावादी न होकर सामने एक ज्वलन्त आदर्श उपस्थित करते हैं तो हम उनकी निष्ठा के प्रति नतमस्तक हुए बिना नहीं रह सकते एवं तब वह आदर्श भी अपने उद्देश्य की गरिमा के कारण सर्वथा क्षम्य हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि लेखक का मनुष्य की अच्छाइयों में अटूट विश्वास था और वह इस बात को दृढ़तापूर्वक स्वीकार करता था कि आज की रात चाहे जितनी काली हो, हमेशा चाँद बदली से ही नहीं ढँका रहेगा।

प्रेमचंद की आरम्भिक कृतियों में आदर्शवादिता की केवल जड़ ही गहरी नहीं है, उसकी शाखें भी ज़मीन से काफी ऊपर आ गई हैं। लेकिन ज्यों-ज्यों उनका जीवन से परिचय घना होता गया, सङ्घर्षों की रगड़ से छाती छिलती गई, त्यों-त्यों यथार्थ की उनकी पकड़ भी पहले से मजबूत होती गई। 'सेवासदन' में 'सेवासदन' की स्थापना द्वारा वेश्या वृत्ति का अन्त, 'प्रेमाश्रम'

में 'प्रेमाश्रम' के निर्माण द्वारा किसान-जमींदार समस्या का समाधान, 'निर्मला' में निर्मला की मृत्यु के उपरांत दहेज और अनमेल विवाह पर रोक तथा 'रङ्ग-भूमि' में सूरदास की मृत्यु के कारण कठोर भौतिकवाद पर मनुष्य के विवेक और सद्वृत्तियों की विजय आदि ऐसे कल्पित निष्कर्ष थे, जिनकी यथार्थता जीवन के अन्तिम काल में प्रेमचन्द पर स्पष्ट हुए बिना न रह सकी। 'वरदान' और 'प्रतिज्ञा' की समस्याओं का समाधान तो उन्हें और भी व्यावहारिक और खोखला जँचा। सुतरां उन्होंने अपनी प्रौढ़ रचनाओं में इस प्रकार से कृत्रिम और आदर्शपरक समाधान प्रस्तुत नहीं किये। 'गोदान' में नगर और ग्राम की दो सर्वथा भिन्न कथाएँ हैं जिनके योग से भारतीय जीवन का सम्यक् चित्र उतरता है। ये दोनों कथाएँ अन्त तक समानान्तर चलती रहती हैं, एक बिन्दु पर बरबस मिलाई नहीं जातीं, जैसा पूर्ववर्त्ती उपन्यासों में हुआ है। वहाँ 'होरी' तो अपने प्राचीन संस्कारों और अन्धविश्वासों को न छोड़ सकने के कारण अपना अस्तित्व मिटा ही देता है, उसका लड़का 'गोबर' भी जो आरम्भ में एक विद्रोह की चिनगारी लेकर आया था, अन्त तक आते-न-आते उसी परम्परा प्राप्त सर्वग्रासी व्यवस्था को स्वीकार कर लेता है, उसकी चक्की में स्वयं भी पिसने को सन्नद्ध हो जाता है। यह तीक्ष्ण यथार्थ ही तो है। 'कफन' में भी वास्तविकता ही उभर कर सामने आती है, समस्या का कोई सीधा सुलझाव नहीं। यहाँ यह भी स्पष्ट हो जाना चाहिए कि समस्या के प्रत्येक पहलू का यदि वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अनावरण हो गया तो वह भी एक प्रकार का सुलझाव ही है, बल्कि ज्यादा सही और विश्वसनीय सुलझाव है। सभी स्थितियों में यह सृष्टा के लिए आवश्यक नहीं कि वह एक कृत्रिम मार्ग का निर्देशन भी करे, क्योंकि ऐसा करने में एक तो भटक जाने का भय बना रहता है, दूसरे लेखक पाठक का अधिक विश्वास भी नहीं अर्जित कर पाता।

तो हम देखें कि इस प्रकार प्रेमचंद क्रमशः यथार्थवाद की ओर बढ़ रहे थे। उनका अन्तिम अपूर्ण उपन्यास 'मङ्गलसूत्र' जो एक प्रकार से उनकी आत्मकथा भी है, इस दिशा परिवर्त्तन की स्पष्ट सूचना देने वाला है। जहाँ अब तक वे वर्ग सङ्घर्ष की भावनाओं को बचाते आए थे, वहाँ 'मङ्गलसूत्र' में उन्होंने निर्भीक होकर उदघोषित किया—"परिंदों के बीच में उनसे लड़ने के लिए हथियार बाँधना पड़ेगा। उनके पंजों का शिकार बनना देवतापन नहीं, जड़ता है।" यह वही समय था जब उन्होंने डॉ० इन्दनाथ मदान को पत्र लिखा था—"आरम्भ में परम्परागत विश्वास के कारण मैं एक महान् दैवी शक्ति में विश्वास रखता था। वह विश्वास अब टूट रहा है।" तय है कि आदर्शवाद के तम्बू में यथार्थवाद का ऊँट गरदन ही नहीं, अपना पूरा शरीर

भी ले जा चुका है। अब केवल इतना शेष है कि वह उसमें पहले से आसन जमाए स्वामी (आदर्शवाद) को अर्द्धचन्द्र देकर खदेड़ दे। यदि प्रेमचन्द कुछ दिन और जीवित रहते तो यह स्थिति भी आ ही पहुँचती, पर दुर्भाग्यवश ऐसा न हो सका। इसलिए हम उनकी कला को 'आदर्शोन्मुख यथार्थवादी' कह कर ही संतोष कर लेते हैं। समानतः हम कह सकते हैं कि उनका आदर्शवाद प्राचीन संस्कारों का अवशेष, उनका यथार्थवाद नवीन बौद्धिक दृष्टिकोण की उपस्थिति का सूचक और उनकी सामंजस्य-वृत्ति मध्यवर्गीय चेतना का प्रतीक और परिणाम है।

[साहित्य-सन्देश, जुलाई १९५३।

———

आधुनिक उपन्यास की समस्यायें

[डा० प्रभाकर माचवे]

(१) **नये उपन्यास की विशेषता**—थैकेरे ने अपने उपन्यास "वैनिटी फेअर" का उप-शीर्षक दिया 'ए नावेल विदाउट ए हीरो' (नायक विहीन उपन्यास)। यह नहीं कि उसमें नायक नहीं था—पर नायक-नायिका भेद का साँचा टूट चुका था।

ज़ोला ने अपनी औपन्यासिक कलाकृति के विषय में लिखा—'ए नूक आफ लाइफ विज़ुअलाइज्ड थ्रू ए टेंपेरामेंट' (एक स्वभाव विशेष के माध्यम से देखा हुआ जीवन का फोटोग्राफ नहीं, और निरा भावुक गद्यकाव्य भी नहीं।

हेनरी जेम्स ने १८८८ में 'दि आर्ट आफ फिक्शन' में इस प्रश्न की हंसी उड़ाई —"चरित्र क्या हैं ? घटनाओं से निर्णीत वस्तु। और घटनाएँ ? चरित्र के उदाहरण मात्र।" उपन्यास आधुनिक काल में चरित्र-प्रधान, घटना-प्रधान, भाषा-प्रधान या सामाजिक, ऐतिहासिक, यथार्थवादी, आदर्शवादी इत्यादि आलोचकों के अपनी सुविधा के लिए बनाए गये दरबे छोड़कर कहीं ऊँचा उड़ने लगा है; कहीं गहरे में उसने गोते लगाये हैं। नहीं तो काफका के 'फासल' को हम पुराने आदर्शों से उपन्यास कहते ? या मार्सल प्रूस्त के 'अला रेशेर्शे दु तेम्प्रसपेदू' को उपन्यास मानते ?

विश्व-साहित्य में उपन्यास और उपन्यास-कला के मान बहुत पहले बदल चुके। हम चाहे अपना छकड़ा लेकर उसी को 'पुष्पक' मानते बैठे रहें, दुनिया हैलीकोप्टर के युग में है। सो अब उपन्यासकार का काम उपदेश देना या झंडा लादे फिरना नहीं रहा।

(२) **पाप का प्रश्न**—आज के यान्त्रिक युग में, फ्रांसीसी आलोचक सॉ ब्यूचू ने कहा था 'औद्योगिक साहित्य' भी पैदा होने लगा है। माँग है। हिन्दी में उपन्यास बिकता है। इसीलिए कुछ भी लिख दिया जाता है। और उसे उपन्यास के अभाव में बेच दिया जाता है। व्यवसाय का कृत्य कला के मूल्यों का सतीत्व नहीं बेचने देता।

ऐसे समय उपन्यासकार का दायित्व है कि वह मूल्यग्राही समस्याओं को पकड़े। पाप की समस्या ऐसी ही एक प्रमुख समस्या है। व्यक्ति और समाज के पाप के विषय में मानदण्ड बदलते जा रहे हैं। 'चित्रलेखा' में 'पाप क्या ?' प्रश्न दर्शन के शब्द-जाल में खो जाता है; सुनीता उसका उत्तर एक असामाजिक जान पड़ने वाली अरुन्धती की सी कृति से देती है। 'नदी के द्वीप' में 'क्षण-सत्य' पर आकर बात अटकती है। पाप का प्रश्न केवल आर्थिक ढाँचे को बदलने से नहीं हल हो जाता। वह और गहरे संस्कारों का प्रश्न है। क्या रूस में भी स्तालिन नहीं होते ? धर्म उसे हल करने में असमर्थ रहा है। उसने पुंसत्वहीन, सङ्कल्पहीन सुविधाजीवी नायक निर्मित कर दिए—या फिर आदर्श की खोखली चूनरी सी ओढ़ने वाली नकली सीता-सावित्रियाँ—शरत् की पार्वतियाँ और अभया। उपन्यासकार को पहले मनुष्य को, इकाई को, अन्त को समझना है—उसके पूरे देश-काल-परिवेश में उससे कटकर अस्मिता का कोई अर्थ नहीं। और यहीं नये यान्त्रिक, समष्टिगत, संगठनात्मक, संक्रामक मूल्यों का प्रश्न कला के क्षेत्र में आता है। व्यक्ति और समष्टि के नीति-मूल्य क्या संक्रांति-काल में एक से रह सकते हैं ? होते तो न होते दस्तावेएक्सी, न होते पारिश्रँक, न होते जैनेन्द्रकुमार के पात्र ! ऐसे समय क्या उपन्यासकार निरे एतादृशत्त्व में आस्था रख सकता है ?

(३) **सामाजिक चेतना और उपन्यासकार**—परन्तु जिन्होंने विद्रोह को अपना सुबह का तारा माना, वे कहाँ पहुँचे ? मनुष्य के मूल्य और बावन पत्ते और एक था राजा—क्या समूचे भारत की तस्वीरें हैं। भारत के एक हिस्से को भी लेलें—तो भी क्या उसमें वासना के प्रति केवल जुगुप्सा निर्मित होती है ? सामाजिक सड़ाँध के प्रति लेखक का रुख क्या किसी निर्मम सर्जन का सा है ? या 'चाकलेट' के लेखक का सा ? यानी उस अश्लीलता को उखाड़ कर फेंकने के लिए उसमें आसक्ति के भी कुछ अंश दर्शाने का ? क्या हिंसा से हिंसा मिटेगी ? क्या अश्लीलता से अश्लीलता हट सकती है ? फिर कुशवाहा 'कांत' या द्वारिकाप्रसाद के 'घर से बाहर' को क्यों यह ढोंगी समाज 'प्रूड' की भाँति एक ओर गालियाँ दे, और दूसरी ओर चुपके-चुपके उसे पढ़े और चाशनी सा आनन्द ले। सामाजिक चेतना के समग्र दर्शन यदि उपन्यासकार को करने या कराने हैं, तो उसमें के सड़े-गले, कुत्सित-घृणित, अंश से यह मुँह नहीं मोड़ सकता। परन्तु उससे तटस्थता भी उसे बरतनी होगी। वर्ना वही रोमेंटिक प्रवृत्ति यहाँ भी लक्षित होगी, विकृत रूप में।

आंचलिक या प्रादेशिक उपन्यास इस सामाजिक चेतना का नया रूप है, जो बहुत स्वस्थ है। उसकी चर्चा करने से पूर्व यह भी देखना चाहिए कि क्या उन हिस्सों का फोटोग्राफिक दर्शन करा देना ही काफी है। क्या आवश्यक नहीं है कि लेखक का अपना विचार दर्शन उसके पीछे हो? क्या वह विचार दर्शन सामाजिक क्रांति या समाज सुधार से बोझिल होना भी जरूरी है? या कि वह उसमें रच जाना चाहिए। योरप में आधुनिकतम कई उपन्यास कोई 'निष्कर्षवादी' नहीं होते। आशयवादी आलोचक उन्हें 'उपन्यास ही नहीं हैं' कहकर छुट्टी पाते हैं। पर क्या 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' या 'सोया हुआ पानी' सामाजिक चेतना में विरहित हैं?

(४) **प्रादेशिक या आंचलिक उपन्यास**—उत्तर दिया जाता है कि जो 'हमारी' सामाजिक चेतना की धारणा है, उसके वह अनुकूल नहीं है। यानी जो हमारे संगठित विचारों के साँचे में ढले वह तो सामाजिक चेतना, जो न ढले वह असामाजिक, अचेतना? ऐसी आलोचना आज हिंदी या उर्दू में चल रही है; बँगला-मराठी-गुजराती में कुछ वर्षों पूर्व काडवेल 'स्टडीज इन डिकेडेंस' लिख चुके और माडर्न क्वार्टर्ली में उन्हें सच्चे मार्क्सवादी न होकर व्यक्तिवादी होने की घोषणा भी की गयी।

'मैला आँचल' हिन्दी का एक आलोक स्तम्भ है। 'बलचनमा' या 'बहती गङ्गा।' आदि में जो शसक्त संकेत हिंदी भाषा की भावी संभावनाओं और हिन्दी उपन्यास के सूक्ष्म और विस्तृत दृष्टि-विंदुओं की ओर है—उसको देखते हुए हम नित्संकोच कह सकते हैं कि हिन्दी उपन्यास भारतीय उपन्यास के कंधे से कंधा मिलाकर चल रहा है। बंगला में माणिक छंदोपाध्याय के 'पद्मा नदी' 'मांझी' या तारा शंकस के 'भगिनी कन्धार काहिनो' से; मराठी के पैंडसे के 'गारंवीचा बापू' और माडगूलकर के 'बनगरवाडी' में याकन्नड के 'कूढियर कूसु' या मलायालम के 'चेम्पियन' में यही आंचलिकता है। मिट्टी की सोंधी महक, ताजगी, धरती के प्रति ईमानदारी, जड़हीनता का अभाव।

इन उपन्यासों की भाषा को देखते हुए मुझे एक ही बड़ी कठिनाई जान पड़ती है कि इनके अनुवाद अन्य भाषाओं में कैसे होंगे। कितने भी नोट या टिप्पणियाँ देने पर तत्तदांचलिक्ता को दूसरी भाषा में उतार पाना मुश्किल मामला है। इस टेढ़ी खीर से कैसे बचा जाय? जो अनुवाद हुए हैं जैसे मकि मण्णिगे (कन्नड) का हिन्दी में, वह इस कठिनाई को स्पष्ट करते हैं।

(५) अनुवाद की समस्या—अनुवाद की समस्या तिहरी है, चाहे वह विदेशी भाषा से भारतीय भाषाओं में हों, या भारतीय भाषाओं से भारतीय भाषाओं में या इससे उल्टे हों—

(क) दोनों भाषाओं पर समानाधिकार रखने वाले अनुवादकों का अभाव ।

(ख) यदि अनुवाद किये भी जायँ, तो उनमें भारत की अन्य भाषाओं या विदेशी भाषाओं, तथा उनके पीछे के संस्कृति अनुबन्धनों (कल्चर पैटर्न्स) की छटाएँ अवश्य आवेंगी और जब वे आवेंगी तो उनसे कतराना कैसा ? हिन्दी भाषा और साहित्य इसी प्रकार से समृद्धतर होगा । क्या बँगला से या उर्दू से हिन्दी ने कम लिया है ? और अँगरेजी से ? फिर उस परिवर्तन के लिए क्यों डर ? भाषा की शुद्धता को अक्षुण्ण रखने का इतना क्यों आग्रह ?

(ग) एक भाषा-क्षेत्र की श्रेष्ठ पुस्तक अन्य भाषा-क्षेत्र में उतनी ऊँची न जान पड़ने का खतरा । श्रेष्ठता के मान तो सुनिश्चित हैं । वे भाषानुसार बदले कैसे जायें ?

(घ) भावानुवाद में अनुवादक के व्यक्तित्व का अनुवाद प्रक्रिया में आरोपण और प्रक्षपेण ।

(ङ) पैसे के लिए किये जाने वाले भाड़े के अनुवादों का घटियापन । व्यावसायिक जगत में इससे कैसे बचा जाय ।

इधर हिन्दी में अन्य भारतीय भाषाओं से जो अनुवाद हुए हैं, वे अधिकतर अहिन्दी भाषियों ने किये है । अहिन्दी भाषियों ने और लड़कियों ने भी । परन्तु किसी हिन्दी भाषी ने पास पड़ौस की बँगला, पंजाबी, गुजराती, मराठी को छोड़ दूर की भाषा का अनुवाद किया हो ऐसा कम सुनने में आया है ।

(६) लघु-उपन्यास—एक जमाना था कि किस्सा अलिफ लैला चलता था तो रात-रात भर और चन्द्रकांता संतति के भाग समाप्त ही नहीं होते थे । वह लम्बी शाल और अङ्गरखों का जमाना है । अब हम छोटी चीजें पहनते हैं । उसमें सुविधा अनुभव करते हैं । हिन्दी में भी अब लघु उपन्यास लिखे जाने लगे हैं ।

'इफ दी नॉविल इज नाट ओनूली टु कंटिन्यू बट टु राइज हाइयर एज एन् आर्ट फार्म, मोअर थॉट विल हैव टू वि गिवन बाई अदर्स टु द क्वेश्चन आफ लेंग्थ ।''''दि टेडेंसी आफ ए स्टोरी टु गो आन फार एवर शुड बि सीवी-

अर्ली कंट्रोल्ड' कंसेल की (एन्साइक्लोपीडिया आफ लिटरेचर भाग १, पृ० ३९७) बालजाक का उदाहरण देकर लेखक कहता है कि वही चरित्र बार-बार अनेकों उपन्यासों में आते हैं, घटनाएँ बदलती हैं। शरद का भी ऐसा ही होता है। परन्तु यह उचित नहीं। छोटे उपन्यास की आवश्यकता छोटी कहानी की भाँति इस युग की आवश्यकता है।

मुरासा की गेंजी मोनागातारी (जापानी), वायना ई मीर (रूसी, अला रेशेर्शे दु तेस्प्स पेई (फ्रेंच), दौन कि खोते (इस्पाहानी) बड़े लम्बे-लम्बे उपन्यास हैं। पर अब कौन उन्हें पढ़ता है। किसी के पास फुरसत है। उनके शिल्प और स्थापत्य में और आधुनिक उपन्यास के शिल्प-स्थापत्य में मौलिक अन्तर है।

उदाहरण के तौर पर मैंने हिन्दी में चार लघु-उपन्यास लिखे हैं। खासे बिके हैं। चौथे उपन्यास 'साँचा' का दूसरा संस्करण होने जा रहा है। जबकि हिन्दी के किसी भी पत्र ने एक पंक्ति भी इसके प्रकाशन-समाचार या इस पर अनुकूल-प्रतिकूल आलोचना की नहीं लिखी। छप कर एक साल हो गया।

(७) आलोचना : कुछ खतरे—सो बेचारी हिन्दी आलोचना कोर्सबुकों पर टीका-टिप्पणी, कुञ्जीवाद और वटुकतोषिणी वृत्ति तक ही सीमित हो गयी है। नये कवि या कथा लेखक इस टेक्स्ट-बुक दाजी के घेरे से बाहर हैं। उन पर आलोचना करे कौन ? इतनी मिहनत कौन करता है कि जहाँ से पाया नहीं हो, वहाँ पढ़ने और मत देने जाय। मत देना आज साहस का काम है। अधिकांश आलोचक 'गुडी-गुडी' लोग हैं वे सभी को एक साथ अच्छा कहते जाते हैं। परिणाम यह है कि हिन्दी के एक ख्यातनाम युनिवर्सिटी के प्रधानाध्यापक आलोचक की पुस्तक मैंने हिन्दी जानने वाली एक विदेशी पाठिका को दी। वह बोली —'इंफण्टायल !' ध्यान रहे कि यह पुस्तक हमारे इण्टर से एम० ए० तक पढ़ाई जाती है। उससे भी बुरा हाल अनुसंधान और अनुशीलन का है वह सब रचनात्मक लेखक के लिए राई बराबर उपयोगी नहीं है।

[साहित्य-सन्देश, जुलाई-अगस्त १९५६।

जासूसी और तिलिस्मी उपन्यास

[कु० कृष्णा आनन्द]

विद्वान् लेखकों व आलोचकों ने कभी भी जासूसी और तिलस्मी साहित्य को उचित मान नहीं दिया। उन्होंने साहित्य के इस अङ्ग की सदैव उपेक्षा की है क्योंकि जासूसी और तिलस्मी साहित्य को वह सद्-साहित्य की कोटि में नहीं गिनते। हिन्दी-साहित्य के पन्ने उलटने पर हम देखते हैं कि साहित्य के इस अङ्ग को अछूता ही छोड़ दिया है, कहीं पर चलता-सा वर्णन कर दिया। बिरादरी में से खारिज व्यक्तियों के समान ही आलोचकों का इसके प्रति व्यवहार है। जासूसी और तिलस्मी उपन्यासकारों ने हिन्दी-साहित्य की जितनी अधिक सेवा की है, जितनी अधिक देन दी हैं, उसके प्रतिदानस्वरूप उपन्यासकारों को महत्व देना दूर हम उतनी श्रद्धा भी नहीं अर्पित करते। नरोत्तम नागरजी का कहना बिल्कुल सत्य है कि—"हिन्दी-साहित्य के लेखकों और आलोचकों ने इस ओर अभी तक ध्यान नहीं दिया है। तिलस्मी और जासूसी साहित्य का उल्लेख केवल हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक काल का, उसके बचपन का, परिचय देने के लिए किया जाता है, मानो इससे अधिक इसका और कोई अस्तित्व या उपयोग ही न हो।" रामचन्द्र शुक्ल जैसे महान् आलोचक बस इतना कह कर रह जाते हैं—"हिन्दी के जितने पाठक उन्होंने (देवकीनन्दन खत्री) ने तैयार किए उतने और किसी ने नहीं।" लेकिन इस साहित्य ने केवल पाठक ही नहीं तैयार किए परन्तु इसकी अपेक्षा कथा-साहित्य के आगे बढ़ने की भूमि भी तैयार करदी। साहित्य के अन्य अङ्गों के समान ही इस अङ्ग में भी कलात्मकता, सौन्दर्य और उपयोगिता है। मानव और समाज दोनों के लिए कल्याणकारी साहित्य है। आज के युग में भी इसकी सर्वाधिक बढ़ती हुई माँग, इसके अनेकों पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन और बिक्री ही पाठकों में इसकी लोकप्रियता की द्योतक है, इसके अधिक प्रचलन की परिचायक है। इस साहित्य की उपयोगिता का वर्णन करते हुए स्वयं देवकीनन्दनजी खत्री कहते हैं—"सबसे ज्यादा तो (लाभ) यह है कि ऐसी किताबों को पढ़ने वाला जल्दी किसी के

धोखे में न पड़ेगा। इन सब बातों का ख्याल करके मैंने यह 'चन्द्रकान्ता' नामक उपन्यास लिखा है।" आलोचकों ने साहित्य के इस अङ्क के साथ न्याय नहीं किया, लेकिन उसकी उपेक्षा से जासूसी और तिलस्मी साहित्य की उपयोगिता पर सन्देह नहीं किया जा सकता। इस साहित्य का अवलोकन करने में हम देखते हैं कि इसमें अनेकों गुण हैं।

जासूसी और तिलस्मी साहित्य में पाठकों के मनोरञ्जन की पर्याप्त सामग्री होती है। जिस युग में इसका प्रचलन प्रारम्भ हुआ था उस समय कला प्रदर्शन का माध्यम मनोरञ्जन ही था और उपन्यासों का मूल उद्देश्य पाठकों का रोमांचकारी घटनाओं से मनोरञ्जन करना ही होता था। मनोरञ्जन के द्वारा यह साहित्य हमारे मन की एक भूख को भोजन देते हैं। अपराधी अपने अपराध को गोपनीय रखने के लिए, जासूस उन गुप्त रहस्यों का भेद जानने के लिए, ऐयार अपने शत्रुओं को छकाने के लिए ऐसे-ऐसे स्वाँग रचते हैं, ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करते हैं कि पढ़ने में आनन्द आ जाता है। बिना पूरा पढ़े छोड़ने को मन नहीं करता। देवकीनन्दनजी खत्री के उपन्यासों को लेकर जब साहित्यिकों और आलोचकों में खूब ऊहापोह मची तो खत्रीजी ने समालोचकों को स्वयं उत्तर देते हुए अपने उपन्यासों के मुख्य ध्येय पर प्रकाश डाला। उनके ही शब्दों में—"जिस प्रकार पंचतंत्र और हितोपदेश बालकों की शिक्षा के लिए लिखे गए थे उसी प्रकार यह लोगों के मनोविनोद के लिए हैं।" इस प्रकार हम देखते हैं कि इन उपन्यासकारों का मुख्य ध्येय ऐसी रचना करना रहा है जो पाठकों के मनोरञ्जन की सामग्री हो।

यह जगत अनेकों रहस्यों से परिपूर्ण है और उन रहस्यों को जानने के लिए मानव में जिज्ञासा व कौतूहल की स्वाभाविक वृत्ति होती है। मानव चाहता है कि संसार की प्रत्येक गोपनीय बात उसके सम्मुख स्पष्ट हो जाये। मानव सदा अनुभव करता है कि जीवन और जगत् आनन्द, रहस्यों का आगार है परन्तु साधारणतः कल्पना की आँखें बन्द रहने के कारण वह उन्हें नहीं देख पाता। मानव चाहता है कि कोई ऐसी वस्तु हो, जो जादू से इस रहस्य को खोलकर रख दे। जासूसी और तिलस्मी उपन्यास पाठकों की इस माँग को पूरा करते हैं, कौतूहल वृत्ति को तृप्त करते हैं, हमारी जिज्ञासु मनोवृत्ति का तुष्टिकरण करते हैं। जासूसी साहित्य में घटनाएँ कार्य कारण रूप में गुँथी हुई होने के कारण पाठकों के हृदय में आशा, निराशा, भय आदि की तीव्रतर भावनाएँ उद्दीप्त होती हैं और अन्त में जाकर हमारी जिज्ञासा की तृप्ति होती

है। पाठक सोचता ही रहता है अब क्या होगा—लेखक पाठक की कुतूहल भावना को चरम सीमा पर पहुँचा कर फिर रहस्य का उद्घाटन करता है। घटना की यवनिका में पहले जानने योग्य बात छिपाकर; इधर उधर की अन्य घटनाओं को जो मुख्य घटनाओं से ही सम्बन्धित हों, बेमेल न हों, कह कर फिर घटना पर घटना का तूमार बाँधकर, रहस्य पर रहस्य गढ़कर लेखक पाठकों के हृदय में कौतूहलवृत्ति इतनी बढ़ा देते हैं कि बिना पूरी पढ़े पुस्तक को छोड़ने को जी नहीं चाहता और अन्त में जाकर रहस्योद्घाटन होता है। जासूसी कथा कौतूहलपूर्ण होते हुए भी हवाई नहीं जान पड़ती।

कौतूहलवृत्ति के तुष्टिकरण के साथ-साथ ही जासूसी साहित्य हमारी अन्य मनोवृत्तियों को भी खुलकर खेलने का मौका देता है। कथा इस ढङ्ग से प्रारम्भ की जाती है कि पाठक सोचता रहता है आगे क्या होगा--पाठक स्वयं अनुमान करता है। परन्तु सदैव लेखक नई बात उपस्थित करता जाता है, समस्या जटिल होती जाती है। पाठक निर्णय नहीं कर पाता और जासूसों के सूक्ष्म-निरीक्षण तर्क और विश्लेषण देखकर अन्त की कल्पना करता है और फिर लेखक नये रूप में ही कथा का अन्त दिखाता है। इसी प्रकार पूरी कथा में लेखक पाठकों को खूब सोचने विचारने का मौका देता है।

समाज सुधार की भावना भी साहित्य के इस अङ्ग में स्पष्ट लक्षित होती है। जासूसी साहित्य से हृदय में समाज सुरक्षा की भावना जाग्रत होती है। यह साहित्य अपराधियों को भी चेतावनी देता है कि कितनी भी कुशलता व चतुराई से ही अपराध क्यों न किया जाये, जासूस रहस्यों की खोज अपराधी का भण्डाफोड़ कर ही देता है। इस प्रकार अपराधी दण्डित होता है। जासूस अपने बुद्धिकौशल से समाज की अपराधियों से रक्षा करते हैं। जासूस और तिलस्मी साहित्य में लेखक सदा काव्यात्मक न्याय (Poetic justice) करता है अर्थात् अपराधी के काले कारनामों तथा आतङ्क से भयभीत और दुखी पात्र जो कि स्वभावतः पाठकों की सहानुभूति पा लेते हैं, उनकी विजय तथा अपराधी की हार दिखाई जाती है। पाठक इस निर्णय से सन्तुष्ट होते हैं।

हम प्राचीन साहित्य के जासूसी और तिलस्मी उपन्यासों में संस्कृत के नाटकों के समान ही अन्त सदा सुखान्त पाते हैं और कथा सदैव अपना एक आदर्श लेकर चलती है। इस साहित्य के लेखक समाज के सामने अपना एक आदर्श रखते हैं, जिससे पाठक अपना जीवन सुधार सकें। संस्कृत नाटकों की कथा में भी आदर्श रहा है। उस आदर्श के पुजारी को बहुत कठिनाइयों का

सामना करना पड़ता है। परन्तु आदर्श पर अडिग रहने वाला प्राणी इन कठिनाइयों के झेलने के उपरान्त ही अन्त में यश पाता है। इस प्रकार कथा का सुखान्त होता है जैसे सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र के जीवन से ज्ञात होता है। सारा जीवन करुणामय स्थिति में व्यतीत करने पर अंत में सुख पाते हैं। इसी प्रकार जासूसी और तिलस्मी उपन्यासों में कथा के नायक का जीवन चरित होता है। सच्चा-सीधा, सरल और ईमानदार व्यक्ति अपराधी के द्वारा कष्ट झेलता रहता है और अन्त में अपराधी के भण्डा फूटने पर वह सुखी होता है। देवकीनन्दन खत्री जी के 'चन्द्रकान्ता' व 'चन्द्रकान्ता सन्तति' में धर्म और न्याय पर चलने वाला राजा वीरेन्द्रसिंह, उनके पुत्र इन्द्रजीतसिंह तथा आनन्दसिंह सारी कथा में विपदाओं से घिरे रहते हैं। उनके कुटिल और नीच प्रवृत्ति वाले अन्यायी शत्रु उन्हें बार-बार कष्ट देते हैं परन्तु अन्त में विजय राजा वीरेन्द्रसिंह तथा उनके पुत्रों की होती है। स्थान-स्थान पर खत्री जी कथा में कहते हैं आदर्शमय जीवन वाला, धर्म और न्याय की रक्षा करने वाला अन्त में सदा सुख पाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इनका अन्त सदा सुखान्त होता है।

जासूसी और तिलस्मी साहित्य के मुख्य पात्र जासूसों व ऐयारों के आदर्श चरित्र से पाठकों को प्रेरणा मिलती है। जासूस व ऐयार निस्वार्थ भाव से अपराधियों और दुष्टों को दण्डित कर समाज और राष्ट्र का कल्याण करते हैं। इसके अतिरिक्त पाठक उनमें सहनशीलता व सहिष्णुता की भावना भी पाते हैं क्योंकि अपराधियों को खोजने के दुस्साहसपूर्ण कार्य में उन्हें अनेकों कठिनाइयों व विपदाओं का सामना करना पड़ता है। यहाँ तक कि प्राण भी प्रति क्षण सङ्कट में रहते हैं। सूक्ष्म निरीक्षणता जासूसों में एक विशिष्ट गुण है। अपने इसी गुण, बल पर वह छोटे से छोटे सूत्र से भी अपना काम निकाल लेते हैं। अपराधी को खोजने के लिए वह पुलिस की तरह इधर उधर नहीं खोजते फिरते, अपितु मस्तिष्क से काम लेते हैं। जासूसों के हृदय में न्याय के प्रति आदर की भावना होती है, इसी कारण वे अपराधियों को दण्ड दिलाने में क्रियाशील रहते हैं। अपने कार्य में लग्नपूर्वक, एकनिष्ठ होकर तल्लीन रहते हैं। पाठकों के हृदय में इनके आदर्श चरित्र के अध्ययन से राष्ट्र सेवा व समाज सेवा की भावना उत्पन्न होती है।

समाज सुधार के महारथियों का पथ-प्रदर्शन भी जासूसी साहित्य करता है। बीमारी का मूल कारण ज्ञात होने पर ही दवा और उस रोग से मुक्ति सम्भव है। जासूसी साहित्य भी अपराध वृत्ति के मूल कारणों पर प्रकाश डालता है अथवा यों कह सकते हैं कि जासूसी साहित्य में इन बातों का दिग-

दर्शन कराया जाता है कि समाज में किन परिस्थितियों में रह कर, कैसे वातावरण में पलकर, मानव के हृदय में अपराध की वृत्ति जाग्रत होती है। उदाहरण के लिए कभी उच्च समाज में रहने के लिए धन का अभाव बाधक होता है तो ऐसी परिस्थिति में धन प्राप्ति के लिए चोर बाजारी, धोखेबाजी आदि अपराध करना, कभी समाज में किसी से बदला लेने की भावना के वशीभूत होकर किसी की हत्या कर बैठना आदि। इस प्रकार जासूसी साहित्य समाज सुधारकों के सम्मुख अपराध वृत्ति के मूल कारणों का उल्लेख करके उन्हें इन परिस्थितियों को हटा कर अपराध कम करने में सहायता देता है। जासूसी साहित्य अपराध विज्ञान पर प्रकाश डालता है और किस अपराध के लिए कैसा दण्ड हो, इन बातों का भी उल्लेख करता है। इस प्रकार जासूसी साहित्य समाज सुधारकों को समाज में अपराध कम करने की विधि भी बताता है।

इस प्रकार निस्सन्देह कहा जा सकता है कि जासूसी और तिलस्मी साहित्य बहुत उपयोगी है। साहित्य के अन्य अङ्गों के समान ही यह अङ्ग भी केवल व्यक्ति ही नहीं, अपितु समाज और राष्ट्र के लिए भी उपयोगी है। पाठकों का मनोविनोद करने के साथ-साथ समाज के सम्मुख एक आदर्श सन्देश भी साहित्य का यह अङ्ग देता है। जासूसी और तिलस्मी साहित्य के साथ आलोचकों ने न्यायोचित व्यवहार नहीं किया, उसके प्रति उदासीन रहे, यह उनकी भूल है।

[साहित्य-सन्देश, जुलाई अगस्त १९५६।

———

हास्यरस के उपन्यास

[डा० बरसानेलाल चतुर्वेदी]

हिन्दी साहित्य में हास्य रस का अभाव रहा है। भारतेन्दु से पूर्व काल में हास्य-रस का परिपाक प्रायः नहीं हुआ। गद्य-साहित्य में हास्य तो भारतेन्दु काल से ही प्रारम्भ हुआ है। भारतेन्दु-काल में भी निबन्ध तथा नाटक ही अधिक लिखे गये, कहानी तथा उपन्यास का प्रचलन कम रहा। द्विवेदी-युग में भी हास्य-रस के उपन्यास कम लिखे गये। पिछले कुछ वर्षों में विशुद्ध हास्य-रस के कतिपय उपन्यास लिखे गए हैं।

पाश्चात्य साहित्य में हास्य-रस के उपन्यास प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। 'वुडहाउस' उनमें अग्रगण्य हैं। 'डिकिंस' का 'पिकनिक पेपर्स' तो बहुत ही प्रसिद्ध है। इनके अतिरिक्त गार्ल्सवर्दी, मुनरो आदि ने भी हास्य-रस के उपन्यास लिखने में पर्याप्त ख्याति प्राप्त की है।

"सौ अजान एक सुजान" भारतेन्दुकालीन हास्य रस का उपन्यास है जिसे पं० बालकृष्ण भट्ट ने लिखा। इस उपन्यास में एक अमीर के विगड़ने तथा मित्र द्वारा सुधरने की कथा है। इन उपन्यासों में तत्कालीन फैशन-परस्ती पर तीखा व्यंग्य मिलता है। चरित्र चित्रण में भी हास्य का प्रयोग किया गया है। लड़ने वाली औरतों का चित्रण देखिए—

"हवा के साथ लड़ने वाली कर्कशा न लड़ेगी तो खाया हुआ अन्न कैसे पचेगा। यह सोच अपने पड़ौसियों पर बाण से तीखे और रूखे वचन की वर्षा कर रही है।"

बुद्धदास नामक पात्र के हास्य स्केच में हास्य की सुन्दर अवतारणा हुई है :—

"पानी चार बार छान कर पीता था, पर दूसरे की थाली समूची निगल जाता था, डकार तक न आती थी.......उमर इसकी ४० के ऊपर आ गई थी, दाँत मुँह पर एक भी बाकी न बचे थे, तो भी पोपले और खोंटेहे मुँह में पान की बीड़ियाँ जमाय, सुरमे की धज्जियों से आंख रँगे, केसरिया चन्दन का

एक छोटासा बेंदा माथे पर लगाय, चुननदार बालावर झंगा पहन लखनऊ के बारीक काम की टोपी या कभी लट्टजार पगड़ी बाँध जब बाहर निकलता था, तो मानो ब्रज का कन्हैया ही अपने को समझता था।

द्विवेदी युग में जी० पी० श्रीवास्तव, उग्र एवं निराला हास्यरस के उपन्यास लेखकों में अग्रगण्य हैं। जी० पी० श्रीवास्तव लिखित 'लत खोरी लाल' हास्य का उपन्यास है। 'जेण्टिलमैनी की धूम', 'गवने के मजे', 'ससुराल की बहार', 'शान की खातिर' एवं 'लाहौल विला कुव्वत' इसके पाँच अध्याय है। इसमें चरित्र चित्रण अस्वाभाविक है। दैवी घटनाओं तथा संयोगों के सहारे कथावस्तु आगे बढ़ती है, अश्लीलता भी प्रचुर मात्र में मिलती है।

जी० पी० श्रीवास्तव की लेखनी में संयम का अभाव खटकता है। जनता में ये अवश्य लोकप्रिय रहे। जिस प्रकार राधेश्याम कथावाचक की रामायण कलात्मक दृष्टि से उच्चकोटि की नहीं किन्तु जनता जनार्दन ने उसे अपनाया, इसी प्रकार जी० पी० श्रीवास्तव के उपन्यास कलात्मक दृष्टि से उच्चकोटि के नहीं हैं किन्तु जनता ने इन्हें खूब पसन्द किया। होता भी क्या, उच्च स्तरीय कृतियों के अभाव में ऐसा ही होता है। 'गङ्गाजमुनी' इनका दूसरा हास्यरस का उपन्यास है। इसमें सस्ते प्रेम का व्यंग्यात्मक वर्णन किया गया है। इसमें भी अति नाटकीयता की भरमार है।

'कुल्ली भाट' तथा 'बिल्लेसुर बकरिहा' नामक निरालाजी के दो उपन्यासों में हास्य एवं व्यंग्य की सुन्दर अभिव्यञ्जना हुई है। 'कुल्लीभाट' में निरालाजी के मित्र पंडित पथवारी दीन भट्ट का जीवन चरित्र उपस्थित किया गया है। वर्णन हास्यपूर्ण है। कुल्ली अपने ससुराल का वर्णन करते हैं :—

"सवेरे जब जगा तब घर में बड़ी चहल-पहल थी, साले साहब रो रहे थे। ससुरजी खुशी में गिर गये थे, नौकर नहला रहा था। घर में तीन जोड़ बैल घुस आये थे। श्रीमतीजी लाठी लेकर हाँकने गयी थीं, एक के ऐसी जमाई कि उसका एक सींग टूट गया। महरी पानी भरने गई थी, रस्सी टूट जाने के कारण पीतल का घड़ा कुए में चला गया था।"

'कुल्लीभाट' में भी चरित्र-चित्रण स्वाभाविक ढङ्ग से हुआ है, घटनाओं का विकास भी स्वाभाविक है।

'बिल्लेसुर-बकरिहा' का नायक बिल्लेसुर पग-पग पर होकर आता है किन्तु साहस नहीं त्यागता। निरालाजी ने बिल्लेसुर का चित्रण तटस्थता के

साथ किया है। डाक्टर नगेन्द्र ने 'विचार और विश्लेषण' में 'बिल्लेसुर बकरिहा' हास्य-विधान पर लिखा है :—

बिल्लेसुर बकरिहा में हास्य का निवास प्रायः परिस्थिति में नहीं है वरन् वर्णनों अथवा लेखक के अपने संकेत-स्पर्शों में ही है। अपने वर्णनों और उक्तियों को निरालाजी ने प्रायः एक साधारण तथ्य को अत्यन्त गम्भीरता पूर्वक सामने उपस्थित कर साधारण और विशेषकर अन्तर मिटाते हुए बनाया है।"

'उग्रजी' ने व्यंग्य प्रधान उपन्यास लिखे हैं। 'बुधुआ की बेटी', 'दिल्ली का दलाल', 'चन्द हसीनों के खतूत', 'गङ्गाजमुनी' तथा 'शराबी' इनमें प्रमुख हैं। इनके उपन्यासों में नगर के चकलों, अनाथालयों, विधवाश्रमों और सेवा सदनों की पोलें खोली गई हैं।

अमृतलाल नागर ने 'सेठ बाँकेमल' नामक हास्य रस का उपन्यास लिखा है। इसमें सेठ बाँकेमल तथा चौबेजी दो प्रमुख पात्र हैं। दोनों पात्र प्राचीन संस्कृति के प्रेमी हैं जिन्हें वर्तमान युग की प्रत्येक बात अमङ्गल प्रतीत होती है। 'कुल की मर्यादा' तथा 'प्राचीन संस्कारों की कुण्ठा' इन्हें सदैव परेशान करती है। इस उपन्यास की भाषा पात्रों के अनुकूल है उसमें स्वाभाविकता है। उपन्यास मनोरञ्जक है।

"काठ का उल्लू और कबूतर" केशवचन्द्र वर्मा द्वारा लिखा हुआ हास्य रस का उपन्यास है। शिवचरन नामक एक व्यक्ति के ड्राइङ्ग रूम में एक काठ का उल्लू रक्खा हुआ है। रात के समय एक कबूतर रोशनदान से उसमें प्रवेश करता है। लेखक ने कबूतर और काठ के उल्लू के वार्तालाप के माध्यम से कथा वस्तु का विस्तार किया है। यद्यपि ये शैली "किस्सा तोता मैना" के रूप में हमारे यहाँ बहुत वर्षों से विद्यमान है। कथावस्तु आधुनिक है।

"चांदी का जूता" विन्ध्याचलप्रसाद गुप्त का हास्य-रसात्मक लघु उपन्यास है। इसमें रिश्वतखोरी, राम राज्य की व्यर्थ दुहाई देने वालों, पाकिटमारों आदि असामाजिक व्यक्तियों पर व्यंग्य वाण छोड़ गये हैं। इसमें अति नाटकीयता एवं अति रञ्जना अत्यधिक है। हास्य 'मुँह फट' है।

सरयूपंडा गौड़ ने 'मिस्टर टेलीफोन का टेलीफोन' नामक हास्य-रस पूर्ण एक उपन्यास लिखा है। इसमें सस्ते प्रेम, मेहमानों की परेशानियाँ, धर्म गुरुओं की पोल, चन्दा बटोर कर हज़म करने वालों की परेशानियों आदि का खाका खींचा गया है। इनका हास्य निकृष्ट कोटि का है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये जी० पी० श्रीवास्तव से अधिक प्रभावित हैं।

"नवाब लटकन" अरुण लिखित हास्यमय उपन्यास है। इसमें नवाब लटकन की मूर्खताओं का हास्यमय वर्णन है। नवाब लटकन के मित्र उसे उल्लू बनाकर उसको बर्बाद करते हैं। नवाबों से सम्बन्धित कथावस्तु अब बहुत घिसी-घिसाई हो चुकी है। इसमें ताजगी का अभाव है। इसमें हास्य-विधान सुन्दर है तथा कथावस्तु भी सुगठित है।

"गुनाह बेलज्जत" द्वारकाप्रसाद एम० ए० द्वारा लिखित हास्य रस पूर्ण उपन्यास है। इसमें स्मित हास्य का प्रादुर्भाव सुन्दर हुआ है। प्रारम्भ से अन्त तक उपन्यास रोचक है।

अन्त में यही कहा जा सकता है कि हास्य-रस के उपन्यासों का हिन्दी में एकदम अभाव है। कलात्मक रूप से लिखे गये विशुद्ध हास्य-रसात्मक उपन्यास जो विदेशी लेखकों से टक्कर ले सकें, हिन्दी में अप्राप्य हैं।

[साहित्य-सन्देश, अगस्त १९५६।

———

आंचलिक उपन्यास

[डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय]

हिन्दी कथा-साहित्य में आंचलिक उपन्यास वह विशिष्ट धारा है, जिसकी पिछले कुछ वर्षों में सर्वाधिक उन्नति हुई है। आंचलिक उपन्यास उन उपन्यासों को कहते हैं जिनमें किसी विशेष जनपद अञ्चल (क्षेत्र) के जन-जीवन का समग्र चित्रण होता है। समग्र का अर्थ है—भाषा, वेशभूषा, उत्पादन के साधन, प्रकार, विनिमय। संक्षेप में आर्थिक जीवन, उस आर्थिक जीवन पर आधारित वर्गों और जातियों के परस्पर सम्बन्ध, संस्कृति—धार्मिक विश्वास, विवाह, मृत्यु आदि आचार, शिष्टाचार, चरित्र और आदतें, मनोरञ्जन, व्यसन, कला, भोजन, पान, स्वास्थ्य, शिक्षा, दीक्षा तथा जीवन-दर्शन। सामाजिक समस्यायें, राजनैतिक जीवन, एक अञ्चल का दूसरे अंचल से सम्बन्ध, अंचल की विशिष्ट और सामान्य परम्परा और प्रगति—इन सब विषयों का जब किसी उपन्यास में चित्रण होता है और जब उस उपन्यास को पढ़कर हमारे सम्मुख उस अंचल विशेष का समग्र जीवन अवतरित हो जाता है तब हम उस उपन्यास को आंचलिक उपन्यास कहते हैं।

चित्रण की इस समग्रता की दृष्टि से हिन्दी में आंचलिक उपन्यास अभी बहुत कम लिखे गये हैं। किन्तु ऐसे उपन्यास बहुत हैं, जिनमें किसी अंचल विशेष की कुछ विशिष्ट जीवन-झाँकियों की झलक मिल जाती है—परन्तु वह झलक मात्र है, यह स्मरणीय है। उदाहरण के लिए वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों में बुन्देलखण्ड के जीवन की झाँकियाँ मिलती हैं। स्थानीय भाषा का भी यत्र-तत्र प्रयोग किया गया है। परन्तु जैसा कहा कि ये उपन्यास पूर्णतया आंचलिक नहीं है। 'ऐतिहासिक आंचलिक' उपन्यास इन्हें कहा जा सकता है। शोधकर्त्ता अन्य ऐतिहासिक उपन्यासों में भी आंचलिक तत्वों की खोज कर सकता है। हिन्दी के जिन ऐतिहासिक उपन्यासों में कुछ आंचलिक तत्व मिलते हैं, उनमें से कतिपय ये हैं—

१—वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यास—मृगनयनी, कचनार, झाँसी की रानी आदि।

२—चतुरसेन शास्त्री—वैशाली की नगरवधू ।

३—आनन्दप्रकाश जैन—कठपुतली ।

४—राहुल—सिंह सेनापति ।

कुछ सामाजिक और सांस्कृतिक उपन्यासों में भी आंचलिक तत्त्व यत्र-तत्र मिलते हैं—

जैनेन्द्रकुमार 'जैन' ।—उद्भ्रान्त

रांगेय राघव—काका ।

निराला—बिल्लेसुर बकरिहा ।

अमृतलाल नागर—सेठ बाँकेमल ।

विष्णु-प्रभाकर —निशिकान्त ।

इनके अतिरिक्त शुद्ध आंचलिक उपन्यासों में उल्लेखनीय हैं—

१—बम्बई के आसपास के मछुआ लोगों के जीवन पर—'सागर, लहरें और मनुष्य'—लेखक श्री उदयशङ्कर भट्ट ।

२—पूर्णियाँ जिला बिहार के जीवन पर—'मैला आँचल' और 'परती परिकथा'– लेखक श्री फणीन्द्रनाथ रेणु ।

३—ब्रह्मपुत्र नदी के आसपास के जीवन पर—'ब्रह्मपुत्र'—लेखक देवेन्द्र सत्यार्थी ।

४—जिला दरभङ्गा (बिहार) के जीवन पर—'बलचनमा' और 'बाबा बटेश्वरनाथ'—लेखक श्री नागार्जुन ।

५—काशी शहर के जीवन पर—'बहती गंगा'—लेखक श्री शिव-प्रसाद मिश्र ।

६—लखनऊ शहर के जीवन पर—'बूँद और समुद्र' लेखक अमृतलाल नागर ।

७—नटों के जीवन पर—'कब तक पुकारूँ'—लेखक श्री रांगेय राघव ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आंचलिक उपन्यासों का अध्ययन तीन कक्षाओं में किया जा सकता है- (१) ऐतिहासिक, (२) सामाजिक-सांस्कृतिक, (३) शुद्ध आंचलिक ।

शुद्ध आंचलिक उपन्यास लिखने की प्रेरणा कहाँ से मिली ? विदेशी साहित्य से । हार्डी के उपन्यास प्रसिद्ध हैं, रूस में अनेक सुन्दर और शुद्ध आंचलिक उपन्यास हैं, इन्हें पढ़कर हमारे लेखकों का ध्यान अपने पिछड़े जन-

जीवन के चित्रण की ओर गया। किन्तु यह स्मरणीय है कि प्रारम्भ में केवल भाषा का प्रयोग उपन्यासों में किया गया और बाद में समग्र जीवन के चित्रण की ओर लेखकों का ध्यान गया। सन् ४० से ही ऐतिहासिक उपन्यासों में स्थानीय भाषा का प्रयोग होने लगा था। ऐसा क्यों हुआ ? हिन्दी में जनपदीय आन्दोलन के कारण जिसका श्रेय था श्री राहुल, शिवदानसिंह चौहान और बनारसीदास चतुर्वेदी को। इन लेखकों के अनुसार प्रत्येक जनपदीय भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाना चाहिए और प्रत्येक जनपद की संस्कृति की रक्षा करनी चाहिए, अतएव उपन्यासकारों ने अपनी-अपनी रचनाओं में स्थानीय रङ्ग भरना प्रारम्भ किया। किन्तु धीरे-धीरे यह स्पष्ट होता गया कि जनपदीय भाषा के ही उद्धार से काम न चलेगा अपितु जनपद के प्रत्येक पार्श्व का चित्रण होना चाहिए। यह वस्तुतः एक समाजशास्त्री की दृष्टि से विवेचन हुआ—प्रत्येक अंचल पर अङ्गरेजों ने भी गजेटियर्स में बहुत कुछ सामग्री एकत्रित कराई थी, उनका उद्देश्य था कि शासन की सुविधा के लिए प्रत्येक जनपद से परिचय बढ़ाना आवश्यक है। किन्तु समाजशास्त्री की दृष्टि भिन्न होती है, वह किसी जनपद की सभी समस्याओं को समझना चाहता है, क्यों ? क्योंकि वह समाज में आमूल परिवर्तन या क्रान्ति करना चाहता है। क्रान्ति का तात्पर्य है कि पुराने उत्पादन सम्बन्ध बदल जायँ, नवीन उत्पादन शक्तियाँ उत्पन्न हों और उनके अनुसार नए सामाजिक सम्बन्ध कायम हों और नए समाज की रचना हो। हमारे जनपदों में अभी तक भूमिसुधार होने हैं, योजनाओं के अनुसार विकास का कार्य अभी आरम्भ ही हुआ है, प्राचीन संस्कृति की रक्षा होनी है और साथ ही नवीन शिक्षा आदि का प्रवेश व प्रसार होना है। इसके लिए आंचलिक उपन्यासों की आवश्यकता है। अतः उपर्युक्त शुद्ध आंचलिक उपन्यासों की इसलिए आवश्यकता नहीं है कि शहरों के चित्रण से हम ऊब गये हैं—अतः जायका बदलने के लिए जनपदों का चित्रण आवश्यक है, परन्तु उनकी इसलिए आवश्यकता है कि हमें सारे देश में एक नई सामाजिक व्यवस्था लानी है आर्थिक और सामाजिक क्रान्ति करनी है। यह स्मरणीय है कि केवल रुचि-परिवर्तन के लिए हिन्दी में "प्रकृतवादी यथार्थवाद" की आवश्यकता स्वीकार की गई है।

प्रकृत यथार्थवाद जीवन को केवल नग्नता में देखता था, समग्रता में नहीं। अतएव आंचलिक उपन्यासों का उद्देश्य गम्भीर और सामाजिक है, वह मात्र मनोरञ्जन के लिए नहीं (यद्यपि वह भी हो सकता है) अपितु सामाजिक

उद्देश्यों की पूर्ति के लिए लिखे जा रहे हैं। जो लेखक सामाजिक दृष्टि से जितना अधिक जागरूक है—अर्थात् जो आर्थिक जीवन व सामाजिक जीवन की गहराइयों से परिचित है वह उतना ही अधिक सफल होता है। सभी लेखक आंचलिक उपन्यासों का यह महान उद्देश्य नहीं समझ पाए। ऐसे लेखकों ने केवल स्थानीय भाषा का ही प्रयोग अधिक किया है, परन्तु केवल भाषा का आकर्षण आज के जागरूक पाठक को देर तक वश में नहीं रख सकता, फिर केवल भाषा का प्रयोग क्यों?

केवल भाषा की दृष्टि से भी दो प्रकार के आंचलिक उपन्यास हो सकते हैं, प्रथम—जनपदीय भाषा में लिखे गये उपन्यास। द्वितीय—हिन्दी में लिखे गये उपन्यास जिसमें कुछ स्थानीय प्रयोग इसलिए किये गये हैं जिससे जनपद विशेष की संस्कृति को समझने में सुविधा हो। ऐसा लेखक स्थानीय संस्कृति की माधुरी और आकर्षण को व्यक्त करने के लिए स्थानीय शब्दों का प्रयोग करता है। इसी वर्ग में दो प्रकार के उपन्यास मिलते हैं। 'बहती गंगा' में शुद्ध बोली का प्रयोग है, उसका अर्थ नहीं दिया गया है, पाठक इसे समझ नहीं पाता। दूसरे उपन्यासों में केवल शब्दों का प्रयोग है और जहाँ वाक्यों का प्रयोग है वहाँ अर्थ दिए गए हैं अथवा परिचित वाक्यावली का प्रयोग किया गया है, यथा 'परती परिकथा' में। मेरी दृष्टि से दूसरी पद्धति अधिक उपयुक्त है। क्या दक्षिण देश का पाठक बनारसी बोली समझ सकता है?

सामाजिक क्रान्ति के लिए जनपदीय भाषाओं में उपन्यासों की अधिक आवश्यकता है। यथा नागार्जुन ने 'पारो' और 'नवतुरिया' नामक उपन्यास मैथिली में लिखे हैं। हमारी ब्रजभाषा, कन्नौजी, बुन्देलखण्डी आदि में जितने उपन्यास हैं? जिन जनपदीय भाषा को आप बोल सकते हैं, इसमें न लिखकर आप उस जनपद के सामान्य जन को कुछ नहीं देना चाहते, पढ़े लिखे लोग तो समाजशास्त्र पढ़कर भी सामाजिक क्रान्ति कर डालेंगे। वस्तुतः जनपदीय भाषाओं में आंचलिक उपन्यासों की आज सबसे अधिक आवश्यकता है। नव-निर्माण एक कठिन कार्य है, उत्पादन के सम्बन्धों को जनता को समझाना और शताब्दियों से सामन्तवाद व. कुछ वर्षों से देशी-विदेशी पूँजीवाद से पीड़ित जनता को संगठित कर सभी नवनिर्माण विरोधी तत्त्वों का निर्मूलन करना है। इस प्रकार आज संगठन के दो उद्देश्य होने चाहिए।

प्रथम १—जमींदारी प्रथा का उन्मूलन जहाँ नहीं हुआ है, वहाँ जमींदारों के विरुद्ध आत्म-रक्षा का प्रयत्न।

२—जमींदारी उन्मूलन जहाँ हो गया है, वहाँ नवोदित धनी भूमिधर, धनी कृषक-वर्ग के प्रभाव की समाप्ति।

३—कॉपरेटिव बैंकों के अभाव में देशी महाजनों का विरोध।

४—भ्रष्टाचारी सरकारी अफसरों और विकास-कर्मचारियों में विनाशक तत्त्वों का विरोध।

यह चित्र का एक पार्श्व है— इसके लिए संगठन आवश्यक है।

द्वितीय १—पंचवर्षीय योजनाओं से अधिकाधिक लाभ उठाने का प्रयत्न।

२—सरकार पर निर्भर न रहकर सामुदायिक कृषि, वाणिज्य व्यवसाय और लघु उद्योग धन्धों का विकास।

३—परम्परागत संस्कृति व मौखिक साहित्य की रक्षा।

४—शिक्षा, सफाई, सड़क आदि कार्यों में प्रगति।

आंचलिक उपन्यासों में इन दोनों चित्रों की वर्तमान स्थिति का वास्तविक अङ्कन होना है और साथ ही नवीन के निर्माण और अवांछनीय तत्त्वों का ध्वंस इन दोनों के लिए जनता को तैयार करना है। क्या हिन्दी में आंचलिक उपन्यासों के लेखक इस उत्तरदायित्व को निभा पाए हैं? नागार्जुन के उपन्यास उपर्युक्त दृष्टि से 'सफल' उपन्यास हैं। नागार्जुन की सामाजिक जागरूकता प्रशंसनीय है, वर्तमान स्थिति का अङ्कन और उसका सामना करने की शक्ति 'बलचनमा' जैसे पात्रों में अवश्य है, किस प्रकार नई परिस्थितियों में दरभंगा के किसान बदल रहे हैं। वे अपने अधिकारों और भविष्य को समझते जा रहे हैं, यह नागार्जुन भली भाँति स्पष्ट करते हैं। परन्तु उनके उपन्यास 'शिक्षात्मक' अधिक हैं, उनमें अभी और प्रेरणा और प्यास भरने की आवश्यकता है। उनकी दृष्टि सही है परन्तु जिस चिनगारी से अंगार और अंगारों से ज्वालामुखी का निर्माण होता है, उसे अभी और तीव्रता देनी है। जिस प्रदेश में बैठकर लेखक लिखता है, उसके प्रति उसी 'प्रेम' की व्यंजना करनी है जो परती परिकथा में मिलता है।

नागार्जुन के पश्चात् आंचलिक उपन्यासों में मैला आँचल व परती परिकथा आते हैं। 'रेणु' नागार्जुन से श्रेष्ठ कलाकार हैं। अपने दोनों उपन्यासों में आपने अञ्चल की श्यामल धरती, पशु, पक्षी, वनस्पति, ताल, तलैया, नदी, नद, खेत, खलियान और वहाँ के निवासियों के आशा, विश्वास, आँसू, उल्लास,

घृणा प्यार, सिसक ग्रौर साहस—सभी स्पन्दनों का बड़ा ही सहृदयता से चित्रण किया है। कोसी नदी में बाढ़ के समय जैसे जल उमड़ता है, वैसे ही लेखक की उमड़ती हुई भावना में पूर्णियाँ जिले की भूमि ऊबती, डूबती दिखाई पड़ती है। मिट्टी के प्रति इतना दुलार बहुत कम रचनाग्रों में मिलता है। रेणु ने ग्रपने ग्रञ्चल को एक सौन्दर्य पुजारी की दृष्टि से देखा है। ग्रतः साधारण, ग्रसाधारण सभी कुछ सुन्दर ग्रौर उदात्त दृष्टिगोचर होता है, किन्तु हृदय की उदात्त भावभूमि विपन्न परिस्थति में भी सौन्दर्य खोज लेती है, विपन्नता के नाश के लिए लेखक को वज्र बन कर टूटना है। वह विपन्नता के कारणों पर विचार कर उन पर हृदय के पूरे ग्राक्रोश भी व्यक्त करता है, ग्रौर इस प्रकार उपवन में पौधे रोपने के पूर्व कण्टकों का नाश भी करना पड़ता है। "रेणु" की ग्रसफलता यहीं दिखाई पड़ती है। नागार्जुन जनता को सही रास्ता दिखा सकते हैं किन्तु पात्रों में ग्रावश्यक प्रेरणा नहीं जगा पाते। "रेणु" प्रेरणा भर सकते हैं परन्तु पूर्णरूप में सही रास्ता नहीं दिखा पाते मैंने कहा पूर्ण रूप से नहीं दिखा सकते। ऐसा क्यों है ?

रेणु समाजवादी होने पर भी मूलतः ग्रादर्शवादी कलाकार हैं। दोनों उपन्यासों में लेखक उच्चवर्ग के हृदय परिवर्तन में ग्रपनी सारी कला का व्यय करता है। हृदय-परिवर्तन होता है, वह ग्रावश्यक है, उच्चवर्ग से संवेदनशील विचारक ग्रौर सच्चे कार्यकर्ता हमें मिले हैं, परन्तु लेखक सामान्य जनता को मूर्ख समझ कर जब 'जित्तन बाबू' (परती परिकथा) द्वारा ही उनके "उद्धार" करने के लिए कटिबद्ध हो जाता है, तो हमें कहना पड़ता है कि नव-निर्माण में ग्राम का उच्चवर्ग या स्वयं निजी लाभ में विकास-सङ्घों से रुपया लगा रहा है, ग्राम सभाग्रों ग्रौर कोपरोटिव बैंकों ग्रादि स्थानीय संस्थाग्रों पर उच्चवर्गीय जमीदारों, बड़े किसानों ग्रौर महाजनों का ही ग्राज भी ग्राधिपत्य है जो देश के शासक वर्ग के साथ हैं। यह वर्ग जनता के हित का विरोध करता है, क्यों ? क्योंकि व्यक्तिगत सम्पत्ति की रक्षा में यह वर्ग संलग्न हैं, सारे देश में यही स्थिति है। ग्रतः इस वर्ग के विरोध में सामान्य किसानों व भूमिहीन श्रमिकों को संगठित कर सामूहिक कृषि, सामूहिक व्यवसाय ग्रादि के द्वारा ग्राप बड़े किसानों व महाजनों के साथ प्रतियोगिता में सफल हो सकते हैं—

"रेणु" इस चुभनशील किन्तु वास्तविक सत्य को नहीं समझ सके। सम्भवतः उसकी ग्राशा यह है कि परती-परिकथा जैसे साहित्य को पढ़कर सभी

जमींदार अपनी भूमि का दान कर देंगे और ग्रामदान आन्दोलन केवल विनोबा भावे की अपील और प्रार्थना पर ही सफल हो जायगा। हम चाहते हैं कि ऐसा होजाए परन्तु इतिहास व समाजशास्त्र का अध्ययन कुछ सबक सिखाता है, जीवन का अनुभव भी जिसे पुष्ट करता है कि ग्रामों का उच्च वर्ग बिना शीघ्र भूमि सुधारों और किसानों के सशक्त संगठनों के न आत्मसमर्पण करेगा और न विकास को जनवादी पद्धति पर विकसित होने देगा। न जाने आँसुओं के कितने महासागर खाली हो चुके हैं, न जाने भूस्वामियों और जगत स्वामियों की कितनी प्रार्थनाएँ हुई हैं परन्तु 'परती परिकथा' को पढ़कर इस देश के जमींदारों में, "परती परिकथा" के जित्तन बाबू जैसे कतिपय भद्र जमींदारों को छोड़कर कोई भी द्रवित होकर "आत्म समर्पण" व "समाज सृजन" की ओर उन्मुख न होगा। अतः जैसा मैंने कहा कि नागार्जुन की दृष्टि शुद्ध जनवादी व यथार्थ-वादी है जो सही है जबकि रेणु एक आदर्शवादी किन्तु एक श्रेष्ठतर कलाकार हैं।

रेणु के मस्तिष्क में एक पूर्व निर्मित साँचा है, इसी साँचे में उन्होंने दोनों उपन्यासों को ढालकर प्रस्तुत किया है। परती परिकथा को लीजिये—ग्राम में एक बड़ा भूमिपति है, जिसमें समाजवादी, कांग्रेस, कम्यूनिस्ट—ये तीन प्रमुख राजनैतिक दल हैं, इन दलों के नेता महामूर्ख हैं, लुत्तो कांग्रेसी है, स्वार्थ साधक, व्यक्तिगत प्रतिशोध के लिए जनता का उपयोग करने वाला, षडयन्त्री और नव-निर्माण का विरोधी। मकबूल कम्यूनिस्ट लीडर है, हिन्दू होते हुए भी मुसल-मान नाम धारण करने वाला, फरेबी, साम्यवादी सिद्धान्तों की मनचाही व्याख्या करने वाला, विकास का विरोधी, ऊपर से कम्यूनिस्ट नेताओं का मात्र आज्ञा-पालक और जड़। सोशलिस्ट नेता भी ऐसा ही है यदि कोई महान् और विद्वान व्यक्ति है तो वह है जमीदार जित्तन। कोसी योजना के विरोध में सभी दल जित्तन के विरोधी हैं, केवल जित्तन सरकार के साथ सहयोग करता है और जनता के लिए भूमिदान करता है। अन्त में सभी का एक साथ हृदय-परिवर्तन हो जाता है और सभी दल के लोग ग्राम के नव-निर्माण में हाथ बँटाते हैं। कितना सुन्दर स्वप्न है। काश ! यह पूरा हो जाय। भारत सुन्दर-द्रष्टाओं का देश है—रेणु भी उन्हीं में से एक हैं। समाधान की दृष्टि से 'रेणु' मैला आँचल और परती परिकथा दोनों में पाठकों में भ्रम का सृजन करते हैं—एक सुखद और कलापूर्ण भ्रम।

परती परिकथा में यथार्थ का एक स्वस्थ पक्ष भी मिलता है। ग्रामों में जो जीवन की हलचल दिखाई पड़ रही है और जिससे जनता के मानस में अनेक

आशङ्काएँ, सन्देह, असन्तोष और अतृप्ति उभर रही है वह 'रेणु' ने पूरी तटस्थता से चित्रित करदी है, निर्माण के पूर्व गाँव का वास्तविक रूप क्या है, जमींदार वर्ग को छोड़कर, शेष जनता के चित्रण से वह रूप स्पष्ट हो जाता है। लेखक ने जित्तन बाबू के पिता शिवेन्द्र मिश्र की कथा के सूत्र द्वारा अँग्रेजी हुकूमत के समय के सामाजिक व राजनैतिक सम्बन्धों पर भी वास्तविक प्रकाश डाला है और देशभक्त शिवेन्द्र मिश्र जैसे जमींदारों की प्रशंसा का वास्तविक महत्त्व भी है। अँग्रेजों के बाद जमींदारों का अपने हितों के लिए गठबन्धन भी लेखक ने दिखाया है जो बिहार में जोर पकड़ रहा है, यह भी पता चलता है कि भूदान आन्दोलन अभी कमजोर हालत में है। लेखक ने सामाजिक रीति-रिवाज, प्रेम-सम्बन्ध, अन्ध-विश्वास आदि पर भी यथार्थ दृष्टि से विचार किया है यह परती परिकथा का उज्ज्वल पक्ष है परन्तु जैसा कहा कि उपन्यास का अन्तिम प्रभाव अचूक स्पष्ट और लक्ष्योन्मुख होना चाहिए जो नहीं है और उसका कारण है कि प्रारम्भिक साँचे के निर्माण में लेखक कृषकों व मजदूरों की शक्ति व संगठन में विश्वास न कर उच्चवर्ग के हृदय-परिवर्तन में विश्वास करता है। हमें आशा है कि आगे की रचना में 'रेणु' का यह भ्रम दूर हो जायगा।

अन्य उपन्यासों में 'बहती गङ्गा' में अँग्रेजो के विरुद्ध काशी की वीर जनता के संस्मरणों को एकत्र किया गया है, इस उपन्यास में 'काशी' को नायक बनाया गया है जो इसकी विशिष्टता है। 'ब्रह्मपुत्र' में देवेन्द्र सत्यार्थी ने आसामी संस्कृति की पूरी कोमलता के साथ चित्रण किया है, किन्तु देवेन्द्र सत्यार्थी व रुद्र का लक्ष्य किसी अंचल का समग्र चित्रण नहीं है, अतः 'ब्रह्मपुत्र' में संस्कृति की मनोहरता की ही झाँकी मिलती है। सागर लहरें और मनुष्य में मछुआ लोगों के जीवन का सर्वाङ्गीण चित्र मिलता है, 'जो है' उसका कलापूर्ण अङ्कन ही भट्टजी का उद्देश्य है। 'कब तक पुकारूँ' में नटों का जीवन पूरी सहानुभूति से चित्रित किया गया है। 'बूँद और समुद्र' में नागरजी ने लखनऊ की प्रत्येक रंगत को उतारने का प्रयत्न किया है।

उपन्यास कला की दृष्टि से नए उपन्यासकारों ने कला के सौष्ठव की चिन्ता कम की है, बिखराव और अनावश्यक विस्तार अधिक आया है। दृढ़ कथासूत्र के साथ सन्तुलित चित्रणों के विकास का अभाव खटकता है। उदय शङ्कर भट्ट के 'सागर लहरें और मनुष्य' तथा नागार्जुन के उपन्यासों में कथा और दृश्यों का संतुलित विकास सबसे अधिक मिलता है।

बूँद और समुद्र, कब तक पुकारूँ, मैला आंचल, परती परिकथा में अनावश्यक विस्तार अधिक है। इनमें भी रेणु के उपन्यासों में माधुर्य, भावुकता और लोकगीतों के अधिक्य से उसी प्रकार मन ऊब जाता है जैसे अधिक मधुर-भोजन से। जब दृश्यों का संयोजन पाठक के लिए अनिवार्य नहीं रहता तब कला में विखराव आता है। परती परिकथा में कथा के सूत्र को लेखक बड़ी ही शिथिलता के साथ विकसित करता है। उपन्यास में कथा मेरुदण्ड है, उसके दुर्बल होने पर दृश्यों में विन्यास उत्पन्न हो ही नहीं सकता, वे किसी दुर्बल शाखा पर लदे हुए पुष्पों के ढेर के समान दिखाई पड़ते हैं। परती परिकथा में कथा-सूत्र यदि दृढ़तर होता तो यह उपन्यास रससृष्टि में और भी अधिक सफल होता। मैला आँचल व परती परिकथा को अन्त तक पढ़ने के लिए योगी के समान धैर्य की आवश्यकता इसीलिए पड़ती है। देवेन्द्र सत्यार्थी के 'ब्रह्मपुत्र' में भी कथासूत्र शिथिल है। नए उपन्यासों में लेखकों को इस ओर ध्यान देना चाहिए।

आंचलिक उपन्यासों ने कुछ ऐसे पात्र हमें दिए हैं जिनमें स्थानीय विशिष्टताएँ हैं, जैसे विभिन्न मिट्टी के प्रकारों में लगाए गए पौधों में भिन्न-भिन्न सौन्दर्य और सुगन्धि होती है, वैसे ही नए और आकर्षक पात्र हमें आंचलिक उपन्यासों ने दिए हैं। रेणु के पात्रों में---जित्तन बाबू, ताजमनी और झिम्मल मामा नागार्जुन के पात्रों में बलचनमा और जैकिसुन, रुद्र के पात्रों में झंगड भिक्षुक, शिवनाथ, रांगेयराघव के पात्रों में सुखराम कजरी और प्यारी आदि पात्र आकर्षक हैं। एक सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि यह है कि आंचलों का प्रत्येक पात्र 'टाइप' होते हुए भी कुछ अपनी विशिष्टताओं के कारण दूसरों से अलग पहचाना जा सकता है। गोदान के होरी के पश्चात नए उपन्यासों के ये उपर्युक्त पात्र आपकी स्मृति को बार-बार झकझोरते हैं और नए समाज के निर्माण के लिए हमें प्रेरित करते हैं। जीवन की अनेक परिस्थितियों और अनेक भावनाओं का ये पात्र प्रतिनिधित्व करते हैं। जित्तनबाबू का आदर्शवाद, ताजमनी का कोमल समर्पण और दिव्य प्रेम, झिम्मल मामा की घर फूँक मस्ती और सचाई, बलचनमाँ की परिस्थितियों के अनुसार अपने को बदलने की शक्ति, झंगड़ भिक्षुक और शिवनाथ की अद्‌भुत वीरता 'कब तक पुकारूँ' के सुखराम नट की परिस्थितियों से जूझने की शक्ति, अनेकों आपत्तियों और दुखों की बिजलियों में मुसकराती हुई चाँदनी के समान कजरी और प्यारी का प्रेम और जीवट हमारे हृदय पर अमिट छाप डालते हैं।

भाषा और शैली की दृष्टि से आञ्चलिक उपन्यासों में बूँद और समुद्र, सेठ बाँकेमल, मैला आँचल और परती परिकथा, हिन्दी के श्रेष्ठ उपन्यास हैं। नागरजी तो जनता के सभी वर्गों के भाषा-विशेषज्ञ हैं ही परन्तु 'रेणु' में लोक-संस्कृति के प्रति जो ममता है, उससे आञ्चलिक शब्दों की रुक्षता कोमलता में बदल गई है। रेणु ने हिन्दी को अत्यधिक मधुर आञ्चलिक शब्द दिये हैं। तद्‌भव शब्दों द्वारा कितना माधुर्य उत्पन्न हो सकता है, इसके लिए परती परिकथा पाठनीय है। हंसा-चकेवा, गाछ-बिरच्छ, बुलबुलतरंग, गुनवन्ती, श्यामा-चकेवा आदि शब्दों से रेणु की कला में भावुकता के साथ भोलापन भी बढ़ गया है। परन्तु कहीं-कहीं अँग्रेजी के कठिन शब्दों के अनुवाद नहीं दिये गये हैं यथा सैक्सालोजिया (पृष्ठ १५), मानुमेण्ट (पृष्ठ १६), ट्रेसपासिंग (१६), टेरीबिल (२७) आदि। पूर्णिया के लोग इसका अर्थ भले ही समझते हों परन्तु दूसरे अञ्चलों के सामान्य पाठक इनका अर्थ न समझ सकेंगे।

हिन्दी के आञ्चलिक उपन्यासों में अभी कमियाँ हैं, परन्तु ये उपन्यास जन-जीवन की पहचान में हमारे सबसे बड़े साथी हैं। देश की वास्तविक स्वतन्त्रता का प्रश्न अञ्चलों की जागृति पर निर्भर है। आञ्चलिक उपन्यास के क्षेत्र में असीम सम्भावनाएँ हैं, अभी बहुत कम अञ्चलों पर कार्य हुआ है। इस विराट भारत महाद्वीप में न जाने कितने अञ्चल और लेखक हैं। दोनों का सम्बन्ध जितनी जल्दी जुड़ जाय उतना ही श्रेयस्कर होगा। व्यक्तिवादी (प्रयोगवादी) विघातक साहित्य के विरुद्ध यह आञ्चलिक साहित्य हमारे हिन्दी-साहित्य के उज्ज्वल भविष्य की ओर संकेत कर रहा है। लेखक अब अपने अहं के परतों को उधेड़ने में समय नष्ट नहीं कर सकता, अब वह देश के फटे बखिया को सीने के लिए अपनी लेखनी का प्रयोग सुई की तरह करेगा, कर रहा है। कितनी मीठी और प्यारी है हमारी जन संस्कृति। यह इन उपन्यासों के पठन से स्पष्ट हो जाता है। लोक-साहित्य और विश्वविद्यालीय साहित्य की खाई जो अब तक बराबर चौड़ी होती चली आ रही थी (और जिसे प्रयोगवादी अब भी कर रहे हैं) वह अब आञ्चलिक साहित्य से पटने लगी है।

युगवाणी, युगान्त और ग्राम्या में पन्तजी जिसे केवल 'बौद्धिक सहानुभूति' दे सके थे, उसी ग्रामीण जनता व शहर के निम्न वर्ग को उक्त लेखकों की सारी ममता मिल रही है। क्या हिन्दी की यह नवीन उपलब्धि नहीं है?

[साहित्य-सन्देश, जनवरी-फरवरी १९५८।

सोवियत उपन्यास

[प्रो० प्रकाशचन्द गुप्त]

सन् १९१७ से ५६ तक सोवियत साहित्य एक नई परम्परा का निर्माण कर चुका है । यह परम्परा समाजवादी यथार्थवाद की परम्परा है । समाजवादी यथार्थवाद जीवन की वास्तविकताओं का अङ्कन करता है । साथ ही समाज के प्रगतिशील तत्वों को भी बल देता है । सामाजिक प्रगति में वह पक्षधर भूमिका अदा करता है और अस्वस्थ, व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों का तिरस्कार करता है । लगभग चालीस वर्ष में सोवियत उपन्यास का शानदार इतिहास बन चुका है और उसके उच्चतम शिखरों को पूँजीवाद के प्रशंसक आलोचक भी अवहेलना से नहीं देख सकते ।

पिछले वर्ष सोवियत लेखकों की कान्फ्रेन्स ने अपने साहित्य की निर्भीक आत्म-आलोचना की थी और यह स्वीकार किया था कि जितनी उच्च-कोटि की कृतियाँ सोवियत समाज को अपने लेखकों से मिलनी चाहिये, वह उसे नहीं मिल रहीं । सोवियत के प्रसिद्ध उपन्यासकार, शोलोकौफ ने अपना असन्तोष बहुत कठोर शब्दों में व्यक्त किया था । उन्होंने कहा था कि सोवियत लेखकों में अनेक 'मृत आत्मायें' हैं । इस आलोचना से पश्चिम के कुछ विचारकों ने यह निष्कर्ष निकाला कि सभी सोवियत लेखकों के लिए, स्वयं शोलोकौफ के लिए भी, यह शब्द कहे गए हैं ।

सोवियत उपन्यास की चर्चा करते हुए पाश्चात्य उपन्यास की अवस्था का कुछ जिक्र करना अप्रासंगिक न होगा । पश्चिम के अनेक पाठक हत्याओं और जाजूसी के कारनामों से भरे उपन्यास ही पढ़ते हैं । आल्डस हक्सले के समान 'बड़े' उपन्यासकार कला के नाम पर अनर्गल प्रलाप ही पाठक-समुदाय को अर्पण करते हैं । आश्चर्य की बात यह है कि बूर्जुआ आलोचक, जो कला की दुहाई देते हुए नहीं थकते, इन कृतियों को कला की चरम सीमा समझकर स्वीकार करते हैं ।

सोवियत उपन्यास के सामान्य स्तर के प्रति असन्तोष स्वाभाविक और आवश्यक भी है। औसत सोवियत उपन्यास किसी सामाजिक लक्ष्य पर पूर्णतया केन्द्रित होता है और पात्रों के चौमुखी विकास के प्रति उदासीन रहता है। यह पात्र अधिकतर मानवीय दुर्बलताओं से अछूते बच जाते हैं। सोवियेत समाज भी अनेक आन्तरिक दुर्बलताओं से सङ्घर्ष करता हुआ साम्यवाद के लक्ष्य की ओर बढ़ रहा है। सोवियत उपन्यास से पाठक वास्तविकता का सच्चा और सर्वाङ्गीण चित्रण चाहते हैं, वे मनुष्यों का चित्रण चाहते हैं, देवताओं का नहीं। इलिया ऐरनबर्ग की आलोचना का स्वर भी लगभग यही है। वे कहते हैं कि सोवियत नागरिक का केवल राजनीतिक अङ्ग ही सोवियत उपन्यास में इधर चित्रित हुआ है। वह प्रेमी है, पिता है, पुत्र है, उसके इन पक्षों का बहुत कम अङ्कन इन उपन्यासों में हुआ है। इन दुर्बलताओं को दूर करके सोवियत उपन्यास अपनी बड़ी सफलताओं के इतिहास को और भी विकसित कर सकेगा।

जब हम किसी साहित्य की आलोचना करते हैं, तो उसकी महान् कृतियों पर उसे आधारित करते हैं। यदि कोई आलोचक अँग्रेजी साहित्य की चर्चा करे और उसमें शेक्सपियर का जिक्र न हो, तो यह एक आधारभूत कमी होगी। इसी प्रकार सोवियेत उपन्यास का लेखा-जोखा लेते समय गोर्की की कृतियों को सबसे पहले सामने रखना होगा। उनके साथ ही एलेक्से टॉल्सटॉय, ओस्त्रोवस्की, शोलोकॉफ, इलिया ऐरनबर्ग, पौलेवोई आदि के कृतित्व का दर्शन भी आवश्यक होगा। तभी हम सोवियत उपन्यास का पूर्ण परिचय पा सकते हैं।

गोर्की सोवियत साहित्य के जनक है। सिद्धान्त और प्रयोग दोनों में ही सोवियत उपन्यास को उनके सम्पर्क पर चलना है। गोर्की समाजवादी, यथार्थवादी शैली के पिता थे और सैद्धान्तिक प्रतिपादक भी। अपनी आत्मकथा में, 'फोमा गोर्दयेफ' के समान उपन्यासों में और अगणित कहानियों में उन्होंने रूसी जीवन की क्रूर वास्तविकताओं का निर्मम चित्रण किया। गोर्की जीवन के कठोर सत्य को रंच-मात्र भी छिपाना भारी दोष समझते थे। इतनी क्रूरता कुरूपता, निर्ममता हृदय को आतङ्कित कर देती है, किन्तु यह महान् कलाकार अपने पाठक को भ्रम में नहीं छोड़ना चाहता। गोर्की की आत्म-कथा किसी महाकाव्य के समान एक वृहद 'कैन्वेंस' पर अङ्कित है। कितना गहरा और व्यापक उनका जीवन-अनुभव था। कितनी निष्ठा से उन्होंने इस गम्भीर

जीवन-अनुभव को कला का रूप दिया है। गोर्की के दिखाये मार्ग पर चलकर ही सोवियत साहित्य अपने महान् लक्ष्य तक पहुँचेगा। गोर्की जीवन के कठोर, क्रूर रूप तो प्रदर्शित करते ही हैं, किन्तु उनके कोमल, मर्मस्पर्शी रूपों की भी कभी अवहेलना नहीं करते। उनके साहित्य के प्रहारों के कारण जीवन उतना कठोर और विकराल भी नहीं रहता, जितना वह पहले था। यही हम डिकिन्स, थैकरे, मैरेडिथ, हार्डी आदि अंग्रेजी उपन्यासकारों के सम्बन्ध में कह सकते हैं।

गोर्की के समकालीन महान् उपन्यासकारों में मुख्यतः दो नाम आते हैं ऑस्त्रोवस्की और एलेक्से टॉल्सटॉय। इन कलाकारों ने अपनी कृतियों में मुख्यतः गृह युद्ध सम्बन्धी घटनाओं का अङ्कन किया है। ऑस्त्रोवस्की सोवियत जनता के परम-प्रिय लेखकों में से हैं। उनका सुप्रसिद्ध उपन्यास 'फौलाद किस प्रकार तपा ?' हिन्दी में 'अग्नि दीक्षा' के नाम से अनुवादित हो चुका है। यह कथा एक ऐसे बालक की है, जिसे अभिजात वर्ग त्याज्य समझ लेता है, किन्तु जो क्रान्ति की अग्नि में तप कर समाजवादी व्यवस्था में नेतृत्व का स्थान ग्रहण करता है। बड़ा सशक्त और प्रभावशाली यह उपन्यास है, और सोवियत साहित्य की अनुपम कला-साधना का उत्कृष्ट उदाहरण है।

ऐलेक्से टॉल्सटॉय की उपन्यास-माला, 'कैलवैरी का पथ' अथवा 'परीक्षा' सोवियत उपन्यास में विकास की एक नई कड़ी है। यह नई कड़ी उपन्यास-मालाओं की परम्परा है। 'कैलवैरी का पथ' तीन उपन्यासों की लड़ी है। इसी परम्परा के लेखक शोलोकौफ और इलिया एरैनबर्ग भी हैं। ऐलेक्से टॉल्सटॉय का कैन्वैस विशाल है और बड़े यत्न और अद्‌भुत कला-शिल्प से लेखक ने इस पट पर अपने चित्र अङ्कित किए हैं। गहरी भावना और अनुभूति इस कला की सृजन-प्रेरणा का रहस्य है। क्रान्ति गृह युद्ध और समाजवादी निर्माण किस प्रकार दो बहनों के जीवन को प्रभावित करते हैं, इस कथानक का यह केन्द्रित विषय है। 'कैलवैरी के पथ' के समान उपन्यास विश्व-साहित्य की अमर निधि है, और किसी भी आलोचक के लिए इनका महत्त्व घटाना असम्भव है। इस प्रश्न का निपटारा समय कर चुका है।

नए सोवियत उपन्यासकारों में शोलोकाफ का स्थान प्रमुख है। इनकी सुप्रसिद्ध उपन्यास-माला में तीन बड़े उपन्यास लिखे जा चुके हैं—"डान का प्रशान्त-प्रवाह", "कुँआरी धरती गोड़ी जाती है", "डान समुद्र से मिलती है।" आजकल शोलोकाफ एक नया उपन्यास लिख रहे हैं, जो निश्चित ही सोवियत कला को महत्त्वपूर्ण देन होगा। शौलोकाफ डान नदी के तट पर

बसी हुई कज़ाक जाति की कथा इस माला में कहते हैं। इस जाति के जीवन और इतिहास का शौलोकॉफ को गहरा और अन्तरंग अनुभव है। जारकालीन रूस में यह कज़ाक सेना में भर्ती हो जाते थे। वे जारशाही की भयानक घुड़-सवार सेनाओं के जीवन-प्राण थे। युद्ध की विभीषिकाओं से त्रस्त होकर कज़ाक सैनिक और किसान विद्रोह करते हैं, क्रान्ति और फिर गृह-युद्ध की अग्नि में वे जलते हैं। फिर क्रमशः सामूहिक कृषि के शान्त और समृद्ध जीवन का वरण करते हैं। शौलोकॉफ के उपन्यासों के बहुमूल्य अनुवाद ही पूँजीवादी प्रकाशकों ने अब तक छापे हैं, फिर भी आसानी से वे नहीं प्राप्त होते। दुर्भाग्यवश अभी तक मास्को से उनके सस्ते अङ्गरेजी अनुवाद नहीं निकले। गोर्की, ऑस्त्रावस्की और टॉल्सटॉय के अङ्गरेजी अनुवाद मास्को प्रकाशन-गृह ने उपलब्ध कर दिए हैं।

सोवियत उपन्यासकारों की पहली पीढ़ी ने मुख्यतः क्रान्ति और गृह-युद्ध की समस्याओं को अपनी कला का विषय बनाया था। अगली पीढ़ी ने क्रमशः जर्मन आक्रमण और युद्धोत्तर काल में पुनर्निर्माण की घटनाओं का चित्रण किया। यद्यपि इस काल में अनेक महत्त्वपूर्ण उपन्यासों का निर्माण हुआ, फिर भी यह निर्विवाद है कि साधारणतः अनेक लेखकों ने यथार्थ का निर्मम और सर्वाङ्गीण अङ्कन नहीं किया और बहुधा उनकी दृष्टि सीमित एकाङ्गी थी।

इस काल में सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार इलिया ऐरनबर्ग थे, जिन्होंने गोर्की, ऑस्त्रॉवस्की और एलेक्से टॉल्सटॉय की महान् परम्परा का निर्वाह किया। उन्होंने भी वृहद् कैन्वैस पर जीवन की वास्तविकता का गम्भीर और गहरी दृष्टि से अङ्कन किया। उनकी सबसे महत्त्वपूर्ण कृति है—"तूफान"। फ्रान्स में फासिज्म की बढ़ती शक्ति "पैरिस का पतन" शीर्षक उपन्यास में चित्रित है। युद्ध की भीषणता का व्यापक चित्रण "तूफान" में है। युद्धोत्तर समस्याओं का, विशेष रूप से अमरीकी साम्राज्यवाद का, उदय "नवीं रागिणी" में है। हाल में "The Thaw" शीर्षक नए उपन्यास में सामयिक सोवियत जीवन का निर्मम और यथार्थ अङ्कन है। विश्व के महान् उपन्यासकारों की परम्परा के उत्तराधिकारी ऐरनबर्ग अवश्य हैं। उनकी कला में हमें जीवन का व्यापक संश्लिष्ट और सूक्ष्मतम् चित्रण मिलता है।

युद्ध और पुनर्निर्माण के काल में सोवियत उपन्यास का सामान्य स्तर पहले की अपेक्षा गिरा, किन्तु पाश्चात्य देशों की कला के सामान्य स्तर से यह

फिर भी ऊँचा है। ऐरेनबर्ग के उपन्यासों के अतिरिक्त और भी अनेक महत्वपूर्ण उपन्यास इस काल में लिखे गए। उदाहरण के लिए, पौलेवोई की 'सच्चे मनुष्य की कथा' (The Story of a Real Man) अथवा "फौलाद और कचरा" (Steel and Slag) युद्ध के काल में उच्चकोटि के अनेक ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखे गए; इनमें 'पोर्ट आॅर्थर', 'वाटूखाँ', 'चंगेज खाँ', 'दिमित्री दाॅन्सक्वा' आदि उल्लेखनीय हैं।

मध्य एशिया के जीवन से सम्बन्धित उपन्यासों में "निसो" का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इसे लुतनिस्की नाम के रूसी लेखक ने लिखा है। निसो एक अनाथ ताजिक लड़की है। उसका जन्म पामीर के वीरान पहाड़ों में हुआ है। सोवियत व्यवस्था के स्पर्श से निसो का जीवन फूल के समान खिल उठता है। बड़ी कोमल, भावप्रवण दृष्टि, गहरी अनुभूति और बड़े मर्मान्तक अनुभव से लेखक ने इस उपन्यास की सृष्टि की है।

हाल के कुछ सोवियत उपन्यासों में हम जीवन का सर्वाङ्गीण चित्र एक बार फिर पाते हैं, उदाहरण के लिए, "जुर्बिन (The Zurbins) परिवार" अथवा "आइवैन आइवैनोविच" (Ivan Ivanovich) में। इन उपन्यासों में सामाजिक पृष्ठभूमि में व्यक्ति-जीवन की कथा गम्भीर और व्यापक दृष्टि से कही गई है। जुर्बिन परिवार के सभी सदस्य जलयान-निर्माण की कला में दक्ष हैं। वे यान-निर्माण की कला में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन देखते हैं और उसमें सहायक होते हैं। उनके अपने जीवन की भी अनेक गुत्थियाँ हैं, जिनका पूर्ण विवरण उपन्यास में है। सोवियत समाज के एक अङ्ग का इस उपन्यास में अत्यन्त सजीव और मार्मिक वर्णन है।

"आइवैन आइवैनोविच" में एक बड़े वैज्ञानिक की कथा है। उसकी स्त्री एक अन्य व्यक्ति से प्रेम करने लगती है। बड़ी करुण कथा यह है, किन्तु सामाजिक हित की प्रेरणा वैज्ञानिक को जीवन-भार वहन करने की शक्ति देती है। कठोर अन्तर्सङ्घर्ष के बाद उसकी स्त्री उसे छोड़ कर अपने प्रेमी से जा मिलती है। डाॅक्टर अपने कार्य में ऐसा दत्तचित्त रहता है कि स्त्री का सामाजिक दायित्व उसकी दृष्टि में नगण्य है। इसके विपरीत उसकी स्त्री का प्रेमी उसके व्यक्तित्व के चौमुखी विकास में सहायक होता है।

ऊपर हमने कुछ उपन्यासों का विवरण दिया है। इसी महत्त्व के और भी अनेक उपन्यास हमें सोवियत साहित्य में मिलते हैं। इनकी गणना आसानी से विश्व की महान् कला-कृतियों में हो सकती है। जब हम सोवियत साहित्य की चर्चा करते हैं, तो हमें उसके गुण और दोष, दोनों को ही ध्यान में रखना

चाहिए। अनेक आलोचक एकाङ्गी दृष्टि से, केवल अपने पूर्वग्रहों की तुष्टि के लिए सोवियत कला और साहित्य पर भ्रामक लेख लिखा करते हैं, किन्तु वैज्ञानिक आलोचना में ऐसे लेखों का कोई स्थान नहीं हो सकता।

सोवियत उपन्यास ने पिछले चालीस वर्षों में आशातीत सफलता पाई है। युद्धकाल से इस उपन्यास ने एकाङ्गी दृष्टि अपनाई, जिसके कारण उसके विकास की गति धीमी पड़ गई। अब चिह्न प्रकट हो रहे हैं कि एक बार फिर जीवन का सर्वतोन्मुखी अङ्कन सोवियत उपन्यास करने लगा है।

सोवियत उपन्यास ने अपने सम्पूर्ण इतिहास में जीवन का गहरा और व्यापक अङ्कन किया है। उसने सामाजिक जीवन को अपने चित्रण का ध्येय बनाया और व्यक्ति को समाज की पृष्ठभूमि में रख कर देखा। सोवियत समाज के क्रान्तिकारी परिवर्तनों में यह उपन्यास सहायक और पक्षधर सिद्ध हुआ। कला-शिल्प में परम्परागत् रूपों को उसने सम्हाला, रूप को अभिव्यक्ति का माध्यम मात्र समझा और प्रयोग को आदर्श बनाकर कला के परम्परागत् साँचे कभी नहीं तोड़े। सोवियत उपन्यास ने कथा माला (trilogy) की परम्परा को उठाया और जीवन का गम्भीर, गहरा विश्लेषण किया। सोवियत उपन्यास-कारों का कथा-शिल्प लचकीला और महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने कथा-निर्माण के अनन्य रूप विकसित किए, किन्तु कथानक और गद्य को रूपहीन नहीं बनाया। इसी प्रकार चरित्र-चित्रण में भी हमें मात्र छायाएँ नहीं मिलतीं, वरन् हाड़-माँस के मनुष्य मिलते हैं। इस सम्पूर्ण कला-परम्परा को हम समाजवादी यथार्थवाद की परम्परा कह सकते हैं। कोई भी निष्पक्ष विचारक सोवियत उपन्यास की देन को सन्तोषप्रद कहेगा, यदि उसने अपने विषय का समुचित अध्ययन किया है और वैज्ञानिक दृष्टि से साहित्यालोचन करता है।

[साहित्य-सन्देश, अक्टूबर १९५६।

———

हिन्दी के कुछ प्रयोगकालीन उपन्यास

[प्रो० आनन्द नारायण शर्मा]

हिन्दी-साहित्य की सभी विधाओं में आज व्यापक प्रयोग चल रहे हैं। कविता के क्षेत्र में तो एक विशेष वाद ही 'प्रयोगवाद' के नाम से पुकारा जाने लगा है। केवल सिद्धांत रूप से प्रयोग करने वाले कवियों की रचनाओं में ही नहीं, अन्य मान्यता प्राप्त कवियों की कृतियों में भी शैली और शिल्पगत नवीनता दृष्टिगत होती है। पन्तजी की 'प्रतिमा' और दिनकर के 'नील कुसुम' में प्रयोगशीलता के चिन्ह स्पष्ट हैं। हिन्दी के उपन्यास साहित्य में, यह प्रसन्नता की बात है, प्रयोगवाद के नाम से अभी तक कोई वाद प्रतिष्ठित नहीं हुआ है। पर यह भी सत्य है कि हिन्दी के उपन्यासकारों में अपने सामाजिक दायित्व और जीवन के बदलते हुए मानों और मूल्यों को कलम बन्द करने की बेचैनी कवियों की अपेक्षा कहीं अधिक है। ऐसा होना स्वाभाविक है, क्योंकि कविता जहाँ हमारे मनोरागों और आवेगों का प्रकाशन है, वहाँ उपन्यास का सम्बन्ध हमारे पल-पल परिवर्तित परिवेश और सामाजिक मूल्यों से है। कवि-दृष्टि प्रायः अंतर्मुखी हुआ करती है, जबकि उपन्यासकार बहिर्जीवन को सामने रखकर ही अपनी रचना में संलग्न होता है। अतः परिवर्तन की पुकार भी पहले उसे ही आलोड़ित करती है। इतना ही नहीं, प्रसिद्ध प्रगतिशील आलोचक राल्फ फॉक्स ने तो उपन्यासों की ऐतिहासिक भूमिका पर प्रकाश डालते हुए अपनी पुस्तक 'दि नावेल एण्ड दि पीपुल' में यहाँ तक लिखा है कि 'उपन्यास बुर्जुवा संस्कृति की विशेष रचना ही नहीं, उसकी महानतम् रचना भी है।'

हिन्दी-उपन्यास के क्षेत्र में सर्व प्रथम प्रयोग अज्ञेय के 'शेखर : एक जीवनी' नामक उपन्यास में देखने को मिलता है। इस उपन्यास की विशेषता यह है कि इसमें हिन्दी-उपन्यासों की प्राचीन परिपाटी को सर्वथा त्याग कर एक नये ढङ्ग से कहानी आरम्भ की गई है। सारा उपन्यास मौत की सजा पाए एक व्यक्ति द्वारा एक ही रात में देखे गए 'विजन' के रूप में लिखा गया है, जिसमें प्रथम पुरुष तथा अन्य पुरुष की शैलियों का आश्चर्यजनक, किन्तु सफल सम्मिश्रण है।

इसका नायक शेखर किसी वर्ग विशेष का प्रतिनिधि नहीं, बल्कि एक घोर व्यक्तिवादी जीव है, जो अपनी वर्त्तमान परिस्थितियों के प्रकाश में अपने को पहचानने का प्रयास कर रहा है। इसके अतिरिक्त अब तक के उपन्यासों में एक स्वीकृत सिद्धांत कार्य करण श्रृङ्खला को भी इसमें स्वीकार नहीं किया गया है, बल्कि इसके विपरीत उपन्यासकार ने जीवन के अनेक खण्ड-चित्रों को ऐसे ढङ्ग से सजाया है, जिसमें क्रमबद्धता न होते हुए भी प्रभावान्विति है और उसके माध्यम से एक व्यक्ति की जीवनी संपूर्ण परिवेश सहित उभरकर सामने आती है। यहाँ इस उपन्यास की विस्तृत समीक्षा करने का न तो अवसर है और न ऐसा करना आवश्यक ही है। नीचे हम पिछले दशक के कुछ ऐसे उपन्यासों की चर्चा करेंगे, जिनमें शिल्प की नवीनता और शैली की ताजगी अपनी सम्पूर्ण संभावनाओं के साथ प्रकट हुई है और जिससे हिन्दी के उपन्यास साहित्य की विविधता और बहुमुखी प्रगति का अनुमान किया जा सकता है। ये उपन्यास हैं धर्मवीर भारती लिखित 'सूरज का सातवाँ घोड़ा', शिव प्रसाद मिश्र 'रुद्र' लिखित 'बहती गङ्गा', नागार्जुन कृत 'बाबा बटेसर नाथ', प्रभाकर माचवे का 'परन्तु' और फणीश्वरनाथ 'रेणु' का 'मैला आँचल'। यद्यपि इनकी प्रयोगशीलता प्रमुखतः शिल्प के अभिनव प्रयोग में मुखर हुई है, लेकिन 'फार्म' की नवीनता ही सूचित करती है कि इनके लेखकों के पास कहने को कुछ ऐसा नया है, जो उपन्यास के पुराने चौखटे में नहीं अँट पाता। जीवन के बदले अथवा बदलते हुए मान और सामाजिक सम्बन्ध ही अपनी अभिव्यक्ति के लिए नवीन वेष-भूषा, नूतन रूप-सौष्ठव की माँग करते हैं। अतएव केवल नई टेकनीक के सफल प्रयोग की दृष्टि से ही नहीं, वक्तव्य की ताजगी के कारण भी इनका विशेष महत्त्व है।

सूरज का सातवां घोड़ा—'सूरज का सातवाँ घोड़ा' एक ऐसी अद्भुत कृति है जो उपन्यास होते हुए भी भिन्न-भिन्न कहानियों के रूप में लिखी गई है। इन परस्पर स्वतन्त्र लगने वाली कहानियों में लेखक ने बड़े कौशल से सम्बन्ध-सूत्र जोड़ दिया है। इसकी सभी कहानियाँ एक ही व्यक्ति माणिक मुल्ला द्वारा कही जाती हैं और इनमें कहीं-कहीं कहानी के पात्रों की भी आवृत्ति होती है। विभिन्न कहानियों के रूप में एक उपन्यास लिखने का साहस हिन्दी के लिए तो नया है ही, विश्व-साहित्य में भी ऐसे प्रयोग अधिक नहीं हुए हैं। इनकी कहानियाँ भी अतिशय सरल और सीधे ढङ्ग से लिखी गई हैं और उनमें स्वतन्त्र और कथा सरित्सागर का ढङ्ग अपनाते हुए लेखक ने अन्त में लोक-

कला का भ्रम उत्पन्न करने के लिए एक निष्कर्ष भी जोड़ दिया है। जिससे लेखक की तीक्ष्ण अन्तर्दृष्टि और व्यंग्य करने की प्रतिभा करने का पता चलता है। बीच-बीच में अनध्याय के रूप में वह अपनी ओर से भी कुछ कहता चलता है, जिससे पाठकों को कहानियों के बीच में अन्तराल का बोध नहीं होता। इस पुस्तक का-उद्देश्य मध्यवर्गीय जीवन और प्रेम आदि के ऐक्य में उसकी थोथी नैतिकता को उभार कर दिखलाना है। किन्तु यह उद्देश्य कहानी के कलेवर में इस प्रकार घुला-मिला दिया गया है कि पाठक को कहीं दुःख से आतङ्कित नहीं होना पड़ता और वह बराबर कथा के रस में डुबकियाँ लगाता आगे बढ़ता जाता है। भारती में एक सफल किस्सागो की प्रतिभा छिपी है; जिसका परिचय उनके प्रथम उपन्यास 'गुनाहों का देवता' से ही मिला था। प्रस्तुत उपन्यास उनकी किस्सागोई के साथ अभिनव शिल्पसौष्ठव का भी प्रमाण उपस्थित करता है। अन्तिम अध्याय में लेखक का स्वस्थ दृष्टिकोण और आशावादिता स्पष्ट है, जो इस प्रकार के प्रयोगशील लेखकों में प्रायः नहीं देखी जाती। नायिका यमुना के जीवन की क्रम परिणति के माध्यम से उपन्यासकार ने दिखलाया है कि सूरज रूपी समाज के रथ के छः घोड़े दुर्बल और विकलाङ्ग हो गए हैं, जिससे आज रथ अपनी सम्पूर्ण गति और वेग के साथ आगे नहीं बढ़ रहा है, फिर भी भविष्य का घोड़ा अभी स्वस्थ और शक्ति-सम्पन्न है और वही हमारी आशा का एक मात्र आधार है।

बहती गङ्गा—कई स्वतन्त्र कहानियों में निर्मित उपन्यास का दूसरा उदाहरण 'रुद्र' लिखित 'बहती गङ्गा' भी है, यद्यपि यह उपर्युक्त कृति से सर्वथा भिन्न प्रकार की रचना है। 'बहती गङ्गा' में काशी को विगत दो सौ वर्षों की प्रवहमान जीवनधारा को सत्रह तरङ्गों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। लेखक के शब्दों में 'ये तरंगें हैं– एक दूसरे से अलग, परस्पर स्वतन्त्र, परन्तु धारा और तरङ्ग-न्याय से आपस में बँधी हुई।' फिर भी 'बहती गङ्गा' की कहानियों में इतनी सम्बद्धता नहीं आने पाई है, जितनी 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' में वर्तमान है। इसका कारण शायद यह है कि इसमें लेखक का ध्यान केवल सम-सामयिक जीवन के सङ्घर्ष और वैषम्य को चित्रित करने में केन्द्रित नहीं हुआ है, बल्कि उसने बहुत बड़ी कालावधि को लघु सीमा में समेट लेना चाहा है। इसकी कहानियाँ कहानी-कला की दृष्टि से पूर्ण स्पष्ट और अपने आप में स्वतन्त्र हैं और यही इस पुस्तक की दुर्बलता और आकर्षण दोनों हैं। इन कहानियों में सम्बद्धता यदि है तो मात्र प्रभाव की, यानी एक कहानी का

प्रभाव दूसरी कहानी के लिए भूमिका का कार्य करता है। इस उपन्यास की नवीनता यह है कि इसका नायक कोई एक व्यक्ति नहीं प्रत्युत काशी नगरी है, जिसके सामाजिक और राजनोतिक जीवन के सङ्घर्ष और उतार-चढ़ाव को लेखक ने बड़ी मार्मिकता, किन्तु पूर्ण निर्वैयक्तिकता के साथ अङ्कित करने का प्रयास किया है। इसके सभी पात्र काशी की सांस्कृतिक विरामता, फक्कड़पन, मस्ती और वीरता से ओत-प्रोत हैं और उनसे मिल कर एक मधुर कसक की अनुभूति होती है। इतना होते हुए भी इसे एक ऐतिहासिक उपन्यास मानना वहुत युक्ति-सङ्गत न होगा क्योंकि इतिहास का केवल रस ही इसमें वर्तमान है। उसके घटना क्रम के प्रति उपन्यासकार का मोह नहीं है। और न वह अधिक विवरण (डिटेल्स) भरने में ही उलझा है।

बाबा बटेसरनाथ—'बहती गङ्गा' की ही भाँति एक लम्बी कलावधि का इतिवृत्त प्रस्तुत करने वाला उपन्यास नागार्जुन का 'बावा बटेसरनाथ' भी है। इसका नायक रुपउली गाँव का एक बूढ़ा बटवृक्ष है, जो उसी गाँव के निवासी जैकिसुन नामक एक व्यक्ति को रात में अपने अतीत जीवन और उसके बहाने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के स्वेच्छाचारी शासन से लेकर सत्याग्रह आन्दोलन, कांग्रेसी राज्य और जमींदारी उन्मूलन तक की कहानी सुना जाता है। शिल्प-प्रयोग की दृष्टि से यह सर्वथा मौलिक कलाकृति है और कुछ अंशों में नागार्जुन के बहु-बहु प्रशंसित उपन्यास 'बलचनमा', जिसकी चर्चा यहाँ जान बूझकर नहीं की जा रही है, से भी अधिक महत्त्व इसे मिलना चाहिए। बटेसरनाथ का व्यक्तित्व आयाततः मौलिक, विलक्षण और प्रतीकात्मक है। वह प्रतीक है अतीत संस्कृति और जीवन के भावों का। जिस ढङ्ग से ग्रामीण जीवन का चित्र उसके द्वारा प्रस्तुत करवाया गया है, वह सर्वथा नवीन तो है ही, उसकी स्वाभाविकता और विश्वसनीयता में भी कोई संदेह नहीं। नागार्जुन को उत्तर विहार के ग्रामीण जीवन का निकट से परिचय प्राप्त है और स्थान-स्थान पर सूक्ष्म संकेतों के भरने में वे अपना प्रतिद्वंद्वी नहीं जानते। बूढ़ा बटवृक्ष जब अपने नीचे सोए जैकिसुन के सामने सन से उजले बाल, श्वेत श्मश्रु, छाती छूने वाली दाढ़ी, भारी सिर और विशाल दानवों जैसी आकृति के साथ गोद में गौरैये का एक चूजा लिए उपस्थित होता है तो पाठक को ऐंद्रजालिक उपन्यासों का सा शिराभेदी कुतूहल विजड़ित कर लेता है। इस उपन्यास की सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि इसका लेखक पूर्वाग्रह रहित दृष्टिकोण का, जो ऐसी रचनाओं के लिए परमावश्यक है, आद्यन्त निर्वाह नहीं कर सका है। प्रगतिशीलता के नाम पर उसकी राजनीतिक पक्षधरता स्पष्ट हुए विना नहीं रह सकी है और अन्त में जिस जादू की छड़ी से सारे ग्राम की काया पलट करदी गई है और स्वाधी-

नता, शांति और प्रगति' का नारा दिया गया है, उससे केवल सस्ते रोमानी उपन्यास पढ़ने वाले पाठकों को ही संतोष हो सकता है। इसकी दूसरी बड़ी कमजोरी, जिसे नागार्जुन ने स्वयं भी स्वीकार किया है, यह है कि उपन्यास का अन्तिम भाग कुछ अधिक क्षिप्र और वर्णनात्मक हो गया है और उसे हम उपन्यास से अधिक 'रिपोर्ताज़' के निकट रख सकते हैं। फिर भी जैसा आरम्भ में ही निवेदित किया जा चुका है, यह नागार्जुन की तीक्ष्ण अन्तर्दृष्टि और प्रौढ़ कला का उदाहरण है और कथा-तत्त्व के इस युग में इसने हिन्दी उपन्यासों के समक्ष नई सम्भावनाएँ उपस्थित कर दी हैं।

परन्तु—विशुद्ध प्रयोग की दृष्टि से लिखा गया एक और उपन्यास, जिसकी हिन्दी-साहित्य में चर्चा नहीं के बराबर हुई है, प्रभकार माचवे लिखित 'परन्तु' है। जेम्स ज्वायस, वर्जीनियाबुल्फ तथा फिलिप टायन्वी आदि ने पाश्चात्य साहित्य में एक पद्धति प्रचलित की है, जिसमें कथाकार का ध्यान न तो कथा-वस्तु पर केन्द्रित रहता है और न चरित्र-चित्रण पर। बल्कि इन दोनों के स्थान पर वह 'चेतना के प्रवाह' (स्ट्रीम ऑफ कॉनशसनेस) को चित्रित करने का प्रयास करता है। हिन्दी-साहित्य में इस 'चेतना के प्रवाह' को दिखलाने की चेष्टा अज्ञेय के बाद, किन्तु उनसे कहीं अधिक यथार्थवादी ढङ्ग से प्रभाकर माचवे ने की है। परन्तु इसमें हमें इस चेतना के अविच्छिन्न प्रवाह के ही दर्शन होते हैं, जिसमें अलग-अलग प्रान्तों का व्यक्तित्व नदी के द्वीपों की तरह उभर कर सामने आता है। कई प्रान्तों के स्वतन्त्र मनोविश्लेषणात्मक परिचय को एक ही कथा में गुम्फित कर देना उपन्यासकार का विशेष कौशल है। किन्तु इसके अतिरिक्त 'परन्तु' में एक और प्रणाली काम में लाई गई है। यह है उद्धरणवादी प्रणाली। सम्पूर्ण उपन्यास में उद्धरणों की भरमार सी है। ८४ पृष्ठों के इस लघु उपन्यास का कम से कम चतुर्थांश तो अवश्य विभिन्न भाषाओं और विषयों के उद्धरणों ने समेट लिया है। 'परन्तु' के पात्र कुलीन और सम्भ्रान्त तो हैं ही, अपने स्रष्टा की ही भाँति वे कई भाषाओं के अधिकारी विद्वान् भी हैं और एक साथ गीता और कुमारसम्भव, मिल्टन और टी० एस० इलियट, शङ्कराचार्य और शॉपेनहावर पर तर्क कर सकते हैं। वर्तमान युग में पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के परिणाम स्वरूप किस प्रकार हमारे सामाजिक जीवन में घुन लग गया है और कितनी तीव्रता से जीवन के नैतिक मूल्यों का स्खलन होता जा रहा है, इस तथ्य की ओर ही इस उपन्यास में सधी उँगलियों द्वारा संकेत किया गया है। 'परन्तु' की समस्या 'व्यक्तिगत विनास की ट्रैजेडी नहीं, सारे समाज के गतिरोध की समस्या है' और लेखक के ही शब्दों में "इसीलिए इसका हल भी व्यक्तिगत नहीं हो सकता।" इस व्यापक गतिरोध का ही

प्रतीकात्मक संकेत बनकर उपन्यास के प्रत्येक परिच्छेद के अन्त में 'परन्तु' आ खड़ा होता है। चेतना-प्रवाह और उद्धरणवादी पद्धति के अतिरिक्त इस उपन्यास के पृष्ठ-पृष्ठ पर मिलने वाला तीव्र व्यंग्य माचवे की निजी विशेषता है और यद्यपि लेखक ने इसे चरित्र-चित्रण की अनिवार्य बुराई ही माना है, परन्तु इसके बिना शायद वह अपने उद्देश्य की सिद्धि में सफल भी नहीं होता है।

मैला आँचल—नवीन हिन्दी-उपन्यासों का यह विवेचन अपूर्ण और एकाङ्गी ही माना जायगा, यदि फणीश्वरनाथ 'रेणु' की अप्रतिम कृति 'मैला आँचल' का उल्लेख न हो। यह कृति हिन्दी-साहित्य में पिछले दिनों काफी गर्मागर्म चर्चा का विषय रही है। इसे हिन्दी का सर्वप्रथम आंचलिक उपन्यास माना गया है। यद्यपि इसकी कथावस्तु बिहार के पूर्णिया जिले के एक गाँव मेरीगञ्ज तक ही सीमित है, किन्तु इस ग्राम को लेखक ने उत्तर भारत के पिछड़े गाँवों का प्रतिनिधि मान कर अपना चित्रण किया है। इस प्रकार आंचलिक उपन्यास होते हुए भी इसके कथानक की व्याप्ति बढ़ जाती है। पिछले कुछ दिनों से उपन्यास-साहित्य में एक पद्धति विकसित हुई है नायकहीन उपन्यास लिखने की। अंग्रेजी और रूसी साहित्य में इस प्रकार के एकाधिक उपन्यास लिखे जा चुके हैं। 'रेणु' का यह उपन्यास उसी कोटि में परिगणनीय है। इसका नायक यदि कोई हो सकता है तो तत्कालीन आंचलिक जीवन ही किसी छोटे से कस्बे के सम्पूर्ण जीवन को इतनी सूक्ष्मता, सजीवता और तटस्थता से देखने का यह प्रथम प्रयास है और अपने इस सीमित क्षेत्र में रेणु को प्रेमचन्द के ही समान सफलता मिली है, जिनका विश्रुत उपन्यास 'गोदान' भारतीय जीवन का विशाल और गतिशील दर्पण है। इस उपन्यास का कोई एक पात्र प्रमुख न होते हुए भी इसमें स्थापत्य की सुसम्बद्धता वर्त्तमान है और विविध सूक्ष्म वर्णनों के होते हुए भी कथावस्तु में अनावश्यक ठहराव नहीं आने पाया है।

सामान्यतः उपन्यास हिन्दी-साहित्य की सबसे प्राणवान और गतिशील विधा है। ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि प्रेमचन्द के बाद उसने निर्भ्रान्ति रूप से प्रगति की है और उसका विकास उचित दिशा में हुआ है। यों समग्र रूप से चाहे कोई प्रेमचन्द से बड़ा उपन्यासकार न उत्पन्न हो सका हो और इसके कई कारण हैं, पर पिछले दस वर्षों में उपर्युक्त और इन जैसे दर्जनों उपन्यास हमारे सामने आये हैं, जिनमें एक साथ ही वक्तव्य और रूपशिल्प की ताजगी देखी जा सकती है।

[साहित्य-सन्देश, जुलाई-अगस्त १९५६।

हिन्दी उपन्यास में सैक्स

[श्री मूलचन्द सेठिया]

नर और नारी का आकर्षण साहित्य-सृजन की मूल प्रेरणा है। गड़रियों के गीतों से लेकर रहस्यवादी काव्य तक काम-भावना समान रूप से व्याप्त है। प्राचीन काव्य में सामाजिक विधि-विधान की लौह कठोरता और गोपन शीलता के कारण काम चेतना अनेक प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त हुई है। लौकिक प्रेम पर अलौकिकता का आवरण चढ़ाया गया है और नर-नारी के यौन आकर्षण को असीम के मौन निमन्त्रण के रूप में प्रकट किया गया है। वर्तमान युग में एक ओर सामाजिक बन्धन उत्तरोत्तर शिथिल होते गए हैं और दूसरी ओर फ्रायड आदि मनोवैज्ञानिकों ने काम चेतना को जीवन की सबसे प्रबल प्रेरणा के रूप में स्वीकार कर आवश्यक सङ्कोच और गोपनीयता का उद्घाटन कर दिया है।

प्रेमचन्द ने अपने प्रथम उपन्यास 'सेवासदन' को वेश्या की समस्या पर केन्द्रित किया है। प्रेमचन्द ने व्यक्ति को समाज की इकाई के रूप में ही लिया था। इसलिए ये अधिकतर समाजबद्ध जीवन को चित्रित करने में ही व्यस्त रहे, वैयक्तिक भाव-प्रतिक्रियाओं के विश्लेषण की ओर विशेष रूप से प्रवृत्त नहीं हुए। 'सेवासदन' में प्रेमचन्द की दृष्टि वेश्या के सामाजिक पथ तक ही सीमित रही है। समस्या के मनोवैज्ञानिक पहलू को उन्होंने नहीं छुआ है। 'रंगभूमि' में विनय और सोफिया का रोमांस अफलातूनी प्रेम है लेकिन 'कर्मभूमि' में प्रेमचन्द जीवन के यथार्थ धरातल पर उतर आये हैं। अमरकान्त का सकीना की ओर जो आकर्षण है वह केवल मन की भूख ही नहीं है, उसमें शरीर की भूख भी मिली हुई है। मुन्नी अपनी देह की माँग को दबा देती है, परन्तु वह बार-बार उभरती अवश्य है, फिर भी प्रेमचन्द नैतिकता की जिन स्थूल धारणाओं से प्रभावित थे, वे प्रेमचन्द को वासना के वर्जित प्रदेश में पाँव रखने से रोकती रहती थीं। 'प्रेमाश्रम' में गायत्री और ज्ञानशङ्कर एवं 'गोदान' में मालती और मेहता के प्रसङ्ग ऐसे ही हैं।

श्री जयशङ्कर 'प्रसाद' अपने प्रथम उपन्यास 'कंकाल' में विवाह संस्था को चुनौती देते हुए स्त्री के लिए पुरुष, पुरुष के लिए स्त्री के आकर्षण को प्राकृतिक स्वीकार करते हैं। घण्टी कहती है "मैंने केवल एक अपराध किया है —वह यही है कि प्रेम करते समय साक्षी इकट्ठा न किया, पर किया प्रेम ही !" प्रेम एक प्राकृतिक मनोभाव है जबकि विवाह एक समाज कृत विधान ! 'प्रसाद' सामाजिक विधान पर प्राकृतिक प्रेरणाओं की विजय स्वीकार करते हुए यह मानते प्रतीत होते हैं—"समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति हमारे आदर्श में होनी चाहिए।"

श्री बेचन शर्मा 'उग्र', श्री चतुरसेन शास्त्री, श्री ऋषभचरण जैन ने सामाजिक जीवन के अंधकार मय पक्ष का नग्न और यथार्थ चित्रण करने में प्रेमचन्द और 'प्रसाद' के संयम और सन्तुलन से काम नहीं लिया हैं। इन्होंने समाज कल्याण के नाम पर 'विधवाश्रम, अनाथालय और सेवासदन' में चलने वाली कुत्सित प्रवृत्तियों को नग्न रूप में उपस्थित किया है। 'उग्र' का 'दिल्ली का दलाल' चतुरसेन का 'अमर अभिलाषा', और ऋषभचरण का 'दुराचार के अड्डे' आदि उपन्यास एक ही शृङ्खला की कड़ियाँ हैं। इनका मूलतत्त्व समाज में संस्थाबद्ध रूप से चलने वाले नारी-व्यापार की ओर समाज के विचारशील वर्ग का ध्यान आकृष्ट करना था परन्तु अपनी अतिरंजित शैली के कारण ये भद्र-वर्ग के रोष और विरोध के पात्र बन गए। 'घासलेटी आंदोलन' के सूत्रधार बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखे गए महात्मा गाँधी के पत्र की ये पंक्तियाँ 'उग्र' के साथ पूरा न्याय करती हैं—"मैं पुस्तक का हेतु, शुद्ध मानता हूँ। लेखक ने अमानुषी व्यवहार के प्रति घृणा ही पैदा की है।"

श्री जैनेन्द्रकुमार हिंदी से प्रथम उपन्यासकार हैं जिन्होंने व्यक्ति के अन्तर्द्वन्द्व को अपने उपन्यास का मूल आधार बनाया और व्यक्ति के अन्तर को उद्वेलित करने वाली भावनाओं का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण किया। उनके उपन्यासों में सामाजिक पक्ष उत्तरोत्तर गौण होते हुए 'अज्ञेय' के 'नदी के द्वीप' में शून्यवत् हो गया है।

जैनेन्द्र के समस्त उपन्यास नारी और पुरुष के प्रेम की समस्या पर केन्द्रित हैं। जैनेन्द्र ने सामाजिक दृष्टि की क्षीणता के कारण सामाजिक विवशताओं और नैतिक वर्जनाओं की ओर उतना ध्यान नहीं दिया, जितना नारी और पुरुष की अतृत वासनाजनित कुण्ठाओं और मानसिक ग्रंथियों की ओर ! केवल त्यागपत्र इसका अपवाद कहा जा सकता है।

जैनेन्द्र के नारी पात्र सुनीता, सुखदा, मोहिनी और अनिता पत्नी और प्रेयसी की दो परस्पर विरोधी भूमिकाओं में काम करती हुई प्रतीत होती हैं। उनके पति निरपवाद रूप से अत्यन्त सहिष्णु पर नितान्त निष्क्रिय और उदासीन हैं। प्रेमियों के स्पष्टतः दो चेहरे हैं; वे ऊपर से खतरे से खेलने वाले क्रान्तिकारी हैं, उनकी जेब में पिस्तौल छिपे रहते हैं। परन्तु आन्तरिक रूप से दमित यौन भावना से ग्रस्त होने के कारण अनेक मानसिक भूल-भुलैयों में चक्कर काटते रहते हैं। हरिप्रसन्ना, जितेन और जयन्त इस दृष्टि से एक दूसरे के प्रतिरूप से प्रतीत होते हैं। नारी का रुद्ध भावावेग किसी तीव्र आघात से फूट पड़ता है और वे पुरुष के चरणों में अपने सम्पूर्ण नारीत्व का समर्पण करने को प्रस्तुत हो उठती हैं—"कहती हूँ, मैं यह सामने हूँ। मुझको तुम ले सकते हो। समूची को जिस विधि चाहो ले सकते हो", ..."व्यतीत" परन्तु पुरुष अपनी कापुरुषता के कारण इस चरम स्थिति में आकर पलायन कर जाता है। हरिप्रसन्न सुनीता को जङ्गल में अकेली छोड़ कर चल देता है तो जयन्त अनित के स्नेह समर्पण को ठुकरा कर गेरुए कपड़े पहन लेता है। पुरुष अपनी इस दुर्बलता के प्रति स्वयं सचेत है। तभी तो जयन्त कहता है "मुझमें पौरुष कम है। नहीं तो स्त्रियाँ ऐसे मुझसे क्यों व्यवहार कर निकलती हैं, जैसे बच्चे मोम से करते हैं ....।" (व्यतीत) विवश प्रत्याख्याता नारी अन्ततः यह अनुभव करती है "स्त्री का तुम्हारे लिए यही मूल्य है कि वह मात्र बोझ है।"

जैनेन्द्र का विश्वास है कि मनुष्य अपने को देकर ही पा सकता है। उनकी दृष्टि में नर-नारी की समस्या का समाधान भी आत्म-लय ही है। ".... अपने स्त्रीत्व और पुरुषत्व को अलग रखने के लिए हम नहीं सिरजे गए हैं। हमें एक दूसरे में अपना विलय खोजना होगा। नहीं तो सफलता नहीं, परिपूर्णता नहीं है।"

श्री 'अज्ञेय' नारी के इस आत्मलय को नारीत्व की सबसे बड़ी बिडम्बना मानते हैं।....कैसी विडम्बना है स्त्री की शक्ति की कि उसका श्रेष्ठदान है—स्वयं अपना लय—अपना विनाश। जैनेन्द्र और 'अज्ञेय' की मूल दृष्टि में यह मौलिक अन्तर है कि दोनों आत्मकेन्द्रित होते हुए भी जैनेन्द्र अहं को भुलाना चाहते हैं और 'अज्ञेय' भी यह मानते हैं कि "अहं की पुष्टि के लिए समर्पण नहीं, अहं का समर्पण ही समर्पण है।" परन्तु अपनी अहंवादिता के विष को चूस-चूस कर जीवित होने वाले शेखर और भुवन कहीं भी अपनी अहंमन्यता से मुक्त नहीं हो सके हैं।

'शेखर : एक जीवनी' रोम्याँ रोलाँ के 'ज्याँ क्रिस्ताँफ' की तरह एक प्रतिभाशाली कलाकार की आत्मकथा है, परन्तु इसमें लेखक का दृष्टिकोण इतना आत्मगत (Subjective) है कि 'शेखर : एक जीवनी' में कथासूत्र की वह गुम्फनशीलता और मानवीय संवेदना की अतल गहराई नहीं आ सकी है, जो रोम्याँ रोलाँ के उस विश्व-विश्रुत उपन्यास में है। शेखर बचपन से ही सेक्स के सम्बन्ध में अत्यन्त जिज्ञासु है। वह जानना चाहता है 'बच्चे कहाँ से आते हैं ? और लुकछिप कर जयदेव के गीत गोविन्द का पाठ करता है। एक के बाद अनेक नारियाँ उसके जीवन में आती हैं परन्तु 'शशि' के अतिरिक्त अन्यान्य आकर्षण वयः सन्धि के ज्वर ही सिद्ध होते हैं ! शशि अपने पति को छोड़ कर शेखर के पास चली जाती है और अन्ततः 'शेखर को बनाने में वह अपने आप को तोड़ डालती है।' इसी प्रकार 'नदी के द्वीप की रेखा भी शेखर को बनाने में अपने आप को मिटा डालती है।' अज्ञेय की नारी त्याग और बलिदान की मूर्ति हैं वे पुरुष के भविष्य को बनाने के लिए अपने आपको मिटाती रहती हैं। शशि की दृष्टि में उसके प्यार से उसके प्रेमी का भविष्य बड़ा है और रेखा भी भुवन से कहती है "मैंने तुम्हारा प्यार माँगा था, तुम्हारा भविष्य नहीं।" नारी कभी नहीं माँगती है परन्तु "स्त्री अगर माँगे तो न कहने का अधिकार पुरुष को नहीं है, शील विरुद्ध है—(प्रत्याख्याता) "स्त्री ने पुरुष को कभी क्षमा नहीं किया है।"—(नदी के द्वीप)

श्री 'अज्ञेय' के उपन्यासों में एक प्रकार की सामाजिक शून्यता है और उनके पात्र अपने अन्तर की भाव तरङ्गों में ही डूबते-उतराते हुए नजर आते हैं। श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के शब्दों में 'अज्ञेय' का ड्राइङ्ग रूम ही जैसे लखनऊ और दिल्ली से उठकर नकछिया ताल और तुलियन झील तक चला गया है। समाज से दूर, प्रकृति से दूर—पुरुष और स्त्री का यौन सम्बन्ध और बस—उसी में 'अज्ञेय' ने सारे काव्य, दर्शन और कला कौशल को समो दिया है। अज्ञेय के पात्र क्षणों में जीते हैं, उनके लिए नर-नारी का यौन-आकर्षण केवल क्षणों की अनुभूति है, जीवन का एक व्यापक सत्य नहीं।

श्री इलाचन्द जोशी ने 'सन्यासी', 'प्रेत और छाया' और 'निर्वासित' आदि उपन्यासों में कामजन्य कुण्ठाओं और मानसिक विवृत्तियों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करने के लिए अवचेतन के अन्धकूप में बहुत गहरी डुबकी लगाई है। मानव की रुग्ण मनोवृत्तियों का विश्लेषण करने में वे इतने अधिक व्यस्त हो गए हैं कि उनके उपन्यासों में स्वस्थ और सजीव मानव कम और 'प्रेत और

छायाएँ' अधिक मिलती हैं। यौन-वर्जनाओं के कारण मानव-व्यक्तित्व में जो असन्तुलन और असंगतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, वे उसके निजी जीवन पर ही अपना तिक्त प्रभाव नहीं डालतीं, बल्कि उसके सहवर्त्तियों के जीवन को भी विषण्ण और विषाक्त बना डालती हैं। नन्दकिशोर और पारसनाथ ऐसे ही चरित्र हैं। 'सुबह के भूले' इलाचन्द घर लौटते हुए प्रतीत होते हैं, परन्तु इतना ही संदेह है कि मुक्त और स्वस्थ वातावरण में उड़ने वाला 'जहाज का पंछी' कहीं फिर जहाज की ओर ही न मुड़ जाय।

श्री यशपाल, श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' और श्री रांगेयराघव आदि प्रगतिशील उपन्यासकार हैं परन्तु श्री नामवरसिंह के शब्दों में इस युग में प्रगतिवादी विवेक जिस बद्ध मूल संस्कार के विरुद्ध आरम्भ से ही सङ्घर्ष करता रहा है और फिर भी उसे सफलता नहीं मिल सकी वह है उपन्यासकारों के नारी सम्बन्धी बूर्ज्वा संस्कार । राहुल, यशपाल और 'अश्क' जैसे सजग, जागरूक तथा प्रगतिशील उपन्यासकार भी अपनी सेक्स सम्बन्धी कमजोरी से मुक्त नहीं हो सके हैं। इनमें से यशपाल में यह विकृति सबसे अधिक है।

श्री यशपाल काम-प्रेरणा को प्राकृतिक होने के कारण ही स्वस्थ और अनिवार्य मानते हैं। "यदि पुरुष के जीवन विकास में स्त्री का आकर्षण विनाशकारी होता तो प्रकृति यह आकर्षण पैदा ही क्यों करती ? परन्तु, पुरुष स्त्री की ओर दौड़ता है मानो उसके जीवन में कोई कमी है, जिसे वह पूर्ण करना चाहता है।" (दादा कामरेड) यशपाल ने नर नारी के यौन सम्बन्ध को अपने उपन्यासों का आधार बनाया है और उन्होंने अनेक उन्मादक यौन प्रसङ्गों की योजना की है। हरीश क्रान्तिकारी होते हुए भी अपने मन में एक विचित्र इच्छा को पाले हुए है "मैं कुछ भी न करूँगा, मैं केवल जानना चाहता हूँ स्त्री कितनी सुन्दर होती है। मैं स्त्री के आकर्षण को पूर्ण रूप से अनुभव करना चाहता हूँ।" इस पूर्णानुभूति के लिए वह शैल से नग्न होने की याचना करता है और शैल भी केवल इसलिए कि—"मृत्यु के मुख में फँसा हुआ यह लड़का जो बात कहता है, उसकी उपेक्षा कैसे की जाय"—नितान्त नग्न होकर खड़ी हो जाती है। श्री यशपाल ने 'देश-द्रोही' और 'मनुष्य के रूप' में भी ऐसे ही उत्तेजनापूर्ण क्षणों का इस समय वर्णन किया है। 'मार्क्सवाद' के लेखक के उपन्यासों की 'शव परीक्षा' की जाय तो उनमें शायद 'अर्थ' से अधिक 'काम' की ही प्रधानता मिलेगी।

श्री प्रकाशचन्द गुप्त के मतानुसार 'देश-द्रोही' में "राजनीति और रोमांस के रङ्गीन धागे लिपटे हैं कि उन्हें सुलझाना कठिन है। खन्ना की जीवन-कथा

राजनीति से उतनी प्रभावित नहीं, जितनी कि उसके यौन-सम्बन्धों से राजनीति केवल पृष्ठभूमि से सङ्गीत के रूप में निरन्तर गूँजती रहती है।" खन्ना का बलिदान भी यशपाल की 'कल्पना के चाँद'—साम्यवाद के लिए उतना नहीं जितना हाड़-माँस की चन्दा के लिए होता है। 'मनुष्य के रूप' में यशपाल ने प्रेम को जीवन-यापन की परिस्थितियों को सुविधाजनक बनाने के लिए किए जाने वाले आर्थिक सौदे के रूप में चित्रित किया है। धन्नासिंह ड्राइवर की पत्नी और अक्टेस पहाड़न के बीच सोभा के जो रूप हैं, वे आर्थिक परवशता से प्रताड़ित नारी के ही रूपान्तर हैं, जिसने प्रेम के नाम पर अपने शरीर का सौदा किया है।

श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के दोनों उपन्यासों—'गिरती दीवारें' और 'गरम राख' में मध्यवर्गी युवक की अतृप्त वासना का विस्फोट है। "चेतन को मलेरिया की तरह वासना का ज्वर इतना जल्द चढ़ता है कि वह अगर प्रकाशो को नल पर पानी भरते हुए देखता है तो उसे आलिंगन करने के लिए दौड़ पड़ता है, केसरी को देखता है तो एक लिजलिजी सी ठण्डक उसके शरीर में दौड़ जाती है और उसका जी चाहता है कि दीवार से टक्कर मारकर सर फोड़ ले।" चेतन की साली नीला बीमारी में उसे दूध पिलाने के लिए आती है तो एक विचित्र आनन्द भरी फुरफुरी सी उसके शरीर में उठने लगती है। 'अश्क' के नारी-पात्र विवाह के बंधन से नारी की मुक्ति का आह्वान करते हुए उन आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों को आँखों से ओझल कर देते हैं जो नारी की गुलामी के लिए विवाहजन्य यौन-वर्जनाओं से कुछ कम उत्तरदायी है। 'अश्क' की 'गरम राख' में भी जिन्दगी की गरमी नहीं, नारी के मांसल अङ्गों की गरमाहट है। उनकी सफलता मध्यवर्गीय जीवन की कुण्ठा, वेदना और विमूढ़ता को यथार्थ रूप से चित्रित करने में है।

श्री रांगेय राघव के 'घरोंदे' में "कालेज और होस्टल की रङ्गीन दुनिया में चलने वाली प्रणय कथाओं की राजनीति के धागे में पिरोई हुई लड़ी है।" श्री प्रकाशचन्द गुप्त के शब्दों में घरोंदे 'वयः सन्धि का उपन्यास' है। 'हुजूर' में तथाकथित भद्र वर्गीय नैतिकता एक कुत्ते की कट्टक्ति में है।

हिंदी के आधुनिक उपन्यासकार नारी के प्रति सदैव सलज्ज और सजग रहने वाली छुईमुई नैतिकता से मुक्त हो चुके हैं, परन्तु स्वस्थ काम-चेतना के आधार पर विकासशील व्यक्तित्व की विराट सम्भावनाओं को व्यक्त करने में असमर्थ सिद्ध हुए हैं। फ्रायड ने जीवन के विविध व्यापारों के मूल में निहित काम-प्रेरणाओं का उदघाटन किया है, परन्तु फ्रायड पंथी उपन्यास की कृतियों में

केवल यौन-व्यापार ही काम चेतना की चरम अभिव्यक्ति है। अज्ञेय का 'नदी के द्वीप', 'अश्क' का 'गरम राख' और यशपाल के 'मनुष्य के रूप' में वासना के उन्मादमय क्षणों की कामुक चेष्टाओं का जो विशद वर्णन किया गया है, वह एक प्रकार की रुग्ण रस लोलुपता की भावना से आक्रान्त है। श्री द्वारिका-प्रसाद ने 'घेरे के बाहर' में मानव की माँसभुक्ता के जो संश्लिष्ट चित्र अङ्कित किए हैं, वे एक उपन्यास की अपेक्षा कोक शास्त्र की शोभा अधिक बढ़ाने वाले हैं। (रांगेय राघव ने शरीर के साथ बराबर 'मांसल' शब्द का जो प्रयोग किया है, वह अकारण नहीं है।) इससे यह स्पष्ट है कि उपन्यासकार की दृष्टि नारी की अंग-भंगियों में उलझ कर रह गई है और वे समाज के द्वन्द्वात्मक विकास की मूल शक्तियों से परिचित नहीं हैं। केवल यौन-प्रतिबन्धों की दीवारें गिरा कर ही मानव की मुक्ति का महायज्ञ पूर्ण नहीं होगा। काम-चेतना मानव की अनेक विकासशील और सृजनशील प्रवृत्तियों के रूप में व्यक्त होती है। 'कामा-यनीकार' प्रसाद ने शायद आज के उपन्यासकार को लक्ष्य करके ही कहा है :—

पर तुमने तो पायी सदैव, उसकी सुन्दर जड़ देह मात्र।
सौन्दर्य-जलधि में भर लाये, केवल तुम अपना गरलपात्र।।

प्रगतिशील उपन्यासकार जीवन को समग्रता के साथ चित्रित करने का दावा करते हैं तो उन्हें नर-नारी के यौनाकर्षण को समाज की व्यापक पृष्ठभूमि पर चित्रित करना होगा। रेखा और भुवन का प्रेम चाहे वे कितनी ही सूक्ष्म संवेदनाओं का पुञ्ज क्यों न हों—सामाजिक परिवेश के अभाव में छायाओं का मूक अभिनय सा लगता है। अधिकांश उपन्यासकारों की दृष्टि मध्यम वर्ग तक ही सीमित रही है। मध्यम वर्ग के राजनैतिक मति-भ्रम ने उपन्यास में 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' बनाए हैं तो यौन-वर्जना से उत्पन्न विक्षोभ ने 'गिरती दीवारें' खड़ी की हैं। भारत का 'जन-गण' अब भी उपन्यास का पात्र नहीं वन सका है।

आपके जन-जीवन की समस्या केवल सेक्स की ही समस्या नहीं है। 'और भी दुःख हैं जमाने में मुहब्बत के सिवा' आपके उपन्यासकार की प्रगति-यात्रा अगर नारी के शयनागर पर आकर ही समाप्त हो गई तो 'कल्पना के चार' के बजाय 'टूटा हुआ शीशा' लेकर ही सन्तुष्ट होना पड़ेगा। हिन्दी का यह सौभाग्य है कि श्री यशपाल, नागार्जुन आदि प्रगतिशील उपन्यासकार कामुकता से मुक्त होकर जनता के शान्ति और समानता के सङ्घर्ष को चित्रित करने की ओर प्रवृत्त हो रहे हैं। [साहित्य-सन्देश, जुलाई-अगस्त १९५६।

———

हिन्दी उपन्यास में लोकरंजन के नये क्षितिज

[डा० रांगेय राघव]

एक ओर व्यक्तिवाद और दूसरी ओर साम्यवाद के सङ्घर्ष ने आधुनिक लेखकों का दृष्टिकोण किसी अंश तक सीमित अवश्य कर दिया है। इसका कारण यह है कि अभिव्यक्ति का मध्यमवर्गीय दृष्टिकोण आज शैली का एक अपना ऐसा रूप धारण कर गया है, जो जन साधारण के लिये कठिन सा बैठता है।

वर्त्तमान साहित्य का बुद्धिवादी हो जाना तो उसके इतिहास का विकास है। किन्तु एक बात हमें याद रखनी चाहिए कि संसार का महान साहित्य प्रायः ऐसा है जो अधिकांश की भाव भूमि पर प्रभाव डालने में समर्थ हो जाता है। किसी भी कला कृति को समझने और पढ़ने वालों का मानसिक स्तर एक ही नहीं हुआ करता। जिसका स्तर जैसा होता है, वह रचना विशेष में उतना ही अधिक आनन्द भी प्राप्त करता है। ऐसी ही रामायण की कथा है जो उदात्त भावनाएँ जगा कर भी लघुवेष्टनी के पाठक को अपनी घटनाओं की महानता से ही बाँध रखती है। हम बालकों तक को उसमें बड़ा आनन्द लेते हुए देखते हैं। स्वयं कवि गुरु कालिदास की किताबों से ही संस्कृत में पाठ्यारम्भ कराया जाता है। यह तुलसी के विषय में भी कहा जा सकता है। तालसताय और गोर्की जैसे प्रसिद्ध लेखकों में भी हमें एक आकर्षण मिलता है। शरद् में तो यह था ही कि वह चौदह वर्ष तक के मस्तिष्क को पकड़ लेते थे। हिन्दी में यह गुण प्रेमचन्द में था। यद्यपि सरलता ही साहित्य का एक मात्र गुण नहीं है, क्योंकि कामायनी सरल नहीं है, न मिल्टन की पैरेडाइज लॉस्ट, फिर भी इतना निर्विवाद है कि साहित्य में जो मूल गुण हैं उनमें से सरलता भी एक आवश्यक गुण है।

सरलता का माध्यम आकर्षण का गुरुत्व है। वह प्राप्त होता है तभी जब हम उदात्त भावनाओं को जाग्रत करने में समर्थ होते हैं। हिन्दी के आदिकालीन उपन्यासकारों में देवकीनन्दन खत्री की कलम में यही जादू था। उनकी विशेषता यह है कि अपने सारे तिलस्म, चकाचौंध और घटनाडम्बर में भी

उनके पात्रों की सजीव मानवीयता हमें सर्वत्र प्राप्त होती है। और सत् और असत् के सङ्घर्ष में हम अपने आप नायक पक्ष में खड़े हो जाते हैं। अपने इस पक्ष के कारण हमें उस साहित्य को पढ़कर हीनत्व का आभास नहीं होता। हल्का पठन है और फिर भी एक ताजगी देता है। कलाकार और युग के बदलते ही वही तिलस्मी विषय अपना औदार्य दुर्गाप्रसाद खत्री के हाथों में खोदेता है। इनके साहित्य में रोचकता है, किन्तु लोकरञ्जन का पक्ष नहीं है।

हिन्दी में हमें विशेषतया यह ध्यान रखना आवश्यक है कि हमारे पाठक दो प्रकार के हैं। मध्यम वर्ग में अधिक शिक्षित लोग जिस साहित्य की खोज में रहते हैं वह एक शैली विशेष का साहित्य है, किन्तु अधिकांश जनता का स्तर इतनी दुरूहता को नहीं समझता, और यही कारण है कि मैथिलीशरण गुप्त और वृन्दावनलाल वर्मा के साहित्य में उसकी रुचि का परिचय हमें अधिक मिलता है। इस प्रकार का साहित्य हिन्दी में वांछनीय है जिसमें सरलता भी है और कला पक्ष भी उजागर हो। शिक्षाप्रद साहित्य को उपदेशात्मक तो नहीं होना चाहिए, किंतु आवश्यकता इस बात की है कि हमें ऐसे साहित्य का सिर-जन करना चाहिए जिसमें शिक्षा अपने आप प्राप्त हो और लेखक अपनी कला के माध्यम से जनता के स्तर को पहले से तनिक ऊँचा करके छोड़े।

इसके लिए हमें यथार्थ की सीमा में ही कला की सारी अभिव्यक्तियों को बन्दी नहीं कर देना चाहिए। गुलीवर्स ट्रैविल, ऐरेह्वौन इत्यादि विचित्र कथाएँ, एलिस इन विन्डरलैंड, वाटर वेबीज जैसी आकर्षक रचनाएँ इस प्रकार के नये प्रयोगों के विख्यात उदाहरण हैं। क्या हिन्दी को ऐसी रचनाओं की आवश्यकता नहीं है?

आज लोकरञ्जन के लिये सस्ता जासूसी और हत्या षडयन्त्रों से भरा यौन साहित्य बिक रहा है। इन पुस्तकों के पढ़ने से हमारे पाठक किधर जाते हैं? परन्तु उधर उनके जाने का कारण? वे हल्का पठन चाहते हैं। हल्का पठन सुनकर भौंह तरेर कर देखने की आवश्यकता कदापि नहीं है। वे केशव की रामचन्द्रिका के स्थान पर तुलसी का रामचरितमानस चाहते हैं। आप दे सकते हैं? या आप भी इसका शोक करने को तैयार हैं कि आपके तोते तक जब संस्कृत में बोलते हैं तब आप हिन्दी में बोलें तो कैसे? मैं यह नहीं कहता कि कलाकार पर कोई बन्धन होना चाहिए। वह अपनी भावना, प्रेरणा के अनुकूल ही लिखे, किन्तु क्या वह एक बात भूल कर ठीक करेगा कि उसके साहित्य में चन्द्रकान्ता सन्तति का गुण नहीं रहे? आदर्श की अभिव्यक्ति केवल यथार्थ में नहीं होती, न पलायन में, वह तो भावभूमि के विकास में होती है,

जिससे यह देखा जायगा कि लेखक अपने पाठक को कितना 'धनी' (बुद्धि के रूप में समृद्ध) बना कर छोड़ता है। किसने नहीं सुना कि महमूद ग़ज़नवी की किंवदन्ती में उसके वज़ीर ने उल्लुओं की बातचीत के माध्यम से उसकी बर्बरता पर स्पष्ट प्रकाश डाल दिया था, जब उसने उल्लुओं को दहेज में खण्डहरों के बारे में विवाद करते हुए बताया था? व्यङ्ग की बात और है, और वह भी साहित्य का गुण है। उसे क्यों सब भूले जा रहे हैं! और उसे लेते भी हैं तो दुरूह बनाने में अपना गौरव समझते हैं?

हिन्दी उपन्यास को लोकरञ्जन के लिए क्षितिजों की आवश्यकता है, क्योंकि साहित्य का एक बहुत बड़ा गुण लोकरञ्जन भी है और वह एक आवश्यक गुण है। जो अपने स्तर का साहित्य पाने के अभाव में असत् भरे साहित्य की ओर अग्रसर होते हैं, युग की विषम व्यवस्था में पतित होने से रोकने का साधन क्या है? क्या आप उन्हें रोक सकेंगे या अपनी ऊँचाई से नीचे नही उतरेंगे? आप कलाकार हैं? युग का निर्माण करेंगे या पीछे बहेंगे? क्या सभ्यता के विकास में मानव के नये सीमान्तों का अङ्कन आपको नया उजाला नहीं दे रहा, जो समग्र जीवन को प्रतिविम्बित कर सके?

[साहित्य-सन्देश, जुलाई-अगस्त १९५६।

———

हिन्दी उपन्यास : पिछला दशक

[प्रो० देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र']

साहित्य की वर्त्तमान विधाओं में उपन्यास ही एक ऐसी विधा है जो आधुनिक जीवन की समस्याओं, संघर्षों एवं वस्तु स्थितियों की धड़कनों से सब से अधिक स्पन्दित हुई है। कहानी में क्योंकि जीवन के किसी एक खण्ड को लेकर ही लेखक चित्रण-समाधान करता है और कविता, प्रयोगवाद प्रारम्भ होने से, जन जीवन की विस्तीर्ण राहों को छोड़कर कुण्ठाओं तथा यौन वर्जनाओं की अँधेरी पगडण्डियों की ओर भटक गई अतएव उपन्यास पर ही युग-वास्तव के अंकन का दायित्व पड़ा है। देखना यह है कि स्वतंत्रता के बाद के उपन्यासों ने कहाँ तक इस जिम्मेदारी को निभाया है।

हर्ष का विषय यह है कि हिन्दी के औपन्यासिक क्षेत्र में पिछले दस वर्षों में आशातीत उपलब्धियाँ हुई हैं। आचार्य चतुरसेन, इलाचन्द जोशी, वृन्दावनलाल वर्मा, भगवती प्रसाद वाजपेयी, भगवतीचरण वर्मा, जैनेन्द्र कुमार, अश्क, यशपाल तथा अज्ञेय [1] आदि पुराने खेवे के उपन्यासकारों की रचनाएँ तो

---

[1] आचार्य चतुरसेन—वैशाली की नगर वधू, वयं रक्षामः, गोली, नरमेध तथा सोना और खून आदि।

इलाचन्द्र जोशी—मुक्तिपथ, जिप्सी तथा जहाज का पंछी।

वृन्दावनलाल वर्मा—कचनार, अचल मेरा कोई, मृगनयनी, भुवन विक्रम, माधव जी सिन्धिया, लगन तथा अमरबेल आदि।

भगवतीप्रसाद वाजपेयी—चलते-चलते, गुप्तधन, सूनीराह, खाली बोतल, पतवार पदार्थ से आगे आदि।

भगवतीचरण वर्मा—आखिरी दाँव आदि।

जैनेन्द्रकुमार—सुखदा, विवर्त्त तथा व्यतीत।

अश्क—गिरती दीवारें, चेतन, गर्म राख, बड़ी-बड़ी आँखें।

यशपाल—मनुष्य के रूप, अमिता, सिंहावलोकन आदि।

अज्ञेय—नदी के द्वीप।

इस बीच में प्रकाश में आई ही हैं, साथ ही अनेक नवीन प्रतिभाओं का भी इस ओर आशामय पदार्पण हुआ। कुछ प्रसिद्ध कवियों[२] ने भी उपन्यास की विधा को अपनी कृतियों से गौरवान्वित किया जिनमें सर्व श्री निराला, अंचल और उदयशङ्कर भट्ट का नाम विशेष रूप से स्मरणीय है, यद्यपि ये लोग स्वतंत्रता से पूर्व भी दो-दो एक-एक उपन्यास लिख चुके थे, फिर भी इनके उपन्यासों में युद्धोत्तरकालीन समाज की बनती बिगड़ती सांस्कृतिक मान्यताओं, आंचलिक तत्वों एवं वर्ग सङ्घर्ष की भावना को पूर्ववर्त्ती कृतियों की अपेक्षा अधिक बल मिला है।

नवीन उपन्यासकारों और उनकी कृतियों के विषय में हम आगे विवेचन करेंगे। सम्प्रति हमें यह देखना है कि पिछले खेवे के उपन्यासकारों की इन कृतियों में कहाँ तक पुरानी परिपाटी और कहाँ तक नवीन दिग्निर्देशन के (विषय तथा शैली दोनों ही रूपों में) तत्त्व मिलते हैं। आचार्य चतुरसेन शास्त्री तथा वृन्दावनलाल वर्मा दोनों ही हिन्दी के मान्य ऐतिहासिक उपन्यासकार हैं। शास्त्री जी की प्रतिभा ने यदि सुदूर अतीत के वैभव एवं पराभव का अपने दृष्टिकोण से सामाजिक तथा सांस्कृतिक दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया है तो वर्माजी ने मध्य प्रदेश के मध्ययुगीन इतिहास-परिप्रेक्ष्य को अपनी लेखनी का विषय बनाया है। शास्त्रीजी के चिन्तन पर ब्राह्मण विरोधी तथा आर्यसमाजी विचारधारा का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है अतएव उनके दृष्टिकोण में एकाङ्गिता आगई है, साथ ही उन्होंने अपने उपन्यासों—'वैशाली की नगर वधू' तथा 'वयं रक्षामः'—में इतिहास के विराट् सन्दर्भ को अपनी एकनिष्ठ धारा से निरखा-परखा है। उनमें एक कुशल कथाकार की असंदिग्ध प्रतिभा है। यही कारण है कि वे अपनी अद्‌भुत कल्पना प्रवण शक्ति के सहारे इतिहास के व्यापक-धरातल को चित्रित करने में सफल हुए हैं। शास्त्रीजी के उपन्यासों में कहीं-कहीं यदि शुद्ध ऐतिहासिकता है तो कहीं-कहीं अनावश्यक काल्पनिक व्यापार का प्रयोग मिलता है। उनके उक्त दोनों ही उपन्यासों में हमें स्थान-स्थान पर पंचतन्त्र और मित्रलाभ की कथा-पद्धति का सा प्रयोग दिखाई पड़ता है, जहाँ अनेक कथाएँ मूलकथा से आकर सम्पृक्त हो जाती हैं।

---

[२] निराला—बिल्लेसुर बकरिहा।
अंचल—नई इमारत, मरु प्रदीप।
उदयशङ्कर भट्ट—नए मोड़, सागर लहरें और मनुष्य तथा एक नीड़ दो पंछी।

वर्माजी के उपन्यासों में ऐतिहासिकता और कथा-निर्माण के तत्व शास्त्रीजी की अपेक्षा अधिक सुन्दर रूप से मिश्रित हुए हैं। 'मृगनयनी' में उन्होंने 'झाँसी की रानी' की सदोषता से मुक्त होने का स्तुत्य प्रयास किया है, फलतः यह उपन्यास हमें 'झाँसी की रानी' की भाँति इतिहास के नीरस तत्वों का कथात्मक प्रक्षेपण जैसा प्रतीत नहीं होता है। 'अमरवेल' उनका सामाजिक उपन्यास है जिसमें उन्होंने यह बताया है कि आज पुरानी मान्यताओं और जीर्ण संस्कृति का पुजारी बुर्जुआवर्ग किस प्रकार युग-निर्माण की नई पौध के ऊपर अमरवेल की तरह फैल गया है जो न तो उसको हरा भरा होने देता है और न किसी नवीन संस्कृति के प्राणवान् झकोरों से आन्दोलित ही होने देता है। वर्माजी ने अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में भी यथाशक्य चेष्टा यही की है कि उनके उपन्यासों का अतीत, वर्तमान के संघर्षों तथा समाधानों से दूर नहीं जा पड़े। वीरता, साहसिकता, पवित्र प्रेम, कला-निष्ठा तथा आत्मविकास के लिए निरंतर जीर्ण-शीर्ण सामाजिक मर्यादाओं के विरोध में सबल क्रान्ति करना आदि अनेक जीवन दृष्टिकोण हमें उनकी ऐतिहासिक तथा सामाजिक सभी औपन्यासिक कृतियों में प्रचुर रूप से उपलब्ध होते हैं।

जैनेन्द्र तथा इलाचन्द जोशी के उपन्यासों का भी पिछले दशक के अन्य महत्त्वपूर्ण औपन्यासिक प्रकाशनों में अग्रणी स्थान रहा है। इन दोनों ही उपन्यासकारों के साथ हम 'अज्ञेय' जी का भी उल्लेख करेंगे। प्रस्तुत लेखकों में हम मनोवैज्ञानिक सन्निद्धि (Psychological Approach) के व्यक्तिगत रूपों को लेकर चलेंगे। जैनेन्द्र का अपना प्रारम्भ से ही जो गान्धीवादी जीवन-दर्शन रहा है, उनके उत्तरवर्त्ती उपन्यासों में द्रष्टव्य है। 'सुनीता' तथा 'कल्याणी' की परम्परा का विकास ही उनके सुखदा' 'विवर्त्त' तथा 'व्यतीत' में मिलता है। जैनेन्द्र की प्रतिभा ने जीवन वास्तव की विस्तृत भूमि की अपेक्षा मनोजगत के घात-प्रतिघातों की प्रबल गहराइयों का ही विश्लेषण किया है। साहित्य में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का अपना अलग-अलग और महत्त्वपूर्ण स्थान है परन्तु यह साधन है साध्य नहीं। आज का युग अनेक प्रकार की सामाजिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक हलचलों का युग है। उपन्यासकार का दायित्व भी इस संक्रान्तिकाल में पहले से अधिक नाजुक तथा व्यापक हो गया है। हम गांधीवाद के मानवतावादी दृष्टिकोण पर आपत्ति नहीं करते क्योंकि अन्त में उसकी चरमपरिणति भी ऊँच-नीच के भेदों के विघटन तथा समतावादी समाज के निर्माण में ही हो जाती है, परन्तु गान्धीवाद के आत्म-दमन Self-Supression का यह आशय कभी नहीं रहा जैसा कि जैनेन्द्र के उपन्यासों में रहा है।

जहाँ पर कि नायिका पति के स्थान पर किसी अन्य व्यक्ति में अनुरक्त है और पति यह सब जानकर भी खामोश है। जैनेन्द्र की नायिकाओं के पतियों का ('सुखदा' तथा 'विवर्त्त' के क्रमशः कान्त तथा नरेश) चरित्र घोर अमनोवैज्ञानिक प्रकार का है। समाज में इस प्रकार के त्यागी तथा तपस्वी व्यक्ति कम ही बल्कि 'न' के बराबर मिलेंगे जो अपनी पत्नी के अपहरण करने वाले व्यक्ति को मुक्त करदे तथा उसके प्राण संकट में पड़े देखकर उसकी रक्षा के लिए प्रयत्न करे—विवर्त्त में जितेन की रक्षा के लिए भुवनमोहिनी के पति नरेश ने ऐसा ही किया है। इस प्रकार का त्याग तो मर्यादापुरुषोत्तम राम में भी नहीं मिलता जिन्होंने रावण से युद्ध किया। आदर्शवादी पण्डित भले ही इसकी व्याख्या इस प्रकार करलें कि राम ने कुमार्ग पर जाते हुए रावण की हत्या सद्धर्म की स्थापना के लिए की, परन्तु हमारे मत से इसमें लोकशील की रक्षा के साथ मनोवैज्ञानिक कारण भी अत्यन्त प्रमुख था। इलाचन्द जोशी के 'मुक्तिपथ' का नायक 'राजीव' भी इसी प्रकार की श्रेणी का है। वह समाज के नव-निर्माण के लिए लम्बे-लम्बे भाषण भी देता है तथा सक्रिय कदम उठाने का भी यत्न करता है किन्तु वह यह भूल जाता है कि समाज के निर्माण में परिवार–का दूसरे शब्दों में नारी (पत्नी) की भी कुछ अपेक्षा होती है। सुनन्दा से यहीं उसका मतैक्य नहीं हो पाता, परिणामस्वरूप वह उसका सङ्ग छोड़कर चली जाती है और राजीव 'सुनन्दा लौट आओ, सुनन्दा लौट आओ' कहता ही रह जाता है। 'जहाज का पंछी' उपन्यास भी इस दुर्बलता का शिकार है, यद्यपि लेखक ने कलकत्ता में जीवन-वास्तव को उपन्यास में पर्याप्त कुशलता से चित्रित किया है, तथापि वह मनोविश्लेषण की भूल-भुलैयों में भटककर अपने उद्देश्य की व्यापकता से दूर हो जाता है। 'अज्ञेय' का 'नदी के द्वीप' भी इसी वर्ग के उपन्यासों में गणनीय है। गौरा, भुवन और रेखा इन तीन पात्रों के इर्द-गिर्द ही सम्पूर्ण कथानक मँडराता रहा है। इलाचन्द जोशी में यद्यपि मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की ओर झुकाव है फिर भी वह समाज की ओर से आँखें नहीं मूँद लेते। खेद है कि अज्ञेय का दृष्टिकोण अत्यन्त वैयक्तिक, घोर असामाजिक एवं कुण्ठाग्रस्त है। उनके पिछले उपन्यास 'शेखर' में भी यही प्रवृत्ति देखने को मिलती है।

वस्तुतः आज के उपन्यासों में यह सर्वथा वैयक्तिक दृष्टिकोण ही गतिरोध की आशङ्काएँ उपस्थित कर देने वाला है। आज का प्रबुद्ध पाठक, जो निरी भावुकता या मानस ग्रन्थियों के विश्लेषण को ही साहित्य की अन्तिम उपलब्धि स्वीकार नहीं कर पाता, इन उपन्यासों की असामाजिकता की ओर अत्यन्त

सन्देहपूर्ण दृष्टि से देखता है। समाज-निरपेक्ष विचारधारा कभी मानव-जीवन के लिए हितकर सिद्ध नहीं हो सकती। उपर्युक्त तीनों उपन्यासकारों में व्यक्तिगत चिन्तन के भार से दबे हुए पात्रों के जीवन को रूपायित करने की प्रवृत्ति अधिक रही है। अज्ञेय का मन भुवन, रेखा तथा गौरा के अन्तर्जागतिक द्वन्द्वों तथा काश्मीर की झीलों के वर्णन तथा रूमानी वाक्यावली में अपरितृप्त यौन तृषाओं के विवरण देने में अधिक रमा है, जोशी में सौभाग्यवश यह नग्नता अज्ञेय के समान 'सोलोमन के गीतों की गूँज' के रूप में अभिव्यक्त नहीं हुई। 'नाविल एण्ड द मैन' के लेखक फॉक्स का इस प्रकार असामाजिक कला सृजन के विरुद्ध तीखा विरोध रहा है, वह उसे कला की छाया तक स्वीकार करने में असमर्थ है। उसके मतानुसार वही कला श्रेष्ठ है जिसमें अधिक से अधिक सामाजिक तत्वों का उद्घाटन किया गया हो।

अब हम भगवतीप्रसाद वाजपेयी, अंचल, भगवतीचरण वर्मा 'अश्क' तथा यशपाल की औपन्यानिक उपलब्धियों की ओर चलते हैं। इस वर्ग के लेखक व्यापक रूप से समाज की चेतना को अपना विषय बना कर चले हैं। वर्त्तमान समाज की असङ्गतियों, वर्ग विषमता, पूँजीवाद के विघटन तथा नवीन सांस्कृतिक मूल्यों के स्थापन की ओर इन लेखकों की जागरूक चेष्टा है, इन्होंने यौन वर्जनाओं के अनपेक्षित विस्तार क्षेत्र से अपनी दृष्टि उठा कर समाज की व्यापक, अखण्ड तथा विकासोन्मुख दिशाओं की ओर देखा है! वाजपेयी तथा अंचल के उपन्यासों में पुरानी बूर्जुआ संस्कृति के विरोध में प्रबल स्वर सुनाई पड़ते हैं। इनमें अंचल का दृष्टिकोण अत्यन्त तीखा तथा ध्वंसात्मक रहा है।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के उपन्यासों में भी यथार्थवादी विचार-धारा का विकास हुआ है। 'गिरती दीवारें' में लेखक ने मध्यवर्गीय समाज की वैरस्यपूर्ण खण्डितता खोखले आदर्श एवं प्रगति विरोधी तत्त्वों का पर्दाफाश किया है। इस उपन्यास का नायक 'चेतन' मध्यवर्गीय परिवार का शिक्षित युवक है जिसके व्यक्तित्व के चारों ओर वे सभी समस्यायें घिरती रहती हैं। 'गर्म राख' में यह यथार्थवादी दृष्टिकोण पूर्ववत् बना रहा है किन्तु उसका नायक 'जगमोहन' एक सङ्घर्षशील युवक के रूप में हमारे सामने आता है। चेतन अन्तर्मुखी होकर इस सामाजिक अव्यवस्था को देखता है तो जगमोहन स्वयं उसके विवर्त्त में घुसकर उसकी तहों तक का निरीक्षण करने में सफल हुआ है। 'बड़ी-बड़ी आँखें' शीर्षक उपन्यास में लेखक का दृष्टिकोण यथार्थपरक कम एवं आदर्शोन्मुख अपेक्षतया अधिक हो गया है।

'यशपाल' के विषय में आलोचकों ने प्रायः उसी प्रकार आरोपपूर्ण निर्णय दिये हैं जैसे अंचल की कविता को उन्होंने घोर यौनवादी कहकर उसके सृजनात्मक तत्त्वों की अवहेलना की। वस्तुतः यशपाल के उपन्यासों में मार्क्स तथा फ्रायड के दोनों ही आत्यन्तिक दृष्टिकोणों का समन्वय दर्शनीय है। यशपाल ने विद्रोह और काम दोनों ही पक्षों का संतुलित एवं सापेक्ष विश्लेषण किया है। यशपाल के उपन्यासों में अज्ञेय और जैनेन्द्र जैसी प्रवृत्ति नहीं है जहाँ पर खुलकर नग्नवाद का विवेचन किया जाये—यद्यपि उनके पूर्ववर्त्ती उपन्यासों में कहीं-कहीं ऐसा हुआ है। फिर भी जैनेन्द्र तथा अज्ञेय को हम केवल वैयक्तिक यातनाओं का कलाकार कह सकते हैं जबकि यशपाल का क्षेत्र सर्वथा निर्वैयक्तिक तथा उसकी एप्रोच भी सामाजिक रही है। यशपाल के इधर के उपन्यासों के विषय में इतना अधिक कहा जा सकता है कि उनके पात्र राजनैतिक समस्याओं पर भड़काने वाले भाषण अत्यन्त प्रभावोत्पादक रूप से दे सकते हैं परन्तु बौद्धिक विचार के क्षेत्र में उनके पात्र प्रायः असफल ही हुए हैं। वर्माजी के उपन्यासों में हमें सामाजिक तथा राजनैतिक यथार्थवाद का सफल चित्रण उपलब्ध होता है।

नवीन औपन्यासिक उपलब्धियों को देखने से यह ज्ञात होता है कि कविता तथा नाटकों की अपेक्षा इस विधा का अधिक विकास हुआ है। जो लोग यह कहते हैं कि कविता की भाँति उपन्यास के क्षेत्र में भी गतिरोध हुआ है, वे या तो इधर के उपन्यासों के अध्ययन से वंचित रहे हैं या फिर उनका इस प्रकार का निर्णय पूर्वाग्रह-ग्रस्त रहा है। वास्तव में गतिरोध उक्त आलोचकों के दृष्टिकोण में है जिसके कारण उन्हें साहित्य की सतत प्रगतिशील उपलब्धियाँ दिखाई नहीं पड़ी हैं। डा० देवराज का कथन है कि हिन्दी में गोदान के पश्चात कोई श्रेष्ठ उपन्यास नहीं लिखा गया है—सर्वथा भ्रामक है। इस दृष्टि से उन्हें नागार्जुन[1], रांगेय राघव, लक्ष्मीनारायण लाल, रुद्र, अमृतराय,

---

[1] नागार्जुन—बलचनमा, बाबा बटेसरनाथ, नई पौध तथा वरुण के बेटे।

रांगेयराघव—काका, हुजूर, लोई का ताना, रत्ना की बात, यशोधरा जीत गई, भारती का सपूत, देवकी का बेटा।

'लाल'—काले फूल का पौधा, बया का घोंसला, साँप।

'रुद्र'—बहती गङ्गा।

अमृतराय—नागफनी का देश, बीज।

अमृतलाल नागर—बूँद और समुद्र।

अमृतलाल नागर, धर्मवीर भारती, प्रभाकर माचवे तथा राजेन्द्र यादव, रजनी पन्निकर तथा 'चन्द्र' तथा देवेन्द्र सत्यार्थी के उपन्यासों का अध्ययन करने के लिए मेरी विनम्र सलाह है। इन उपन्यासकारों की कृतियों को देखने से पता लगता है कि आज का हिन्दी का उपन्यास अपनी प्रगति की गति में कितना आगे बढ़ आया है ? प्रस्तुत औपन्यासिकों के साथ ही फणीश्वरनाथ 'रेणु'[१] का उल्लेख करना बहुत आवश्यक है जिनके उपन्यासों में प्रेमचन्द की परम्परा को विकास मिला है।

नागार्जुन के उपन्यास अपने में पूर्ण, सर्वथा मौलिक एवं नवीन दिशाओं की स्थापना करने वाले हैं, जो एक पृथक समीक्षा के विषय हैं। अब तक नागार्जुन के पाँच उपन्यास प्रकाशित हुए हैं जिनमें 'रतिनाथ की चाची' उनकी प्रथम कृति है। यह उपन्यास १९४७ से पूर्व ही प्रकाशित हो चुका था अतः इसके विषय में यहाँ कुछ कहना समीचीन नहीं होगा। नागार्जुन वर्तमान युग के सजग प्रहरी हैं। उनके उपन्यासों में जीवन वास्तव का विशद विवेचन किया गया है। उनके उपन्यासों में प्रमुख रूप से चार तत्व पाए जाते हैं—

१—जीवन की व्यापकता और सम्पूर्णता का प्रतिनिधित्व,
२—यथार्थवाद की सामाजिक आधार पर स्थापना,
३—नवीन शिल्प की ओर आग्रह,
४—जनवादी तत्वों में आस्था।

प्रेमचन्द तथा उनके समकालीन उपन्यासकारों का दृष्टिकोण यथार्थवादी था किन्तु उन्होंने आदर्शवाद के अंचल को भी नहीं छोड़ा। कौशिक की माँ तथा भिखारिणी में यही आदर्शवाद है। प्रसाद के 'कंकाल' जैसे ठेठ यथार्थवादी उपन्यास में भी आदर्श के तत्व प्रच्छन्न रूप से विद्यमान हैं। प्रेमचन्द का होरी समाज से वर्गविषमता को दूर करना चाहता है किन्तु गान्धीवादी तरीकों

भारती—गुनाहों का देवता, सूरज का सातवाँ घोड़ा।
माचवे—साँचा, परन्तु आदि,
राजेन्द्र यादव—प्रेत बोलते हैं, उखड़े हुए लोग।
रजनी पन्निकर—प्यासे बादल, मोम के मोती, ठोकर, काली लकड़ी आदि।
यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र—पथहीन, मिट्टी का कलङ्क, सन्यासी, सुन्दरी आदि।
देवेन्द्र सत्यार्थी – रथ के पहिये, ब्रह्मपुत्र तथा कठपुतली आदि।
[१] फणीश्वरनाथ 'रेणु'—मैला आँचल, परती परिकथा।

से। वह अन्त तक अपने इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए सङ्घर्षरत रहता है, परन्तु उसे स्थान-स्थान पर परिस्थितियों से समझौता करना पड़ा है। नागार्जुन का 'बलचनमा' होरी की भाँति समझौतावादी नहीं है। वह अपने आदर्शों के लिए टूट सकता है किन्तु झुकता नहीं है—यहीं पर नागार्जुन ने प्रेमचन्द की परम्परा को आगे बढ़ाया है। भूमिसङ्घर्ष, किसानों की समस्या, उनका सामन्ती तथा जमीदारी प्रथा के विरुद्ध तीव्र होता हुआ आक्रोश, सरकार की बाँध निर्माण योजना में शिथिलता, मैथिल समाज में प्रचलित कुरीतियाँ तथा बढ़ते हुए जानवादी आन्दोलन की विजय ही नागार्जुन के उपन्यासों का विवेच्य विशेष बना है। विषय की दृष्टि से ही नहीं प्रत्युत अभिव्यक्ति के क्षेत्र में भी नागार्जुन ने अभूतपूर्व प्रयास किए हैं। उनके उपन्यास आकार में जितने लघु हैं उतने ही प्रभावोत्पादकता में तीव्र। भाषा, वाक्य तथा मुहावरों की दृष्टि से लेखक ने हिन्दी को अपनी कृतियों से गौरवान्वित किया है। उनके उपन्यासों में लोक कथा की पुरानी परम्परा का पुनर्नवीनीकरण हुआ है। 'बाबा बटेसरनाथ' इस दृष्टि से सफल रचना है। 'वरुण के बेटे' में लेखक ने उदयशङ्कर भट्ट[1] की भांति मछुहारों के जीवन का सजीव वृत्त उपस्थित किया है। इसी धारा का विकास हमें रुद्र तथा रेणु के उपन्यासों में भी मिलता है। 'रेणु' ने अपने उपन्यासों में उसी क्षेत्र का वर्णन किया है जहाँ के नागार्जुन हैं, फिर भी रेणु का 'मैला आँचल' 'गोदान' अथवा 'बलचनमा' के समान औपन्यासिक क्षेत्र में प्रकाश स्तम्भ नहीं बन सका। उनका दृष्टिकोण अपनी इस कृति को सर्वथा आंचलिक बना देना ही रहा है। इस उपन्यास में यद्यपि कथातत्त्व यत्किंचिन्मात्रा में प्राप्त होता है परन्तु 'परती परिकथा' जिसे कतिपय समीक्षक विश्व का श्रेष्ठ उपन्यास कहते हैं इस दृष्टि से एक शिथिल और 'ऊब' पैदा करने वाली रचना है। उपन्यास में विचारपक्ष होना तो अत्यन्त आवश्यक है किन्तु हम उसके कथातत्व की भी उपेक्षा नहीं कर सकते। इस विषय में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत विशेष रूप से उल्लेखनीय है।[2] अभी हाल में

[1] सागर लहरें और मनुष्य।

[2] हमारे देश के उपन्यासों में यथार्थवादी झुकाव तो पाया जाता है, किन्तु यथार्थवाद का जो वास्तविक मर्म है—अर्थात् आगे बढ़ते हुए ज्ञान और पीछे के आदर्शों से चिपटी हुई आचार परम्परा इन दोनों के व्यवधान को पाटते रहने का निरन्तर प्रयत्न—वह कम उपन्यासकारों के पल्ले पड़ा। दुर्भाग्यवश अपने देश के कम लेखकों ने इस व्यवधान के स्वरूप को समझने का प्रयास किया है। —डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

रूसी तथा योरोपीय उपन्यासों में एक नवीन परम्परा चल पड़ी है जहाँ कथा का नायक कोई स्थान विशेष हुआ करता है, 'मैला आँचल' तथा 'बहती गङ्गा' इसी परम्परा के प्रतीक माने जा सकते हैं।

रांगेय राघव ने अपने उपन्यासों में अनेक नवीन प्रयोग किए हैं। उनके कुछेक उपन्यासों में ऐतिहासिक साहित्यिक जीवन वृत्तों को आँका गया है तो कुछ सामाजिक और कुछ काफी हद तक आंचलिक क्षेत्र के प्रतिनिधि उपन्यास हैं। सामाजिक उपन्यासों में 'हुजूर' इसी कोटि का उपन्यास है जिसमें लेखक ने एक कुत्ते के द्वारा बुर्जुआ संस्कृति के खोखले आदर्शों तथा समाज की डगमगाती हुई मान्यताओं पर निर्मम प्रहार कराया है। इस दृष्टि से किशनचंदर का 'एक गधे की आत्मकथा' शीर्षक उपन्यास भी उल्लेखनीय है। 'कब तक पुकारूँ' लेखक का आंचलिक उपन्यास है। इस उपन्यास की भाषा से भी वही शिकायत है जो कि हिन्दी के अन्य आंचलिक उपन्यासों से है। प्रायः लेखक आंचलिकता का पुट देने के लिए भाषा में नवीन प्रयोगों की सीमाएँ लाँघ जाते हैं। अहिन्दी प्रान्तों के हिन्दी-पाठकों के लिए इस प्रकार की भाषा दुर्बोध बन जाती है। एक ओर तो इन आंचलिक भाषाओं से परिचित पाठकों को रसात्मक आनन्द मिलता है तो दूसरी ओर ये ही अंश पाठकों के एक वर्ग को उबाने वाले हो जाते हैं। मेरी राय में तो आंचलिक उपन्यासों को आद्योपान्त तदांचलिक भाषाओं में ही लिखा जाए तो अधिक उचित होगा, अपेक्षाकृत इसके कि उसमें खड़ी बोली तथा अंचलों की बोली की एक खिचड़ी पकादी जाए।

उपन्यास साहित्य के सिंहावलोकन में यदि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत 'वाणभट्ट की आत्मकथा' का उल्लेख न किया जाए तो कदाचित् लेख को सबसे महत्वपूर्ण औपन्यासिक कृति से वंचित होना पड़ेगा। यह उपन्यास हिन्दी की एक 'क्लासिक' रचना है जिसमें एक ओर तो लेखक ने 'हर्ष चरित' और 'कादम्बरी' की शैली को हिन्दी में रूपायित किया है तो दूसरी ओर भारतीय संस्कृति की गरिमा और उसके आदर्शों की रक्षा भी की है। एक ओर यदि संस्कृति तथा शालीन प्रेम की भव्यता को लेखक ने चित्रित किया है तो दूसरी ओर अपनी शैली के माध्यम से वाणभट्ट की शैली की यत्र-तत्र प्राप्त शिथिलता का भी परिचय दिया है।

वस्तुतः आज के उपन्यासकार के दृष्टिबोध में और अधिक वास्तविकता, गहनता तथा व्यापकता की आवश्यकता है। उपन्यास में न तो हमें केवल

आदर्शों की व्यक्तिगत नारे बाजी ही करनी है और न उसके बाह्य शिल्प विधान मात्र के प्रयोग से उसकी आत्मा को कुण्ठित करना है। आज इन बिखरे हुए दृष्टिकोणों को एक सूत्रता में आबद्ध करके महाकाव्योचित जीवन की समग्रता का अंकन करने की जरूरत है। जीवन एक खण्ड नहीं है अपितु अनेक खण्डों का एक समूह है। जब इन खण्डों को समग्ररूप से उपन्यासकार अपनी प्रतिभा का विषय बनाएँगे तभी उनमें जीवन साहित्य की सर्जना करने की सामर्थ्य आ सकेगी। फिर भी यदि कोई आज हिन्दी वालों से पूछे तो निःसंकोच भाव से कह सकते हैं कि 'गोदान' के बाद भी हिन्दी में[1] सागर लहरें और मनुष्य, चलते चलते, जहाज का पंछी, बूँद और समुद्र, बलचनमा, गिरती दीवारें, मनुष्य के रूप, बाणभट्ट की आत्मकथा तथा 'कब तक पुकारूँ' जैसे श्रेष्ठ उपन्यासों की रचना हुई है। यह हर्ष की बात है कि आज का हिन्दी-उपन्यास बुर्जुआ संस्कृति के सामन्तों और प्रतिक्रियावादी लेखकों के फौलादी शिकंजे से बाहर निकल कर नागार्जुन और डा० रांगेयराघव जैसे जनवादी समर्थ कलाकारों के पोषण संवर्द्धन में बढ़कर प्रेमचन्द की बनाई हुई राहों को दिन प्रतिदिन प्रशस्त करता जा रहा है। अन्त में हम फिर एक बार इस बात को गर्व पूर्वक कह सकते हैं कि स्वतन्त्रता के पश्चात् हिन्दी साहित्य के औपन्यासिक क्षेत्र में आशातीत संवृद्धि हुई है जिससे 'उपन्यास में गतिरोध' तथा 'गोदान के बाद उपन्यास शब्द समाप्त हो जाता है' आदि के भ्रमपूर्ण नारों की निस्सारता का पर्दाफश हुआ है।

[साहित्य-सन्देश, जनवरी १९५८

---

[1] सागर, लहरें और मनुष्य—श्री उदयशङ्कर भट्ट
चलते चलते—श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी
जहाज का पंछी—श्री इलाचन्द जोशी
बूँद और समुद्र—श्री अमृतलाल नागर
बलचनमा—श्री नागार्जुन
मनुष्य के रूप—श्री यशपाल
गिरती दीवारें—श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क'
बाणभट्ट की आत्मकथा—श्री डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
कब तक पुकारूँ—डा० रांगेय राघव
परती परिकथा—फणीश्वरनाथ 'रेणु'।

हिन्दी उपन्यास : १९५९

[डा० राजेश्वर गुरु]

हिन्दी में उपन्यासों के अनुवाद की राह विभिन्न भारतीय एवं विदेशी भाषाओं का साहित्य स्थान पाता चला आ रहा है। इस प्रकार जहाँ संसार के विभिन्न साहित्यों से हमें परिचित होने का अवसर मिल रहा है, वहाँ हम देश की विभिन्न भाषाओं के साहित्य की श्रेष्ठ कृतियों को हिन्दी में लाकर पारस्परिक हार्दिकता का वातावरण भी बना रहे हैं।

अनुवादों के रूप में अभी तक हम बँगला, गुजराती एवं मराठी के उपन्यासों से परिचित हो चुके हैं। अब दक्षिण भारत के भी उपन्यासों से परिचय का अवसर मिल रहा है। आरिगपूडि की अनेक कृतियाँ इस बीच सामने आई हैं, जिसमें 'पतित पावनी', 'अपने पराये', 'अपनी करनी' प्रमुख हैं। आरिगपूडि आज के समाज के वास्तविक रूप को बड़ी कुशलता से चित्रित करते हैं। वर्तमान समाज की पृष्ठभूमि पर नारी के जीवन-वैविध्य के वे बड़े कुशल चितेरे हैं। गुजराती से झवेरचन्द्र मेधाणी, धूमकेतु एवं रमणलाल देसाई की ऐतिहासिक और सामाजिक कृतियाँ अनूदित हुई हैं। मराठी से साने गुरुजी, पेंडसे एवं फड़के की कृतियाँ अनुवाद रूप में आई हैं। बङ्गाली से भवानी भट्टाचार्य की बहुचर्चित पुस्तक का अनुवाद 'शेर का सवार' के नाम से हुआ है।

विदेशी भाषाओं के अनुवादों में कुछ कृतियाँ नोबुल पुरस्कार विजेताओं की हैं। नट् हेमसन की 'भूख' एवं अर्नेस्ट हैमिंग्वे की 'सागर और मनुष्य' ऐसी ही रचनाएँ हैं। दोनों में चित्रण की सजीव-स्वाभाविकता हृदयस्पर्शी है।

अन्य कृतियों में एमिली ब्राटे को प्रसिद्ध कृति का 'आग जो बुझी नहीं' नाम से, स्टीफेन ज्विग को 'विराट' नाम से, मोबी डिग का 'लहरों के बीच' नाम से, फामिदेव की 'पराजय' नाम से, आइवन हो और रोबिन हुड के 'वीर सिपाही' और 'रोबिन हुड' के नाम से, राइटर हैगर्ड की 'शी' का 'रहस्यमयी' नाम से, हार्दन के 'स्कार्लेट लैटर' 'कलङ्क' नाम से, तुर्गनेव के दो लघु उपन्यासों

का 'मेरा पहला प्यार' नाम से, ड्यूमा की दो कृतियों का 'कलाकार कैदी' और 'कैदी की करामात' नाम से, बालजक का 'क्या वह पागल था' नाम से एवं डिकिन्स के 'डेविड कापरफील्ड' शामिल हैं। अनुवादों की ओर हिन्दी के समर्थ लेखकों की दृष्टि गई है। इस बात का प्रमाण यह है कि कुछ अनुवाद शिवदानसिंह चौहान एवं रामनाथलाल सुमन के किए हुए हैं।

मौलिक रचनाओं की दृष्टि से यह वर्ष पर्याप्त उर्वर रहा है। मोहनलाल महतो वियोगी कवि और उपन्यासकार के रूप में जाने-माने कलाकार हैं। वर्षों बाद उनकी कृति 'विषपान' देखने को मिली है। उपन्यास में परतन्त्रता युगीन समाज का चित्रण है। विषय सामाजिक है—अनमेल विवाह की समस्या को लेकर, लेकिन शैली मनोविश्लेषणात्मक है। परिपक्व लेखनी के सर्वत्र दर्शन होते हैं। चतुरसेन शास्त्री एवं उदयशङ्कर भट्ट हिन्दी के सिद्धहस्त कथाकार हैं। बिगत दिनों में उनकी लेखनी बड़ी सक्रिय रही है और विभिन्न विषयों को लेकर उन्होंने बड़ी मनोरञ्जक कथाओं को उपन्यासों का तानाबाना प्रदान किया है। चतुरसेन शास्त्री ने ऐतिहासिक, सामाजिक और रोमाण्टिक कथाएँ लिखी हैं। वर्णन की ओजस्विनी शैली उनकी अपनी है। उनके दो नये उपन्यास 'उदयास्त' और 'खग्रास' हैं। 'उदयास्त' की कथा देशी रियासतों के उत्कर्षोपकर्षों की कहानी है। राजमहलों की कथाओं को हिन्दी में चतुरसेन शास्त्री से अच्छा चित्रित करने वाला दूसरा कलाकार नहीं है। उनकी सुप्रसिद्ध कहानी 'दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी' में वर्णन का जो वैभव सर्वत्र बिखरा पड़ा है और रोमांस का जो वातावरण बड़े निखार के साथ उसमें व्यक्त हुआ है, वह उनके 'खग्रास' को छोड़कर सभी उपन्यासों में मिलता है। हाँ, यहाँ आकर दृष्टि में पैनापन और यथार्थ की सजीवता-सार्थकता के साथ व्यक्त करने की अतिरिक्त क्षमता मिलती है। 'उदयास्त' में रियासत 'राजगढ़' के राज-वैभव का यथार्थवादी चित्रण महाराज से लेकर अदना नौकर तक के माध्यम से किया गया है। प्रकारान्तर से कुछ ऐसी घटनाएँ भी मूल कथा के साथ जोड़ दी गई हैं, जो आज के जीवन के अनेक पक्षों पर प्रकाश डालती हैं। चतुरसेन शास्त्री प्रेमचन्द युगीन लेखक हैं, जिनकी कृतियों में कथा रस अनिवार्य रूप से मिलता है। इस उपन्यास की अतिरिक्त विशेषता उनके सजीव चरित्राङ्कन हैं।

अपनी बहु-प्रयुक्त शैली से किंचित भिन्न-कथा के रूप में भी और कहने के रूप में भी—चतुरसेन शास्त्री की नवीनतम कृति 'खग्रास' है। कहा जाता है कि

हर उपन्यासकार अपने जीवन में कम से कम एक बार कथा के माध्यम से जीवन की अन्तिम गहराइयों में जाकर उसके आन्तरिक रहस्यों को सामने रखना चाहता है। इस प्रकार की कृति स्वभावतः ही आध्यात्मिक रङ्ग लिए हुए होती है, जीवन के अन्तिम सत्यों की खोज में निरत रहने के कारण दार्शनिकता का एक स्पर्श उसमें सर्वत्र विद्यमान रहता है। चतुरसेन शास्त्री का प्रयत्न 'खग्रास' में जीवन की गहराइयों की छानबीन का है। इस काम में विज्ञान ने उनकी बड़ी मदद की है। कथा के विकास में राकेट ने बड़ी सुविधाएँ प्रदान की हैं। इनके माध्यम से, विज्ञान की सुविधाओं के माध्यम से कथाकार ने मानवीय सहानुभूति के जनसामान्य पथ पर चरण रक्खे हैं। खग्रास के सम्बन्ध में लोगों का आरोप है कि घटनाओं की उलझनें एक ओर कथा-रस में बाधक हुई हैं, दूसरी ओर चरित्र-विकास में। क्या विज्ञान की प्रगति के पथ पर इन्सान की वैयक्तिकता एकदम अदृश्य हो जाने को है? फिर भी 'खग्रास' अपने ढङ्ग का अनूठा प्रयोग है, हिन्दी में अपने ढङ्ग का पहला।

इसी प्रकार उदयशङ्कर भट्ट की दो कृतियाँ सामने आई हैं। एक है 'लोक-परलोक' और दूसरी 'शेष-अशेष'। पहली पुस्तक के रूप में उपलब्ध है, दूसरी साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान' में धारावाहिक रूप में निकल चुकी है। उनका नया उपन्यास 'लोक-परलोक' यद्यपि सही अर्थ में आंचलिक कृति नहीं कही जा सकती, किन्तु आंचलिकता की शैली का आभास सर्वत्र विद्यमान है। इस उपन्यास की कहानी पश्चिमी उत्तर प्रदेश के ग्राम-तीर्थ का जीवन चित्रित करती है। भारतीय ग्राम जीवन में पश्चिमी सभ्यता के दानव ने प्रवेश करके उसे जिस प्रकार आमूल परिवर्तित कर दिया है, इसकी बड़ी सफल कहानी प्रेमचन्द अपनी 'रङ्गभूमि' में दे चुके हैं, 'लोक-परलोक' को एक प्रकार से उसका पुनश्च कह सकते हैं। रंगभूमि में उस सङ्घर्ष का चित्रण है, जो दृढ़-मूल ग्राम सभ्यता और आगत भौतिक सभ्यता के बीच घटित हुआ है। 'लोक-परलोक' भौतिक सभ्यता से आक्रान्त ग्राम को पुनः आत्मिक भूमि पर ला स्थापित करता है। जो मानव सत्ता 'रंगभूमि' में सूरदास के हजार प्रयत्नों के बाद भी स्थिर न रह पाई थी, औद्योगिक, यान्त्रिक घोष में जिसका स्वर विलीन हो गया था, यहाँ उपन्यासकार की कवि-भावना उसे पुनः संस्थापित कर देती है। आंचलिकता के आभास के कारण उपन्यास रोचक बन पड़ा है। दूसरा उपन्यास 'शेष-अशेष' साधु के जीवन को लेकर लिखी गई ऐसी कथा है जिसमें स्वातन्त्र्य प्राप्ति के लिये किये गये गुप्त प्रयत्नों का भी बड़ा सजीव

चित्रण है। इस प्रकार की यह सम्भवतः पहली ही कृति है जिसमें ऐसे वर्ग विशेष के जीवन की झाँकी प्रस्तुत की गई है। यथार्थवाद के जिस अधिकाधिक आग्रह के फलस्वरूप आंचलिक उपन्यासों की रचना हुई है, उसी की प्रेरणा-वशात् विशिष्ट वर्ग के सजीव और स्वाभाविक चित्रण की ओर भी उपन्यास-कारों की दृष्टि गई है। भारतवर्ष में साधुओं की संख्या इतनी अधिक है और समाज के बहुतांश पर उनका प्रभाव इतना गम्भीर और विस्तृत है कि उनके इस प्रभाव का अध्ययन सामाजिक स्वास्थ्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। साधुओं ने तीर्थों में जैसे अड्डे बना रखे हैं, और इन अड्डों में पाखण्ड जैसे-जैसे रूप धारण करके नङ्गा नाचता है, उसकी अत्यन्त स्पष्ट तसवीर शेष-अशेष में मिलती है। साधुओं की जमात में जहाँ पाखण्डियों का बड़ा दल पड़ा हुआ है, वहीं कुछ ऐसे भी हैं, जिनकी वृत्तियाँ विलासी और निम्नगा नहीं हैं। इन्हीं में कहीं देश-प्रेम और क्रान्ति की भावनाएँ पनपती हैं। क्रान्तिकारियों के द्वारा देश को मुक्त करने के गुप्त ढङ्ग से प्रयत्नों का बड़ा ही विशद एवं सजीव वर्णन इस उपन्यास में दिया हुआ है। साथ ही साथ नारी की विशेषता और समाज की नारी के प्रति अनुदारता यशोदा के चरित्र के माध्यम से व्यक्त हुई है।

आज के हिन्दी उपन्यासकार से जो शिकायत सामान्यतः की जाती है, वह यह कि उसकी कृति में चरित्रों की रेखाएँ कुछ वैसी नहीं उभर पातीं, जैसी यथार्थवादी पाश्चात्य उपन्यासों में रहती हैं। सम्भवतः यह इस कारण से है कि हिन्दी का उपन्यासकार चरित्र को उसकी व्यक्ति सत्ता में देखने का अभ्यासी नहीं है। चरित्र या तो समस्या का उपलक्ष्य बन जाता है या समाज का, या फिर स्वप्न में ऐसा कुछ खो जाता है कि उसके संसारी रूप को पहिचानना कठिन हो जाता है। 'शेष-अशेष' में यों चरित्र है, और उनकी विकास रेखायें भी पर्याप्त विकसित हैं। उनकी वैयक्तिकताओं को नहीं, तो उनकी विशेषताओं को तो पहचाना ही जा सकता है।

आंचलिक उपन्यासों की संख्या में वृद्धि करने वाला उपन्यास बलभद्र ठाकुर का 'आदित्यनाथ' है। वह कुल्लूघाटी के अंचल की छाया में शान्ति लाभ की इच्छा से रमने वाले नायक आदित्यनाथ की कथा है। कथा में समाज की विकृतियों के संकेत हैं। साधु जीवन के काले कारनामों का उल्लेख है और कुल्लू अञ्चल की जीवन श्वासों का बड़ा ही आकर्षक अध्ययन है। आंचलिकता के सम्बन्ध में अभी-अभी जैनेन्द्रकुमार ने लिखा है—"आंचलिक प्रवृत्ति वह दृष्टि

है जिसके केन्द्र में अमुक पात्र या चरित्र उतना नहीं जितना वह स्वयं भू भाग अंचल है। पात्र स्वयं में इष्ट नहीं मानो अमुक समष्टि के जीवन की यथार्थता को उभार देने में ही उसकी चरितार्थता है।" इस नाते 'आदित्यनाथ' में यदि चरित्र की स्पष्ट रेखाएँ न भी मिलें, तो वह कोई अपराध नहीं है, फिर भी नायक आदित्यनाथ का चरित्र सूक्ष्मता से अङ्कित किया गया है।

इस वर्ष की कृतियों में दो अन्य उपन्यास विशेष उल्लेखनीय हैं। एक है अमृतलाल नागर का 'शतरंज के मोहरे' और दूसरा है भगवतीचरण वर्मा का 'भूले बिसरे चित्र'। दोनों कृतियों की जितनी होनी चाहिए उतनी चर्चा नहीं हुई। इसलिए उसकी विशेषताएँ सामने नहीं आ पाई हैं। जैनेन्द्रकुमार की एक बात का उल्लेख ऊपर किया गया है। उसी के आगे वे कहते हैं—'कुछ उपन्यासों में अमुक काल-खण्ड के चित्रण का प्रयास है'। तो इसमें भी पात्र और चरित्र पंक्ति बाँधकर आते-जाते और चलते-जाते हैं। निगाह यहाँ व्यक्तित्व पर नहीं बाँधी जाती। मानो युग-भाग को मूर्त करने का प्रयास लेखक का रहता है। 'सचझूठ' और 'भूलेबिसरे चित्र' को जैनेन्द्रकुमार ने इसी प्रकार की कृतियाँ माना है। इन रचनाओं को यदि संज्ञा दी जाय तो आंचलिक उपन्यास के ढङ्ग पर इन्हें आवधिक उपन्यास कह सकते हैं। आंचलिक में अंचल प्रधान रहता है, आवधिक में काल-खण्ड। काल को महत्व देकर पहले भी ऐतिहासिक वातावरण के उपन्यास लिखे गये हैं। इन उपन्यासों में भी इतिहास के विशिष्ट काल के जीवन क्रम का चित्रण रहता है। 'भूले बिसरे चित्र' ऐतिहासिक वातावरण के उपन्यासों से इस अर्थ में भिन्न है कि इसमें काल की सत्ता ऐतिहासिक नहीं है, महज सामाजिक है। 'शतरंज के मोहरे' में अवश्य काल एतिहासिक महत्व से सम्पन्न है। 'भूले बिसरे चित्र' इस देश के विगत लगभग सौ वर्षों का सामाजिक इतिहास सामने रखता है। एक कायस्थ परिवार की कहानी है—चार पीढ़ियाँ सामाजिक-राजनैतिक परिस्थितियों के बीच किस प्रकार अपनी जातिगत कुशलताओं का अवलम्ब लेकर व्यावहारिक जीवन में सफलता हासिल करती हैं, यही इसमें चित्रित किया गया है। लेकिन इस कथा के माध्यम से फिलम की बदलती हुई रीलों की भाँति जो युग का बदलता हुआ स्वरूप है, उसकी बड़ी मनोरम झाँकी इसमें मिलती है। व्यक्ति मात्र इसमें अत्यन्त स्वल्प है, जो है, वह है समाज, विशाल देश का बदलता हुआ समाज। इसीलिए जैनेन्द्रकुमार ने इसे कालखण्ड का उपन्यास माना है। 'भूले बिसरे चित्र' की अभी एक विस्तृत आलोचना निकली थी। आलोचक हिन्दी के एक अच्छे माने जाने वाले साहित्यकार हैं। उन्हें अनेक दृष्टियों से इस उपन्यास में

अभाव नजर आये हैं। उन्हें ध्यान में रखकर यही कहा जा सकता है कि कृतिकार की अपनी एक प्रकृति होती है, उसकी अपनी प्रवृत्तियाँ होती हैं। आखिर उन्हीं की उपलब्धि तो आपको उसकी कृतियों में होगी। भगवतीचरण वर्मा 'पतन' से लेकर 'भूले-बिसरे-चित्र' तक एक विशिष्ट शैली लेकर चले हैं। प्रारम्भिक दोनों कृतियों 'पतन' और 'चित्रलेखा' में उनका व्यक्तित्व उतना उभरकर नहीं आया है, जितना तीन वर्ष के साथ मिलने लगता है। वे न तो वैसे अहंवादी लेखक हैं—जैसे जैनेन्द्रकुमार, न उनमें वैसी सामाजिकता खोजे मिलेगी जैसी प्रेमचन्द कालीन उपन्यास में प्राप्त है, न वे मनोविश्लेषणात्मक कलाकार हैं, और न ही आंचलिक उपन्यासकारों की भाँति क्षेत्रीय जीवन के चितेरे। उनके उपन्यासों में व्यक्ति-नीति, चित्र और चरित्र का अद्भुत मेल मिलता है, जो सरस-कथा के ताने-बाने में अबद्ध रहता है। अपनी सीमाओं के भीतर वे स्वाभाविकता, ईमानदारी और आत्मीयता की शैली में जीवन की अकृत्रिमता को चित्रित करते हैं। 'भूले बिसरे चित्र' में यदि कोई गहन जीवन-दर्शन की खोज करे, या मार्क्स एवं फ्रायड के ढङ्ग की चीर-फाड़ देखना चाहे अथवा समस्याओं के स्वरूप और समाधान पाने की आशा करे या फिर हीरो की चरित्र-रेखाएँ प्राप्त करना चाहे, तो निश्चय ही उसे निराश होना पड़ेगा। यह उपन्यास एक सीधी सच्ची तस्वीर है, जो काल विशेष में भारतीय जीवन के सुख-दुख, आशा-आकांक्षा को हमारे सामने स्पष्ट रख देता है। यह एक आवधिक-उपन्यास है। अमृतलाल नागर का 'शतरंज के मोहरे' पढ़ते समय बङ्गाली के प्रसिद्ध उपन्यास 'साहब बीबी गुलाम' का स्मरण हो आता है। यह कृति कम्पनी कालीन बङ्गाल का जीवन-वृत्त है। 'शतरंज के मोहरे' अवध की नवाबी के जमाने की कथा है, जिसका एक चित्र 'शतरंज के खिलाड़ी' कहानी में मिलता है। प्रगतिवादी-समाजवेत्ता जिस संस्कृति को उखड़ती हुई सामन्तवादी सभ्यता कहकर पुकारता है उसी के विभिन्न रूप व्यङ्ग की शैली में प्रगतिवादी ढङ्ग से अमृतलाल नागर ने उपस्थित किये हैं। 'साहब बीबी गुलाम' और 'शतरंज के मोहरे' का अन्तर इसी आधार पर किया जा सकता है कि एक का लेखक वादी नहीं है, दूसरा वाद का अप्रत्यक्ष प्रभाव लेकर चलता है, अन्यथा यह कृति अत्यन्त सशक्त कृति है। आगरा के मध्यवर्गीय समाज के चितेरे के रूप में अमृतलाल की सिद्धहस्तता मान्य हो चुकी है। उनकी यह कृति उनके यश की वृद्धि में सहायक होगी।

इन प्रमुख उपन्यासों और उपन्यासकारों के अतिरिक्त अन्य कृतियों और कृतिकारों ने हिन्दी के उपन्यासों का भण्डार भरा है। कृष्णचन्द्र शर्मा भिक्षु की

'नागफनी' प्रयोगवादी ढङ्ग की रचना है, जिसमें शरीर को माध्यम बनाकर वर्तमान युग की पृष्ठभूमि में नरनारी के सम्बन्धों की व्यंजना की गई है। बड़ी मछली, छोटी मछली, 'सीमा' के रचयिता सत्यकाम विद्यालङ्कार की नवीन कृति है। कथा के तन्तु शिथिल हैं, पात्रों की चरित्र रेखाएँ कहीं-कहीं अस्पष्ट हैं, फिर भी मार्मिक उक्तियों से सम्पन्न इस कृति में सङ्घर्षपूर्ण जीवन और विशृङ्खलित समाज का चित्राङ्कन प्रभावोत्पादक हुआ है। डॉक्टर रांगेय राघव बराबर लिखते रहते हैं! उनकी 'छोटीसी बात' बड़ी आकर्षक कृति है। नई कृति 'राई और पर्वत' भी उसी ढङ्ग का उपन्यास है जिसमें थानेदार के चरित्र और व्यवसाय, न्याय की अस्थिरता और रिश्वत के प्रचलन के विषय में लेखक ने बड़े मार्मिक व्यङ्ग किये हैं।

[साहित्य-सन्देश, जनवरी-फरवरी १९६०।

हिन्दी-उपन्यास : १९६०

[प्रो० रामगोपालसिंह चौहान]

सन् ६० में प्रकाशित होने वाले हिन्दी के उपन्यासों में से लगभग चालीस उपन्यास तो इस समय मेरे सामने हैं, जबकि मैं यह लेख लिखने बैठा हूँ और इतने ही, और कोई सन्देह नहीं शायद इनसे भी अधिक पॉकेट बुक सीरीज के उपन्यास और हैं जिन्हें देखने का सौभाग्य मुझे नहीं हो पाया। लेकिन इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि पिछले दिनों लिखने और पढ़ने की रुचि सबसे अधिक रही है। पाकेट बुक सीरीज में उपन्यासों के प्रकाशन की परम्परा ने उपन्यास लेखन की गति को और भी बढ़ा दिया है इसमें सन्देह नहीं। इस दृष्टि से इस प्रकार की सीरीजों के सञ्चालक बधाई के पात्र हैं। इन उपन्यासों में जाने-माने हिन्दी के उपन्यासकारों—भगवतीचरण वर्मा, रांगेयराघव, आचार्य चतुरसेन शास्त्री, बलभद्र ठाकुर, डा० देवराज आदि से लेकर विद्यास्वरूप शर्मा, गुलशननन्दा, तरन तारन, हरदयालसिंह एम० ए०, नरेन्द्र शर्मा, राघवेन्द्र मिश्र, शुकदेवसिंह सौरभ, रामप्रसाद मिश्र, विपिन कुमार, जीवन प्रकाश शर्मा, हेमराज 'निर्भय', श्यामनारायणप्रसाद, सय्याहसुनामी, द्वारिकानाथ माधवराव, श्रीधर सक्सेना, शिरीष, अमरनाथ शुक्ल आदि के उपन्यास हैं। इनमें से कई के उपन्यास पहले-पहल प्रकाशित हुए हैं और कई के पिछले उपन्यासों से पाठक पहले से ही परिचित हैं।

किसी एक ही वर्ष में प्रकाशित उपन्यास-साहित्य के मूल्याङ्कन में हमारी समझ से तीन आधार हो सकते हैं—एक तो यह कि पिछले वर्ष की अपेक्षा इस वर्ष के प्रकाशित उपन्यास साहित्य की संख्यात्मक प्रगति कैसी रही? दूसरा यह कि पिछले वर्षों के उपन्यास-साहित्य की तुलना में इस वर्ष वस्तुगत एवं कलागत दृष्टि से उपन्यास-साहित्य ने क्या प्रगति की, क्या कुछ नवीन उपलब्धियाँ प्रदान कीं? और तीसरा आधार है उनकी साज-सज्जा और गेट अप।

संख्यागत आधार पर जब हम इस वर्ष के उपन्यास-साहित्य को देखते हैं तो निश्चय ही यह वर्ष हमें पिछले वर्षों की दृष्टि से काफी आगे बढ़ा हुआ लगता है।

वस्तु की दृष्टि से इस वर्ष में प्रकाशित उपन्यास-साहित्य के तीन वर्ग किए जा सकते हैं, एक तो वह उपन्यास जिनमें आज की सामाजिक समस्याओं और सङ्घर्षों का चित्रण है। दूसरे वह तथाकथित सामाजिक उपन्यास जिनकी कथा तो सामाजिक है लेकिन जिनमें आज की समस्याओं का वर्णन होकर पिटी-पिटाई प्रेमकथाओं की रूमानी है और जो हमारे सामने कुण्ठाग्रस्त या अति आदर्शवादी या कामपीड़ित चरित्रों को प्रस्तुत करते हैं, जिनका उपयोग केवल हल्के स्तर का मनोरञ्जन करना भर ही है। जो हमारे सामने न तो प्रेम का ही कोई महान् आदर्श प्रस्तुत करते हैं और न जीवन की कोई आधारभूत समस्या ही। और तीसरे प्रकार के वे उपन्यास हैं जिनकी कथावस्तु ऐतिहासिक है।

अपने इस वस्तुगत मूल्याङ्कन को आगे बढ़ाने से पूर्व हम यहाँ पिछले वर्षों की नवीन उपलब्धियों से इस वर्ष के उपन्यास-साहित्य की तुलना करते हुए एक बात स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि पिछले वर्षों के आञ्चलिक उपन्यासों की जिस परम्परा ने बड़ी तीव्रगति से उभार और विकास पाया था इस वर्ष में आकर उसकी गति अवरुद्ध हुई सी लगती है। अचम्भे की ही बात तो यह है कि इस वर्ष एक भी उल्लेखनीय आञ्चलिक उपन्यास प्रकाशित नहीं हुआ। केवल एक उपन्यास ऐसा अवश्य देखने को मिला जिसे कम से कम नाम से तो आलिञ्चक कहा ही जा सकता है—'हिमालय के आँचल में' लेखक तरन तारन। यह उपन्यास केवल इसी दृष्टि से आञ्चलिक है कि इसकी कथा का मुख्य प्रदेश हिमालय की हरी-भरी सुन्दर उपत्यका है यद्यपि इसकी कथा के विस्तार में पीलीभीत और बरेली भी सिमट आए हैं। किसी प्रदेश विशेष की आँचलिक विशेषताओं—वहाँ के लोकजीवन, लोकविश्वास, रीति-रिवाज का चित्रण, जो आंचलिक उपन्यासों की विशेषता है उसी उपन्यास में केवल उसी हद तक आया जिस हद तक किसी भी सामाजिक उपन्यास में उसका सफल वर्णन होता है, जिस स्थल की कथा होती है। हिमालय अंचल का लोकजीवन इस उपन्यास में अपनी समस्त आंचलिक विशेषताओं के साथ नहीं उभर पाया है। वैसे छोटी भौजी, रूपा और रामसिंह इस उपन्यास के शानदार चरित्र हैं। रूपा और छोटी भौजी का चरित्र अपनी सीमाओं में नारी जीवन की विवशताजनित स्थिति या नारी के दो पहलुओं को हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं और उनमें कहीं कुछ ऐसी चारित्रिक दृढ़ता है जो पतन में भी उनकी उदात्तता को उभारती है, विशेष रूप से रूपा के चरित्र में।

इस वर्ष के सामाजिक उपन्यासों के दो वर्ग किए जा सकते हैं एक तो

वह सामाजिक उपन्यास जिनमें आज की विभिन्न समस्याओं और सङ्घर्षों का वर्णन है। आज हमारा समाज जिस संक्रान्ति में गुजर रहा है और जिस संक्रान्ति के कारण आज के मानव-जीवन में, मानवीय मूल्यों में, मनोभावों, विचारों आदि में जो परिवर्तन उपस्थित हो रहे हैं, उनका चित्रण है। और दूसरे प्रकार के वे सामाजिक उपन्यास हैं जिनकी कथावस्तु में 'आज का' कुछ भी नहीं है। केवल प्रेम—वह भी तथाकथित प्रेम—कथाएँ हैं जो आज से बीस वर्ष पहले भी थीं। हैं वह आज भी, लेकिन आज के प्रेम में समय के अनुसार परिवर्तित मान्यताओं, स्थितियों, समस्याओं और सङ्घर्षों का उनमें अभाव है। इस अभाव के कारण वह प्रेमकथाएँ आज लिखी जाकर भी पुरानी हैं। इस प्रकार के उपन्यासों पर यद्यपि लिखा अवश्य मिलेगा—'मौलिक सामाजिक उपन्यास' लेकिन वस्तुतः उनमें न तो वस्तु की मौलिकता है और न शिल्प की और न विचारों की।

पहले वर्ग के सामाजिक उपन्यासों में प्रमुख हैं 'धने और बने' लेखक बलभद्र ठाकुर, 'भग्न मन्दिर' लेखक अनन्तगोपाल शेवड़े, 'अजय की डायरी' ले० डा० देवराज, 'झूँठा सच' ले० यशपाल आदि। 'आदित्यनाथ, मुक्तावती और नेपाल की दो बेटी' की परम्परा में ही हिमालय-अंचल दर्जिलिंग को केन्द्र बनाकर लिखे गए 'धने और बने' उपन्यास में स्वातन्त्रय सङ्घर्ष से कथा का आरम्भ होता है, जिसमें प्रसिद्ध चटगाँव सशस्त्र सङ्घर्ष से लेकर चायबागान के मजदूर सङ्घर्ष का अत्यन्त व्यापक, सजीव और संवेदनशील वर्णन है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् जिन अनेक सौभाग्यों के साथ-साथ जिन अनेक दुर्भाग्यों का सामना करना पड़ा है उनमें एक यह दुर्भाग्य भी उल्लेखनीय है कि स्वतन्त्रता सङ्घर्ष में क्रान्तिकारियों के व्यक्तिगत बलिदानों को जानबूझकर नजरन्दाज किया जा रहा है, क्योंकि माना जाता है कि उनके बलिदान अराजकतावादी थे और हिंसा पर आधारित थे। लेकिन कितना भी प्रयास किया जाय इतिहास इस सत्य को नकारने का साहस नहीं कर सकता कि उन महान बलिदानियों ने अपने मूक बलिदान से देशभर में देशभक्ति पर हँसते हँसते प्राण न्योछावर करने की एक लहर सी उत्पन्न कर दी थी। बलभद्र ठाकुर के सभी उपन्यासों के पात्र वर्तमान युग जीवन की समस्याओं के घात प्रतिघातों की धारा में डूबते उतराते हुए प्रस्तुत किए जाने पर भी अन्त में एक नवीन आशा, जीवन के प्रति महती आस्था और नवीन मूल्यों के तट पर पहुँचने के लिए सतत सङ्घर्षशील रूप में आते हैं। लेखक की समाजशास्त्रीय दृष्टि निस्सन्देह एक स्वस्थ समाजवादी आधार पर विकसित होने वाली नवीन मानवता का प्रतीक है।

'भग्नमन्दिर' का कथानक १५ अगस्त १६४७ को देश की स्वतन्ता की घोषणा के साथ आरम्भ होता है जबकि देश-जीवन के नए भव्य मन्दिर के निर्माण की आशाओं और सङ्कल्पों का देसवासियों के मन में जन्म हुआ था। और उपन्यास का अन्त देश-जीवन के नये भव्य मन्दिर के निर्माण की आशाओं और सङ्कल्पों के भग्न होने के साथ-साथ ही होता है। समूचा उपन्यास आज की देश की आन्तरिक प्रशासनिक स्थिति में व्याप्त घोर निराशा का प्रतीक है। पूरे उपन्यास में छोटे से लेकर बड़े अफसरों तक सामान्य मन्त्री से लेकर प्रमुख मन्त्री तक की असलियत का ऐसा सटीक और सचा यथार्थवादी चित्रण हुआ है और इतना आधुनिक कि उसके पढ़ने से वर्तमान कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों और और उनके प्रशासन की आन्तरिक स्थिति का पूरा और सच्चा चित्र आँखों के सामने स्पष्ट हो जाता है। सारा उपन्यास आज के कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल की तथा कांग्रेस की आन्तरिक दलवन्दियों पर करारा व्यङ्ग हो गया है।

'धने और बने' तथा 'भग्न मन्दिर' दोनों उपन्यास एक प्रकार से मिल कर स्वातन्त्र्य और स्वतन्त्र भारत की राजनैतिक स्थिति का समवेत चित्र प्रस्तुत करते हैं।

यशपाल का उपन्यास 'भूँठा-सच' भी लगभग इसी परम्परा का उपन्यास है यद्यपि अधिक विस्तृत और व्यापक है। उसमें एक साथ स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत की सामाजिक एवं राजनीतिक स्थितियों का चित्रण है। यह एक ऐसा उपन्यास है जो अपनी समूची सीमा में आज के भारतीय जीवन के विविध पक्षो और उसमें होने वाली संक्रान्तियों से संघटित भारतीय जीवन का समग्र चित्र मूर्तिमान हो उठता है। इस परिवर्तनशील युग में भारतीय जीवन जो कुछ पुराना छोड़कर अपनाता जा रहा है, जीवन को आज की परिस्थितियों में गतिशील करने के लिए जिन-जिन बाधाओं का सामना करना पड़ रहा है और जैसे-जैसे आज का मानव उसके अनुरूप अपने को ढालता जा रहा है, जीवन के जिन नए मूल्यों का निर्माण करता जा रहा है, उन सब का चित्रण इस वृहद् उपन्यास में हुआ है। हमारी आज की आशा, निराशा, मनोबल, आगे बढ़ने की अदम्य लालसा, जीवन-सङ्घर्ष, जीवन-वैषम्य, बाधाएँ, विदेशी प्रभाव, भारतीय तथा पाश्चात्य संस्कृतियों के संक्रमण से नयी विकासमान भारतीय संस्कृति जीवन-दर्शन, जीवन-मूल्य गरज यह कि हमारा समूचा वर्तमान जीवन अपने हर पहलू के साथ अपनी सम्पूर्ण गरिमा, शक्ति और कमजोरी के साथ, अपनी सम्पूर्ण गहराई और उथलेपन के साथ साकार हो उठा है। इसे हम सहज ही

आज का युग प्रतिनिधि उपन्यास होने का गौरव प्रदान कर सकते हैं। आज का सम्पूर्ण युग ही इसमें सवाक् और मूर्तिमान हो उठा है। यह उपन्यास प्रकाशन की दृष्टि से यद्यपि इस वर्ष की उपलब्धि है, लेकिन धारावहिक रूप से यह पिछले वर्ष तक पूरा का पूरा पाठकों के सामने आ चुका था और उपन्यास साहित्य में अपना स्थान बना चुका था। गत वर्ष के उपन्यास-साहित्य के मूल्याङ्कन के प्रसङ्ग में इस उपन्यास का मूल्याङ्कन भी हो चुका है।

'अजय की डायरी' ले० डा० देवराज। उपन्यास डायरी शैली में आत्मविज्ञप्तिपरक प्रकाशकीय विज्ञप्ति के अनुसार 'एक सशक्त प्रेमकथानक के चारों ओर ग्रथित लेखक के जीवन दर्शन को प्रकट करने वाला हिन्दी का पहला अन्तर्राष्ट्रीय उपन्यास है।' लेकिन हमारी दृष्टि में यह वस्तु और कला शिल्प दोनों ही दृष्टियों से अत्यन्त ही पोच उपन्यास है। अजय और हेम का प्रेम इस उपन्यास की धुरी है। बल्कि यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि, है नहीं, विवशतावश माननी पड़ेगी क्योंकि जो कुछ भी कथा है वह बस उतनी ही है, वरन् सारा उपन्यास अजय और हेम की प्रेमकथा से अप्रासङ्गिक और असम्बद्ध जीवन के अनेक पहलुओं पर अधूरी वायवी और हवाई बहसों बल्कि प्रकाशकीय विज्ञप्ति के आधार पर मान लेना चाहिए कि 'लेखक के जीवन दर्शन' से तथा कश्मीर और अमरीका के यात्रा-वर्णन से भरा पड़ा है। प्रेमकथा में भी कोई सामाजिक समस्या नहीं बल्कि व्यक्तिगत समस्या है। यह प्रेम उपन्यास का ताना-बाना बुनने में भी सहायक नहीं होता, क्योंकि उपन्यास की कथा प्रेमकथा के स्वाभाविक घात-प्रतिघात से विकसित नहीं होती और न इस उपन्यास में व्यक्त जीवन दर्शन इस प्रेमकथा के प्रसङ्ग में उभर पाता है। वस्तुतः इस उपन्यास में प्रेमकथा अलग है, जीवन-दर्शन पर बहसों का अलग स्थान है (जो बहसें अपने में कुल मिलाकर एक जीवन-दर्शन कोई क्रमबद्ध रूप भी उपस्थित नहीं कर पातीं) और काश्मीर तथा अमरीका की यात्राओं का वर्णन अपने में अलग-अलग स्थान रखता है। इसी तरह जैसे कथा के तीन सूत्र अपने में स्वतन्त्र अलग-अलग हैं उसी तरह पात्रों के भी तीन ग्रुप हैं---एक ग्रुप डा० मदन, निगम तथा अजय आदि का जो अधिकतर काफी हाउस में मिलता है और कालेज तथा विश्वविद्यालय आदि विषयों पर बातचीत करता है। दूसरा ग्रुप है दीपिका, हेम, इला पाँडे, अवस्थी और अजय का और तीसरा ग्रुप बनता है अमरीका में जाकर वहाँ के पात्रों के साथ। अगर कुछ क्रमबद्धता है तो बस

इतनी ही कि अजय तीनों ग्रुपों में और हेम से उसका प्रेम काश्मीर यात्रा में होता है और अमरीका जाकर हेम को भूल नहीं पाता और दीपिका को कभी-कभी वहाँ के अनुभवों और प्रतिक्रियाओं के विषय में पत्र लिखता है। वस्तुत: यह उपन्यास डायरी के असम्बद्ध पृष्ठों का सङ्कलन मात्र है। डायरी शैली में लिखा हुआ सुन्दर गठा हुआ उपन्यास भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि उपन्यास के लिए जो पहली कसौटी है—कथा की पूर्वापर सम्बद्धता और आपसी घात-प्रतिघात से अपने समस्त पात्रों और कथा सूत्रों को एक-एक में पिरोए हुए नियोजित रूप से विकास करना वह इसमें नहीं है। यही इसके शिल्प की सबसे बड़ी कमजोरी है।

शुकदेवसिंह 'सौरभ' का उपन्यास 'दूर के द्वीप' समाज के नवनिर्माण की नितान्त काल्पनिक युरोपियन रूपरेखा पर आधारित है। इस निर्माण की कल्पना वैसे ही है जैसी अनेक मन्त्री अपनी झोंक में नयी-नयी योजनाओं को बनाने में करते हैं और स्वयं उसके विषय में आश्वस्त नहीं होते कि उसका परिणाम क्या होगा। लेखक भी अपने आदर्शवादी नवनिर्माण की आदर्श कल्पना प्रस्तुत करता है किन्तु स्वयं उसके बारे में स्पष्ट नहीं है। इसलिए कथा में बिखराव है और शिल्प बड़ा अशक्त।

'वह फिर नहीं आई' भगवतीचरण का विभाजन के बाद उत्पन्न नारी-जीवन की समस्या का एक उपन्यास है। विभाजन से उत्पन्न परिस्थितियों में अनचाहे नारी को क्या-क्या करना और सहना पड़ा है इस पर काफी कुछ लिखा जा चुका है। इस दृष्टि से इस उपन्यास में कोई नवीनता नहीं है लेकिन उस परिस्थिति की भूमिका में रानी श्यामला से अपने पति जीवनराम के प्रति प्रगाढ़ प्रेम और उसके प्रति अपने कर्तव्यों के निर्वाह के लिए जो शरीर का व्यापार कराया है वह कहाँ तक उचित है और रानी श्यामला और जीवनराम के प्रति पाठक के मन में उनकी परिस्थितिजन्य विवशता के लिए कितनी सहानुभूति उत्पन्न होती है, यह अवश्य विचारणीय है। वर्माजी ने रानी श्यामला के शरीर व्यापार को पति के प्रति उसके त्याग के रूप में चित्रित किया है। इसमें नारी-जीवन की विशेषताओं का कारुणिक और मार्मिक चित्रण है।

'विवाह की मञ्जलें' उपन्यास में लेखक जीवनप्रकाश जोशी ने विवाह के विषय में आजकल युवक-युवतियों में प्रचलित विभिन्न दृष्टिकोणों को तुलनात्मक रूप से प्रस्तुत किया है। रेखा, शान्ती, सुवेला, उर्वशी, यामा, माधवी

आदि के विभिन्न दृष्टिकोण हैं। लेखक ने आस्थापूर्ण विवाह को अपनी सहमति प्रदान की है।

दूसरे प्रकार के सामाजिक उपन्यासों पर विचार करने से पूर्व एक उपन्यास पर विचार कर लेना चाहिए जो सामाजिक तो नहीं हैं। कहना चाहिए अपने ढङ्ग का अनूठा ही उपन्यास है और वह है आचार्य चतुरसेन शास्त्री का उपन्यास 'खग्रास'। यह उपन्यास अपने ढङ्ग का अनूठा उपन्यास इसलिए है कि उसका विषय अछूता है। इस युग की वैज्ञानिक खोजें इस उपन्यास का विषय हैं और यह उपन्यास यह सिद्ध करता है कि इस प्रकार के नीरस समझे जाने वाले विषयों को उपन्यास का रूप देकर बड़ी सुगमता से जनसाधारण के लिए बोधगम्य बनाया जा सकता है। यही इस उपन्यास की सबसे बड़ी सफलता और विशेषता है। यह इस वर्ष के उपन्यासों में अपना निराला ही स्थान रखता है।

अब हम आते हैं दूसरे प्रकार के सामाजिक उपन्यासों पर। इनमें भी दो प्रकार के उपन्यास हैं—एक वे जिनमें साधारण रूप से प्रेम कथाओं का चित्रण हुआ है और दूसरे वे जो सामाजिक उपन्यास के नाम पर घोर असामाजिक हैं।

इनमें से पहले प्रकार के सामाजिक उपन्यासों में सामान्य रूप से प्रेम-कथाओं का ही चित्रण है। उनके प्रसङ्ग में समाज की किसी वर्तमान ज्वलन्त समस्या का चित्रण नहीं हुआ है, अगर कहीं किसी उपन्यास में थोड़ा हुआ भी है तो ऐसा जो उभर कर सामने नहीं आता। इस प्रकार के उपन्यासों की एकमात्र उपादेयता है कुछ समय के लिए मनोरञ्जन करना। ऐसे उपन्यासों का प्रकाशन ही इस वर्ष सबसे अधिक हुआ है। इनमें भी जो उल्लेखनीय हैं वह हैं—'सुलगती परछाइयाँ' लेखक रमेश भारती, जिसमें एक ऐसे अतिमानवीय चरित्र की कल्पना की है जिसके प्रति अनेक लड़कियाँ आकर्षित होती हैं और उसके सम्मुख आत्म-समर्पण करना चाहती हैं पर वह महीनों एकान्त में स्त्री के साथ-साथ रहता हुआ भी अपने आदर्श की झोंक में उसका स्पर्श नहीं करता। पर पूरे उपन्यास में वह आदर्श स्पष्ट नहीं हो पाया जिसके पीछे वह इतना दीवाना है। 'अँधेरे चिराग' लेखक गुलशननन्दा में प्रेमकथा की एक विचित्र और कौतूहल पूर्ण स्थिति प्रस्तुत की है और उसका अच्छा निर्वाह किया है। 'सामाजिक कारा के बन्दी' उपन्यास के लेखक हरदयालसिंह ने आर्थिक परिस्थितियों से विवश एक नारी इन्दू का चित्रण किया है जो अपने वात्सल्य-

प्रेम से विवश होकर अपने बच्चे के पालन के लिए शरीर बेचने पर विवश हो जाती है। इसी प्रकार से 'नई सुबह' (लेखक नरेन्द्र शर्मा) 'मुट्ठी भर फूल' (श्रीधर सक्सेना शिरीष) 'वाहरे आँसू' (शुकदेवसिंह 'सौरभ') 'वेला' (श्याम नारायण प्रसाद), 'वाहरे आँसू', 'कुल वधू' (अमरनाथ शुक्ल) आदि के प्रेमाख्यान सम्बन्धी रूमानी उपन्यास हैं जिनमें यत्र-तत्र सामाजिक सङ्घर्ष की झाँकी मिल जाती है अन्यथा प्रेम-विषयक सङ्घर्ष ही उनमें प्रमुख है।

व्यक्तिगत प्रेम पर आधारित डॉ० रांगेयराघव का उपन्यास 'दायरे' भी इस वर्ष का उल्लेखनीय उपन्यास है। यद्यपि इसका कथानक व्यक्तिगत प्रेम और तज्जनित सङ्घर्ष पर ही प्रमुखतः आधारित है पर इसमें मानव मूल्यों की नए सेट-अप में व्याख्या और मनुष्य के जीवन की गहराई और ठोसपन मिलता है।

रामप्रसाद मिश्र के उपन्यास 'कहाँ या क्यों' बड़ा रोचक उपन्यास है पर उसमें फिल्मी टच अधिक है। निर्धन नायक हेमचन्द्र का धनी दिग्विजयनाथ और उनकी पुत्री से मिलन तथा दिग्विजयनाथ का स्नेह पात्र हो उसकी सम्पत्ति का वरिस हो जाना तथा उनकी पुत्री सुलोचना से प्रेम हो जाना सब कुछ बड़ा फिल्मी है।

घोर नग्न सम्भोग का चित्रण तो इस वर्ष और उपन्यासों में भी हुआ है पर राघवेन्द्र मिश्र के उपन्यास में सम्भोग चित्रणों की अति हो गई है। उसे पढ़कर मुझे तो यह आश्चर्य हुआ कि लेखक ने उपन्यास की विवाहित अविवाहित सभी स्त्रियों के साथ उपन्यास के सभी पात्रों में से किसी न किसी का योनि सम्बन्ध बड़े खुले शब्दों में चित्रित किया है, पर मनजीत की पत्नी लल्ली के साथ उसे क्या मोह हो गया कि उसे छोड़ दिया। इस प्रकार के उपन्यास सामाजिकता के नाम पर घोर असामाजिक उपन्यास हैं जिनका तिरस्कार होना चाहिए।

इस वर्ष के प्रकाशित ऐतिहासिक उपन्यासों में डॉ० रांगेयराघव का 'अन्धा रास्ता' और सय्याह सुनामी का 'भगवान एकलिङ्ग' उल्लेखनीय उपन्यास हैं। 'अन्धा रास्ता' में प्राचीन इतिहास की अलग-अलग कहानियों का एक संग्रह है लेकिन वे सब कहानी मिलकर प्राचीन भारत की एक क्रमबद्ध तस्वीर भी प्रस्तुत कर देती हैं। इस दृष्टि से उनमें औपन्यासिक गठन भी है। इसीलिए हमने यहाँ उसका उल्लेख किया। 'भगवान एकलिङ्ग' काफी सशक्त ऐतिहासिक उपन्यास है।

विपिनकुमार का 'एक वर्ष' उपन्यास तथा द्वारिकानाथ माधवराव का उपन्यास 'उल्कापात' में, विशेष रूप से 'एक वर्ष' में, डिटेक्टिव उपन्यासों जैसी रोमाञ्चकारी घटनाओं का वर्णन है पर सस्ते जासूसी उपन्यासों जैसा हल्कापन उनमें नहीं है—यही इनकी विशेषता है।

शिल्प प्रयोग की दृष्टि से 'ग्यारह सपनों का देश' उपन्यास, जिसे 'बारह खम्भा' की भाँति ग्यारह लेखकों ने अलग-अलग किश्तों में लिखा है, इस वर्ष के उपन्यास शिल्प में एक नई उपलब्धि है।

इस प्रकार कुल मिलाकर इस वर्ष के उपन्यास-साहित्य का एक संक्षिप्त विवेचन करने पर इस नतीजे पर आते हैं कि उच्चकोटि के उपन्यासों का जिनमें युग जीवन मूर्तिमान हो उठा हो अभाव रहा।

[साहित्य-सन्देश, जनवरी-फरवरी १९६१।

————

प्रेमचन्दजी की सफलता

उपन्यास में विशेष या कहानी में

[डा० सत्येन्द्र]

कहानी और उपन्यास साहित्य के दो अलग-अलग अङ्ग हैं। दोनों की कला पृथक-पृथक हैं, दोनों की टेकनीक भिन्न-भिन्न हैं। कुछ कलाकार ऐसे हो सकते हैं जो दोनों कलाओं पर समान अधिकार रख सकते हैं, दोनों में जो एकसी सफलता और एकसी कुशलता दिखा सकते हैं। कुछ कलाकार ऐसे भी होंगे जो या तो कहानी ही ठीक-ठीक लिख सकेंगे या उपन्यास ही। कुछ ऐसे भी जो किसी सीमा तक तो दोनों का निर्वाह ठीक कर लें जायँगे पर उस सीमा से आगे एक में विशेष सफल कौशल दिखायेंगे, दूसरे में साधारण। प्रेमचंद के सम्बन्ध में विचार करते हुए कितने ही विद्वानों ने कहा है कि वे कहानी लिखने में अधिक सफल हुए हैं, उपन्यास में उतने नहीं।

प्रेमचंदजी ने सवा या साढ़े ग्यारह उपन्यास लिखे हैं और तीनसौ के लगभग कहानियाँ। पृष्ठ संख्या में उपन्यास कहानियों से कम नहीं बैठेंगे, अधिक भले ही हों, फिर भी उपन्यास सभी पढ़ने को सफलतापूर्वक मिल सकते हैं, सभी कहानियाँ इतनी सुप्राप्त नहीं हो सकतीं। कह नहीं सकते कि विद्वानों ने उपरोक्त निर्णय उनकी सब कहानियों और सब उपन्यासों को पढ़ कर दिया है अथवा एक चावल परख कर। अभी हाल ही में प्रकाशित "प्रेमचंद : एक अध्ययन" के लेखक ने यह बात अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में स्वीकार की है— "प्रेमचंद की कहानियों की संख्या इतनी अधिक है, उनकी कहानियों का क्षेत्र इतना विस्तृत है और उनके कला के प्रयोग इतने बहुसंख्यक हैं कि उन पर संक्षेप में विचार करना कठिन हो जाता है। उनके सम्बन्ध में विशेष अध्ययन के अभाव के कारण यहाँ पर हम संक्षेप में ही विचार कर सकेंगे।" उपन्यासों का पढ़ना और उनका अध्ययन अपेक्षाकृत सरल है, यही कारण है कि प्रेमचंदजी से सम्बन्ध रखने वाली पुस्तकों में मुख्य आधार उनके उपन्यासों को ही बनाया गया है। कहानियों पर दो-चार चलती-फिरती बातें कह दी गई हैं।

जब हम प्रेमचंदजी के उपन्यासों पर दृष्टि डालते हैं तो उनके सभी उपन्यास अलग-अलग शैलियों में लिखे सिद्ध होते हैं। उनकी वस्तुएँ भी अलग हैं और सन्देश भी अलग। यद्यपि सभी उपन्यासों के पात्रों में सेवासदन से गोदान तक एक सूत्रमय विकास मिलता है, फिर भी ऐसे प्रमुख पात्र गिनती में इने-गिने हैं, वे जो विविध पात्र उपन्यासों की भूमि और भूमिका बनाते हैं, जो उन प्रमुख पात्रों के चरित्र में तो सीधे गुँथे हुए नहीं हैं, पर उनके तत्वों को गुण-रूप और रंग देने वाले हैं। उनको प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से विविध प्रेरणायें देने वाले हैं उनमें प्रत्येक उपन्यास अपना अलग महत्व स्थापित करता है। प्रत्येक उपन्यास में प्रेमचंद की लेखनी ने अद्‌भुत कौशल दिखाया है। दरिद्र मजदूर से लेकर उच्च वर्ग के उच्चतम व्यक्तियों तक के चरित्र और चित्र प्रेमचंदजी ने दिये हैं। यथासम्भव वे चित्र और चरित्र पूर्ण ही हैं। उनके उपन्यासों में शहर की जगमगाहट भी यथावत् है और गाँव का अवसाद भी। वर्णन विषद हैं, सजीव और प्रभावोत्पादक हैं। जिन उपन्यासों में एक से अधिक सूत्रों की उद्‌भावना लेखक ने की है, उनमें वे सूत्र गंगा-यमुना के सङ्गम की भाँति अपने रङ्ग को अलग जमाते हुए भी उपन्यास की पूर्णता स्थापित करते हैं और स्वतन्त्र नहीं कहे जा सकते। उपन्यासकार का कौशल उन्हें सावधानी से परस्पर एक-दूसरे से घनिष्ट और विरल सहजे रहता है—वे सूत्र मिले हुए भी अनमिल, और अनमिल होते हुए भी मिले हुए प्रतीत होते हैं। उपन्यासों की गति भी अपने-अपने कथानक, उद्देश्य और संविधान के साथ एकस्वर होकर चलती है। जहाँ तीव्र उद्वेगमय गति होनी चाहिए वहीं होगी। सहज-शान्त, सहज मधुर, सङ्घर्ष में उलझी हुई, कहीं उफनती हुई, कहीं मन्थर, कहीं झाग सी बैठती हुई—ये गतियाँ ठीक अवसरों के अनुकूल उपन्यासों में संस्थित हैं। चरित्रों और कथोपकथनों का मनोवैज्ञानिक पहलू भी न तो कहीं अवहेलित हुआ है, न शिथिल ही। सभी उपन्यास अपना प्रभाव बड़ी प्रबल शक्ति से डालते हैं। सेवासदन, प्रेमाश्रम, रङ्गभूमि, कायाकल्प गबन, कर्मभूमि और गोदान सभी में वे तत्व उपस्थित हैं जो पाठक को अप्रतिभ कर सकते हैं। यह सब होते हुए भी प्रेमचंद के उपन्यासों में कई अभाव बताये जाते हैं।

कुछ का कहना है कि प्रेमचंद के पात्र मनोवैज्ञानिक सहज धरातल से उतर जाते हैं। वे उपदेशक का रूप धारण कर लेते हैं। इससे उपन्यास-कला विक्षुब्ध हो उठती है। प्रेमचंद में सुधारवादी दृष्टिकोण प्रबल हो उठता है, वे समस्या के साथ हल लेकर चलते हैं, और समझौते पर रुक जाते हैं, जिससे

शुद्ध मानव का रूप प्रकट नहीं हो पाता और उपन्यासों का मूल्य कम हो जाता है। प्रेमचंद ग्राम्य जीवन का चित्रण तो पूर्ण अधिकार से करते हैं, उसमें उनकी समानता करने वाला दूसरा नहीं, पर शहरी जीवन में उच्चवर्ग की यथार्थता वे नहीं पा सके, फलतः ऐसे स्थलों पर उनके उपन्यासों में अयथार्थता दोष आ गया है। उनके उपन्यास घटनाओं के बोझ से दब जाते हैं,चरित्र बौने हो जाते हैं; वे यथार्थवाद से चलकर आदर्शवाद में परिणति पाते हैं। फलतः नाटकों का अन्त अकलात्मक हो जाता है। एक विशेष आदर्श के अनुकूल पहुँचाने के लिए अनेकों पात्रों की हत्याये करनी पड़ती हैं, इससे एक रक्तात्क्त वातावरण बन जाता है जो कला के सौंदर्य को नष्ट कर देता है। अपने किसी प्रिय विषय की ओर कभी लेखक अधिक झुक जाता है और कथा के संतुलन को बिगाड़ देता है। अथवा प्रेमचंदजी कभी-कभी बहुत विषद भूमि पट अपना लेते हैं और उसमें कथा-सूत्र चुस्त और सुगठित नहीं रहता। 'सेवा सदन' यों सुन्दर उपन्यास है, उसमें प्रेमचंदजी ने उपदेशक का बाना उतना नहीं ग्रहण किया, अतः कुछ लोगों की दृष्टि में यह सर्वश्रेष्ठ उपन्यास माना जाना चाहिए— फिर भी इसमें चुंगी-चर्चा और वेश्याओं के नगर से निर्वासन को इतनी महत्ता मिल गई है कि मूल कथा इनकी भूमिका बनकर रह गयी हैं। प्रेमचंद समाज-सुधारक का चेहरा ओढ़कर आते हैं; चरित्र-चित्रण समस्या के नीचे दब जाता है। प्रेमाश्रम को प्रेमचंदजी यथार्थ से शुरू करते हैं और आदर्श से उनका अंत करते हैं, इसलिए उन्हें कई हत्यायें करनी पड़ती हैं। वे अपने आदर्श के विरोधी पात्रों को या तो रहने ही नहीं देते, या उनका हृदय परिवर्त्तन करा देते हैं। रंग-भूमि में 'सूरदास' का चित्रण अतिशयोक्ति के सहारे प्रेमचंद की अपनी लेखनी के बल पर खड़ा हुआ है। रङ्ग-भूमि को रङ्ग-भूमि भी अत्यन्त विषद है। कायाकल्प में असम्भव विश्वासों और तिलिस्म जैसे चमत्कारों का घटाटोप है, जिसका आधुनिक-उपन्यास कला में कोई स्थान नहीं हो सकता—अयथार्थता और अद्भुत से परिपूर्ण है यह उपन्यास। गबन में आदर्श की वेदी पर यथार्थ का बलिदान किया गया है और कितने ही अयथार्थ दृश्यों का समावेश है। गोदान में गाँव और शहर का जीवन इतना अलग-अलग उपस्थित किया गया है कि वे दो उपन्यासों का विषय बन सकते हैं। शहरी जीवन के प्रति प्रेमचंदजी ईमानदार नहीं रह सके। अतः वे उपन्यासों में सफल नहीं हो सके।

यथार्थ में ऊपर जो दोष बताये गये हैं उनसे ही यदि कोई लेखक असफल उपन्यास लेखक हो जाता है, तो संसार के श्रेष्ठतम लेखकों की रचनाओं

में इनसे भी अधिक दोष दिखाये जा सकते हैं। ये दोष तो मानव की अपूर्णता के साथ हैं। किन्तु अन्य लेखकों की अपेक्षा प्रेमचंद की उपन्यास-कला में एक बड़ी विशेषता है—यथार्थवादी दृष्टिकोण से लिखे गये उपन्यास आदर्श के पक्ष को वालाएताक रख देते हैं, और आदर्शवादी उपन्यासों में यथार्थ की अवहेलना होती है—प्रेमचंद के कथानक और विषय दोनों में भले ही आदर्शवाद में परिणति मिलती हो, पर अपने उपन्यासों में उन्होंने पात्रों को अपने स्वभाव के अनुरूप ही चलने दिया है। पात्र-चित्रण में अथवा समस्या के उद्घाटन में अपनी समस्त शक्ति के साथ उन्होंने यथार्थ को प्रकट किया है। उपन्यासों में जिस प्रश्न को उन्होंने उठाया है उसकी पूरी परीक्षा करा डाली है उसे पूरी तरह खोलकर रख दिया है। किन्तु उस सब विशृङ्खल-विश्लेषण और Chaos में से मानवीय मर्म को छूकर उन्होंने वह तत्व प्रकट किया है जो उस अस्तव्यस्तावस्था को एक केन्द्र में समा लेता है। जिसके समक्ष जीवन के Material Considerations हेय पड़ जाते हैं, और हारे हुए मानव के मानवीय गुण भी देदीप्यमान हो उठते हैं। प्रेमचंद के उपन्यास इसीलिए महान् पतनों और महान् असफलताओं के चित्र लिये हुए हैं—और उनके कारण उनकी उपन्यास-कला सदा उद्दीप्त रहेगी। किसी उपन्यास की सफलता और उत्कृष्तटा ऐसी ही महानताओं पर निर्भर करती हैं। प्रेमचंद की ये महानतायें अन्य अनेक कलाकारों से भी महान् समझी जानी चाहिए। उनकी इन महानताओं का केन्द्र-बिन्दु वह प्रेम नहीं जिसमें स्वयं चसक होती है, और जो संसार के महान् कलाकारों का सबसे बड़ा विषय है। वह प्रेम नहीं जो यौन (sex) है, वह प्रेम नहीं जिसके सहारे वर्णन में किंचित रंगीनी अथवा किंचित गम्भीरता ले आने पर हृदय पर सहज ही अधिकार पाया जा सकता है। ऐसे क्षेत्र को प्रधानता न देकर मानव-जीवन के जीवनमय क्षेत्रों के सूत्रों में उन महानताओं की उत्थापना करने के कारण प्रेमचंद की उपन्यास-कला अमर है। संसार में आज इतने महान् कलाकार हुए हैं एक दूसरे से धरातल, टेकनीक, सन्देश सबमें छत्तीस—उनकी महानता की कसौटी हमें स्वयं उन्हीं में मिली है। वे अपने रूप में अकेले रहे हैं। और ऊँचे रहे हैं तभी महान् रहे हैं। किसी अन्य कसौटी से जाँचने पर उनकी महानता समझी ही नहीं जा सकती। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी कला के जो मान प्रकट किये, क्या उनके आधार पर शरद और हार्डी या किसी अन्य महान् कलाकार को महान् कहा जा सकता है? शरद को कसौटी मानकर चलने से रवीन्द्र का क्या मान ठहरेगा? तुलना करने के दम्भ

को छोड़ देने पर प्रेमचंद की महानता एक दम स्पष्ट हो उठती है और उनकी कला के प्रति पाठक और विचारक का हृदय श्रद्धा से अभिभूत हो उठता है।

कहानी-कला पर भी दृष्टि डालना आवश्यक है। जैसा उपर एक उदाहरण दिया गया है उससे प्रकट है कि प्रेमचंदजी ने कहानियों में कई शैलियों का प्रयोग किया है। कितनी ही नयी टेकनीकों का भी प्रयोग मिलता है। टेकनीकों और शैलियों का इतनी विविधता और सफलता से अधिकारपूर्वक उपयोग करने वाला हमें तो दूसरा कहानी-लेखक दिखायी नहीं पड़ा। साधारण कोटि के लेखकों में ही नहीं वरन् बड़े-बड़े लेखकों में भी, विषय-वस्तु में भले ही वैविध्य मिल जाय, शैली में और टेकनीक में एक ही परम्परा मिलती है। विधाता जिस प्रकार कोई दो शक्लें एक-सी नहीं बनाता, प्रेमचंद भी कोई दो कहानियाँ एक शैली और एक टेकनीक पर नहीं लिखते। इससे यह अत्यन्त स्पष्ट है कि इस कला में वे पूरे सिद्धहस्त थे। वे वर्तमान युग के यथार्थ कलाकार थे। कहानियों में उन्होंने अपने समय को पूर्णतः प्रतिबिम्बित कर दिया है। उन्होंने छोटी से छोटी कहानी लिखी है और बड़ी से बड़ी कहानी लिखी है। उन्होंने केवल कथोपकथन रूप में भी कहानी लिखी हैं और विस्तृत वर्णनवाली कहानियाँ भी लिखी हैं। उन्होंने घटना-घटाटोप से युक्त कहानियाँ भी लिखी हैं और शुद्ध घटना-शून्य कहानियाँ भी लिखी हैं। आशा और निराशा के झकोरों से उद्वेलित मानव-मन की ये कहानियाँ सच्चा इतिहास-सा प्रतीत होती हैं। उनमें मानव-मन को रमाने की भी पूर्ण शक्ति विद्यमान मिलती है। उनकी इतनी कहानियों में केवल बहुत थोड़ी ही ऐस कहानियाँ हैं जो कला की दृष्टि से दरिद्र कही जा सकती हैं। कहानी-कला में भी फलतः प्रेमचंदजी अद्वितीय हैं। यथार्थतः तो ऐसा प्रतीत होता है कि क्या कहानी, क्या उपन्यास सभी में प्रेमचंद एक से सफल हैं। हाँ, नाटकों में वे अवश्य एकदम असफल रहे हैं।

फिर भी अभी हम दोनों की तुलना तो कर ही नहीं पाये, दोनों के सम्बन्ध में अलग-अलग वक्तव्य देने से समस्या नहीं सुलझती। उनके उपन्यासों और कहानियों की तुलना करने से भी यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वे दोनों में ही समान अधिकार रखते थे। उपन्यासों में जिन दोषों की उद्‌भावना करके उन्हें कहानियों से नीचा गिराया जाता है, वे सभी दोष एक आरोप में आ सकते हैं। यह कि प्रेमचन्द कला में उपयोगितावाद के मानने वाले थे। 'कला-कला के लिए' के पक्षपाती न थे। पर इस उपयोगितावाद का अभाव कहानियों में

भी कहाँ हैं ? कहानियाँ झाँकी हैं—झाँकी में जितना आता है उतना ही प्रेमचंद ने कहानियों में दिया है। उपन्यास में प्रत्येक बात को विशद रूप से उपस्थित किया गया है। मनोवृत्ति वही है। पर जो ठीक-ठीक परख कर जानते हैं वे यह भी मानेंगे कि उपयोगिता के लिए उन्होंने कला की हत्या नहीं की। 'गोदान' के प्रकाशित होने के उपरान्त तो यह किसी भी प्रकार नहीं कहा जा सकता। प्रोफेसर रघुपतिसहायजी ने ठीक ही लिखा है कि :—

"इतना सब कुछ होने पर भी वह हिन्दी और उर्दू के सबसे बड़े उपन्यास-लेखक थे और उनकी गणना भारतवर्ष की दूसरी भाषाओं के दो-चार बहुत ऊँचे दरजे के उपन्यास-लेखकों में थी। उनके छोटे और बड़े सभी प्रकार के उपन्यासों के कुछ विशिष्ट अंश, जिनकी संख्या बहुत अधिक है, इस बात के सूचक हैं कि उपन्यास-लेखन-कला में प्रेमचन्दजी पूर्ण पण्डित और पारंगत थे। और उन्हीं अंशों के कारण वह अपनी अच्छी-अच्छी कहानियों से भी कहीं अधिक ऊँचे हो जाते हैं। ये अंश देववाणी के ढङ्ग से लिखे हुए मालूम होते हैं और अमर महत्व के पताका-वाहक हैं। उनमें से प्रत्येक अंश किसी बहुत प्रतिष्ठित और पूर्ण कलाकार के अधूरे कृत्य मालूम होते हैं। यहीं प्रेमचंद आसमान के तारे तोड़ लाते हैं। 'रङ्गभूमि' या 'चौगाने हस्ती' के प्रारम्भिक पृष्ठों में बतकल्लुफ जिन्दादिली, सादगी, प्रवाह, ओज और संकेतों के महत्व अपना जवाब नहीं रखते।

इसी प्रकार हम देखते हैं कि उनके उपन्यासों में भी 'शतरंज के खिलाड़ी' नहीं मिल सकते, 'कफन' जैसी ऊँची कलामय पवित्रता भी किसी उपन्यास में नहीं मिलेगी। हीरो की मस्ती में भी विकलता है पर कफन के बाप-बेटे अमर हैं और प्रेमचंद की कहानियाँ ही उन्हें उपस्थित कर सकती हैं, उपन्यास नहीं।

[साहित्य-सन्देश, अगस्त १९४४।

———

वृन्दावनलाल वर्मा

[डा० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल 'तरुण']

एक दीर्घ काल तक आत्म-द्रव की रसमयी धारा बहाने वाले हिन्दी-उपन्यास क्षेत्र के सर वाल्टर स्कॉट डॉ० वृन्दावनलाल वर्मा अपने जीवन के ७० वर्ष पूरे कर रहे हैं। हिन्दी के लिए यह बड़े ही गौरव और प्रसन्नता का विषय है। वर्माजी हिन्दी के चोटी के उपन्यासकारों में से हैं। उनके सफल साहित्यिक जीवन पर उनका चारों ओर हार्दिक अभिनन्दन हो रहा है। इस दीपोत्सव पर द्वीप जलाना और दीपमालिका देखने के लिए निकलना—दोनों ही आज मानों अपने कर्तव्य में लग रहे हैं। १७ वर्ष पूर्व मैं उनकी लेखनी से सबसे पहले परिचित हुआ था—'विराटा की पद्मिनी' को कई बार पढ़कर। पर, उसे पढ़कर अन्य कृतियों के लिए तृषातुर सा किसी पुस्तकालय में नहीं गया। समय फेनिल लहरें अपने कन्धे पर सहज रूप में जो कुछ लेकर आईं उन्हें मैंने उतार लिया और शीष चढ़ाया। पढ़ा और मजा आया। उनके उपन्यास नाटक पढ़ते समय अपनी रस मग्नता की सुरक्षा बनाये रखने के लिए एकाधबार में 'तुनकमिजाज' भी कहलाया। पर फिर भी वर्माजी का मैं नियमित पाठक नहीं बन सका। उपन्यास कहानियाँ पढ़ने में सदा से रुचि कम रही है। लहरें जैसे तारों की किरणों की जुगाली करती हैं, वैसे ही यदि किसी उपन्यास को चबा चबाकर पढें तो फिर गहरा रस आने लग जाता है। सपाटे से ३००-४०० पृष्ठों का उपन्यास चट कर जाने की बात मेरी समझ में नहीं आती। हाँ, तो उपन्यास पढ़ने में मेरी यह गति रही है। ऐसी स्थिति में युग-निर्माता लेखक की सभी रचनाओं को कैसे पढ़ पाता। वर्माजी की ४ कृतियों (विराटा की पद्मिनी, झाँसी की रानी, मृगनयनी और पूर्व की ओर) से मैं पर्याप्त अन्तरङ्गता से परिचित हुआ हूँ और उनकी माधुरी में डूब कर मुझे मोम का रस मिलता है।

जो कुछ पढ़ा है केवल उतने से ही वर्माजी का व्यक्तित्व मेरी आँखों को बड़ा बहुमुखी, पुष्ट, भास्वर और सरस दिखाई पड़ रहा है। अन्तःकरण को

पूरी शक्ति ताजगी और उत्साह देने वाले साहित्य में सब विटैमिन चाहिए । किसी भी लेखक के साहित्य में ये 'विटैमिन' तभी आ सकेंगे जब उस साहित्य का स्रष्टा जीवनी शक्ति से सम्पन्न हो । जो स्वयं ही तिकौना है वह औरों को चारपाई का सुख कहाँ से पहुँचा सकेगा ? आकर्षक है सचमुच वर्माजी का व्यक्तित्व ! बीहड़ वनों का भ्रमण, शिकार का शौक, मालिश, कटोरों घी-मलाई, सौ डेढ़सौ संतरों का रस और उतने ही आम पचाने की शक्ति, बागवानी, सितारवादन, इतिहास का गम्भीर अध्ययन अनुशीलन, स्थापत्य, मूर्ति, चित्र आदि कलाओं का प्रेम, वकालत और सामाजिक-राजनीतिक गतिविधियाँ—सब में क्या खूब सङ्गति बैठी है। जीवन एकाङ्गी नहीं—भरापूरा, सुडौल और पॉजिटिव्ह । उपन्यास लिखना यों ही थोड़े ही है । जिसने जीवन नहीं देखा, वह क्या उपन्यासकार बनेगा । आतशी शीशे में जितने रङ्ग होते हैं, उपन्यासकार के लिए जीवन के उतने सब रङ्गों का ज्ञान जरूरी है और वर्माजी में न्यूनाधिक रूप में वे सब यत्र-तत्र दिखाई पड़ते हैं । वर्माजी का जीवानानुभव विस्तृत और गहन है, उनकी जिज्ञासा जेठ के दोपहर की खड़ी किरण सी पैनी है, उनकी ठेस खाने की क्षमता बड़ी गहरी है । देश के जातीय गौरव पर आँच आई कि वर्माजी इतिहास के सहस्रार्जुन बन खड़े होते हैं । ऐसा है वर्माजी का सर्वाङ्गपूर्ण सबल व्यक्तित्व । ऐसे व्यक्तित्व से छन कर निकला साहित्य वाणी की देवी की काली घाटियों के बीच की जगह अथवा भाल के बीच ही कहीं बैठाया जाता है ।

वर्माजी के साहित्य की बारीकियों में उतरने के लिए यह स्थान उपयुक्त नहीं । निशारम्भ में जैसे प्रमुख तारे अनायास ही दिखाई पड़ जाते हैं ऐसे ही वर्माजी के साहित्य की कुछ मोटी-मोटी विशेषताएँ उनका नाम आते ही स्वतः चमक उठती हैं । सबसे पहले ध्यान जाता है उनके सृजन के अखण्ड अविरल प्रवाह पर । कागज के मिल बहुत, समन्द भरी मसी भी क्या कठिन है, और छापेखाने बेशुमार । लिखने वाले लिक्खाड़ों की भी इस युग में क्या कमी ! पर जिसे 'लिखना' कहते हैं वह सर्वत्र कहाँ ? अस्तु । एक युग तक निरन्तर लिखते रहने के प्रायः दो ही अर्थ हो सकते हैं—या तो कूड़ा, या प्राणों के अटूट अखण्ड लावे की, चेतना की, या रस की बेचैन अभिव्यक्ति । स्पष्ट है कि यदि भीतर कहने को कोई गहरी, अथाह और पते की बात हो तो लेखनी राम की सतवन्ती सीता की तरह साथ देगी । कहने की बात केवल इतनी ही है कि तीन बीसी और दस, अर्थात् ७० वर्ष की आयु तक लेखनी चाँदी से चमकते हिमशृङ्गों से निकल कर बहते ग्रीष्मकालीन झरने की तरह कल-कल करती

रहे, यह वर्माजी के रक्त की लालिमा के गाढ़ेपन और जीव-ज्वाल का ही विक्रम है।

वर्माजी ने जीवन के कोई नए मूल्य स्थापित नहीं किये। करने की गुञ्जायश भी कहाँ है ? सत्य, शिव और सुन्दर—इन तीन शब्दों में जीवन का उत्तमांश निचोड़ कर शताब्दियों से डाला जा चुका है। साहित्यकार की मौलिकता है इनकी व्याख्या में, इनमें नया अनुपात स्थापित करने में। वर्माजी ने कोरे इतिहास की या इतिहास गत सत्य की नहीं, किन्तु उसके माध्यम से जीवन के 'शिव' और 'सुन्दर' की प्राणवान् अभिव्यक्ति की है। वे इतिहासकार नहीं हैं, ऐतिहासिक कथाकार अथवा नाटककार हैं। ऐसा स्वीकार करते ही हम उनके साहित्य के एक मूल्यवान् तत्व—कल्पना की चर्चा पर आ जाते हैं। इस तत्व ने उनके साहित्य में जादू भर दिया है। इतिहास की बिखरी कड़ियों को जोड़ भर देना तो कल्पना का एक साधारण सा व्यापार कहा जा सकता है। कल्पना का पूरा रस तो वहीं उत्पन्न होता है जहाँ ऐतिहासिक तथ्यों के अस्थि-जाल के सहारे खड़े मानव-जीवन के स्नायु-जल को कवि तथा उपन्यासकार मानवीय भावनाओं और आदर्शों के रक्त, रस और तेज से जीवंत और प्राणवान् बनाता हैं। यह वही व्यक्ति कर सकता है जो ऐतिहासिक कल्पना का कुबेर हो। यह ठीक है कि कभी-कभी अत्यधिक इतिहास निष्ठा के कारण वर्माजी के उपन्यासों के कुछ स्थलों पर उपन्यास और इतिहास का अन्तर करना जरा कठिन हो जाता है, पर यह कहना भी ठीक है कि कल्पना के बल पर कथा-रस की सृष्टि करने में वर्माजी अत्यन्त कुशल हैं। कल्पना के बल पर किसी युग का जीता-जागता या प्रत्यक्ष चित्र अङ्कित करने की कला में वर्माजी हिन्दी के चोटी के कलाकारों में से हैं। युग का चित्र प्रस्तुत करना ही अपने आप में एक बहुत बड़ी सिद्धि नहीं। युग के चरित्र-निरूपण के द्वारा सांस्कृतिक गौरव का प्रकाशन अथवा मानवता के विशिष्ट गुणों की अभिव्यक्ति उनका गूढ़तम लक्ष्य है। वर्माजी का युग-चित्रण तथा चरित्र-निरूपण व्यापक सांस्कृतिक अथवा मानवीय मूल्यों के प्रयत्न से ही अनुप्राणित रहता है।

मानव और प्रकृति—दोनों मानो एक ही बीज के दो अंकुर हैं। वर्माजी को जहाँ मानव, समाज, इतिहास और मानव की समस्याएँ आकृष्ट करती हैं, वहाँ उन्हें बाह्य प्रकृति का अपार ऐश्वर्य भी विस्मय विमुग्ध कर देता है। वास्तव में वर्माजो की यह एक ऐसी विशेषता है जो छिपाये नहीं छिपती। सृष्टि का रहस्यपूर्ण वैचित्र्य टकटकी लगा कर देखते रहने की वस्तु है। जहाँ

भी प्रकृति-वर्णन की गुञ्जायश दिखाई पड़ी कि वर्माजी उस अवसर को हाथ से नहीं जाने देते। ध्यान देने की बात यह है कि उन्हें प्रकृति के रूखे, निर्जन, बेडौल, भीषण और अनगढ़ रूप बड़े वेग से आकृष्ट करते हैं। निर्जन बीहड़ वन, पहाड़, समुद्र, पठार, अरण्य, आँधी-पानी, पतझड़, भयानक और हिंस्र वनचर आदि के वर्णनों में वर्माजी को एक बड़ा गहरा रस मिलता है। सरस और कोमल के प्रति ही जो सदा आकृष्ट रखते हैं, ऐसे वर्णन प्रिय लगें या न लगें, किन्तु जिन्हें सृष्टि अपने सब रूपों में प्रिय है वे इन वर्णनों को पढ़ कर अवश्य ही रस-मग्न हुए बिना न रह सकेंगे। ये वर्णन प्रत्यक्ष निरीक्षण पर आधारित रहते हैं अतः इनमें मिलने वाले संश्लिष्ट विवरण वर्माजी की सूक्ष्म प्रकृति-निरीक्षण शक्ति को बड़ी ही सुन्दरता से व्यक्त करते हैं।

वर्माजी के उपन्यासों में कथा और चरित्र-चित्रण का प्रायः समान महत्त्व दिखाई पड़ता है। कथा के ऐतिहासिक होने के कारण उसमें पाठकों के लिए सहज आकर्षण होना तो स्वाभाविक ही है क्योंकि ऐतिहासिक घटनावली के वर्णन में पाठकों के मन को वशीभूत करने की एक गहरी मोहिनी छिपी रहती है। पर इतिहास का कोरा अङ्कन सजीव पात्रों की सृष्टि के बिना उच्चकोटि के साहित्यिक रस की धारा नहीं बहा सकता। उपन्यासकार इतिहासकार नहीं होता। वह अपने वास्तविक अस्तित्व को अपनी मौलिक पात्र-सृष्टि के द्वारा ही प्रगति करता है। वर्माजी का वास्तविक महत्त्व ऐतिहासिक कथा का रस उत्पन्न करने की क्षमता में न माना जा कर मौलिक चरित्र-सृष्टि ही में माना जायगा क्योंकि उसमें ही उनका जीवनादर्श, जीवन की समीक्षा और जीवन के वास्तविक स्वरूप की व्याख्या निहित है। वस्तुतः ये ही गुण हैं जो साहित्यकार को उसका वास्तविक गौरव प्रदान करते हैं। प्राणवान् चरित्र-सृष्टि के अभाव में इतिहास का निरूपण निर्जीव चौखटा मात्र है।

वर्माजी की पात्र-सृष्टि उनकी सबसे बड़ी विशेषता कही जा सकती है— विभिन्न मनोवृत्तियों व सामाजिक स्तरों के पात्रों की सोद्देश्य सृष्टि। कोरे मनोविज्ञान या कला के नाम पर उन्होंने ऐसे यथार्थवादी पात्रों की सृष्टि नहीं की है जो अपनी विशिष्ट मनोग्रन्थियाँ लिये स्थूल जीवन की प्रेरणाओं से ही परिचालित रहते हों। वर्माजी का साहित्य जातीय संगठन और सांस्कृतिक जीर्णोद्धार और पुनर्रचना का एक व्यवस्थित उद्योग दिखाई पड़ता है। उसमें राष्ट्रीयता और मानवता के मूल स्वर सुनाई पड़ते हैं। उनके नायक अथवा विशिष्ट पात्र राष्ट्रीय अथवा मानवीय उच्चादर्शों की प्राप्ति के लिए परिस्थितियों

से टक्कर लेकर, अन्धकार से जूझकर, और मानव-मन की निम्न प्रकृति पर विजय पाने के लिए संघर्ष करते हुए सतत् जागरूक भाव से, वेगवान् पानी की धारा की तरह बढ़ते ही जाते हैं, फिर चाहे उन्हें जय मिले या पराजय। अन्य पात्र या तो उनकी लक्ष्य-सिद्धि में सहयोगी हैं या शृङ्खलाओं की कड़ियाँ जोड़ने वाले या कथा के टूटे जाल को बुनने वाले हैं, या गति में बाधा उपस्थित करने के कारण या तो स्वयं पिसने-कुचलने के लिए होते हैं या अन्धकार को गाढ़ा बनाकर आलोकवान् पात्रों की भाँति और सौन्दर्य को और भी अधिक निखारने वाले सिद्ध होते हैं। इस प्रकार ये सब पात्र प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में कथाकार के व्यापक उद्देश्य की सिद्धि के लिए नियोजित रहते हैं। पात्र-सृष्टि के द्वारा वर्माजी का व्यापक जीवन-निरीक्षण, उनकी मनोवैज्ञानिक सूक्ष्म दृष्टि और उनका विस्तृत व्यवहार ज्ञान सूचित होता है। अंग्रेज, मुसलमान, मराठे, बुन्देले, वीर, कायर, देशप्रेमी, देशद्रोही, विलासी, गृहस्थ, सामन्त, सरदार, सिपाही, राजा, वेश्या, साधु-सन्यासी, दास-दासी, गूजर, महतर, चमार, जंगलवासी, नट-नटी, व्यापारी, मन्त्री, योद्धा, कूटनीतिज्ञ, सौत, सखी, दुलहिन, प्रेमी-प्रेमिका, कवि, कलाकार, कारीगर, दुर्गरक्षक और ऐसे ही न जाने कितने प्रकार के विविध जाति, पद, व्यवसाय, वृत्ति, रुचि-प्रकृति के पात्रों की सृष्टि वर्माजी ने की है। कदाचित प्रेमचन्द के पश्चात इतना विशाल जीवन-फलक हिन्दी उपन्यासकारों में वर्माजी ने ही प्रस्तुत किया है। विस्तृत जीवन-फलक और सूक्ष्म मनोविश्लेषण दोनों ही चरित्र-सृष्टि के लिए आवश्यक हैं। कुछ लेखक अधिक पात्रों की सृष्टि कर लेते हैं पर उनका उचित निर्वाह और व्यवस्थापन नहीं कर पाते। यदि वे ऐसा कर भी लेते हैं तो वे सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण नहीं कर पाते, या पात्रों की अधिकता के कारण ऐसा करने के लिए उन्हें अवकाश ही नहीं मिल पाता। दूसरी ओर कुछ लेखक इने-गिने पात्रों को लेकर सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक गहराइयों में उतरने की अद्भुत क्षमता से ही हमें अधिक चमत्कृत करते हैं। वास्तव में पूरे प्रभाव के लिए जहाँ दोनों ही प्रकार की क्षमता का दर्शन हो, वहाँ मन की अपेक्षाकृत अधिक तुष्टि होती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उक्त दोनों प्रकार की विधाओं का अपना विशिष्ट सौन्दर्य और आकर्षण है, पर यह भी सत्य है कि जहाँ दोनों विधाएँ एक ही स्थान पर प्रदर्शित होती हैं वहां लेखक को सृजन वैशिष्य्य का श्रेय भी अवश्य प्राप्त होगा। वर्माजी की चरित्र-सृष्टि की यह एक महत्वपूर्ण विशेषता है।

चरित्र-सृष्टि से सम्बन्धित कुछ अन्य बातें भी ध्यान देने योग्य हैं। वर्माजी ने साधारण असाधारण, सभी प्रकार के पात्रों को लिया है। आदर्श,

भव्य या उदात्त वृत्ति वाले पात्रों के चित्रण में जैसा मनोयोग उन्होंने दिखाया है, वैसा ही मनोयोग समाज के अत्यन्त साधारण और निम्नवर्गीय पात्रों के प्रति दिखाया है। उन पात्रों के प्रति वर्माजी का मनोनिवेश उनके राष्ट्रीय, सामाजिक अथवा प्रजातांत्रिक दृष्टिकोण का परिचायक है। साधारण, सामान्य, और समाज के उपेक्षित पात्रों में वे कभी-कभी ऐसी चारित्रिक क्रांति उपजाते हैं कि मन मुग्ध हो उठता है। नागरिकता और सभ्यता के वातावरण से दूर विस्मृत पहाड़ियों, ग्रामों और खेत-खलियानों में से वे ऐसे ऐसे पात्र निकाल कर देते हैं जो मानवीय संस्कृति के सच्चे उन्नायक और प्रहरी हैं। उनके उच्च चरित्र की गरिमा और दीप्ति से हमारा मन विस्मित और नेत्र चमत्कृत हो उठते हैं। दया, करुणा, उदारता, संयम, श्रम, सन्तोष, सरलता, त्याग और कष्टसहिष्णुता जैसे उच्च गुण हमें वहाँ देखने को मिलते हैं। ऐसे पात्रों में पाठक की उत्सुकता और रुचि बड़ी गहराई से केन्द्रित हो जाती है। वीरता और प्रेम, इन दो मुख्य भावों से ही अधिकांश पात्र आदि से अन्त तक परिचालित होते हुए दिखाई पड़ते हैं। उच्च कोटि के प्रेम और वीरता के मिश्रण से वर्माजी अत्यन्त मनोमुग्धकारी पात्र प्रस्तुत करने में सिद्धहस्त हैं। जहाँ प्रेम (प्रणय), युद्ध और कर्त्तव्य पालन के कारण, अविकसित ही रह जाता है वहाँ पात्रों में एक अभिनव कारुण्यमयी शुभ्रता उत्पन्न हो जाती है जो अपने प्रभाव में अचूक होती है। वर्माजी ने सामन्ती संस्कृति और उसके सारे टीप-टाप और मसालों का भी वातावरण उपस्थित किया है। विलास के वातावरण की पृष्ठभूमि में सरल और विश्वासपूर्ण प्रणय की कांति भी खूब खिली है। यह भी ध्यान देने की बात है कि वर्माजी सामन्ती संस्कृति के उन रूपों के प्रति पूर्ण आकृष्ट और सहानुभूति शील दिखाई पड़ते हैं जो मानव के हृदय और बुद्धि के उत्कर्ष और प्रतिभा की अमर कहानी कह रहे हैं। मानव-चरित्र के उत्कर्ष में बाह्य जड़-प्रकृति का भी इतना योग है, इसका भी अत्यन्त सुन्दर संकेत स्थल-स्थल पर मिलता रहता है। प्रायः सत् पात्र अन्त में स्थूल-सूक्ष्म रूप में पुरस्कृत होते हैं और असत् या दुष्ट पात्र अपने दुष्कर्मों के अनुरूप ही दण्डित होते हैं।

वर्माजी के संवाद प्रायः बड़े रोचक एवं पात्रानुरूप होते हैं किन्तु अनेक स्थलों पर वे लम्बे, विवरणात्मक और तत्त्व विवेचनात्मक होकर अपनी सहज सजीवता को बहुत कुछ खो भी देते हैं। ग्रामीण पात्रों में आंचलिक भाषा या बोली का मौलिक सौन्दर्य भी निखर उठता है। लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग भी भाषा में जान डाल देता है। ऐतिहासिक कृतियों में युग का निरूपण

पूर्ण ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर किन्तु सहज-रमणीय कल्पना से होता है; युग की राजनीति, युद्धनीति, धर्म, दर्शन, विचार-धारा, कला, रहन-सहन, रीति-रिवाज, उत्सव-मेले, त्यौहार, विश्वास-परम्परा आदि के वर्णन से ऐतिहासिक तथ्यों के ठूँठ हरे-भरे हो उठते हैं। वर्णनों की यथार्थता और सजीवता भी मोहक होती है : भवन, गढ़, मन्दिर, चैत्य, पर्वत, मैदान, घाटी, नदी-सरोवर ऋतु आदि का वर्णन बहुत ही मोहक होता है। किन्तु अनेक स्थलों पर भवनों, किलों, मन्दिरों आदि का विशद-संश्लिष्ट वर्णन, उपन्यास के पाठकों की दृष्टि से, विषयानुपातिक और डुबाने वाला ही सिद्ध होता है—यद्यपि वह लेखक के सूक्ष्म निरीक्षण और कला-प्रेम का द्योतक भी अवश्य होता है।

संक्षेप में, उनकी सामग्री ऐतिहासिक-सामाजिक, उनका दृष्टिकोण जनतान्त्रिक और उनकी प्रेरणा राष्ट्रीय-सांस्कृतिक है। इनके कृतित्व में इतिहास, साहित्य और समाज का मञ्जुल सामञ्जस्य संघटित हुआ है।

[साहित्य-सन्देश, जनवरी-फरवरी १९५९।

————

यथार्थवाद और वर्माजी

[डा० गोविन्द त्रिगुणायत]

डॉ० वृन्दावन लाल वर्मा हिन्दी के महान उपन्यासकार हैं। यों तो उन्होंने सामाजिक और ऐतिहासिक दोनों कोटि के उपन्यास लिखे हैं, किन्तु ऐतिहासिक उपन्यास के क्षेत्र में उनकी समता करने वाला निर्विवाद रूप से कोई दूसरा उपन्यासकार सामने नहीं आता। उनके उपन्यासों की शिल्प-विधि बड़ी भव्य और कलापूर्ण है। उनको इतना भव्य और कलापूर्ण रूप देने का श्रेय उनके यथार्थवाद को है।

यथार्थवाद की चर्चा हमें साहित्य, दर्शन और इतिहास तीनों के क्षेत्र में मिलती है। प्रथम दो के सम्बन्ध में कुछ अधिक चिन्तन और विवेचन किया गया है। अन्तिम पर कुछ इतिहासकारों ने तो विचार किया है, किन्तु साहित्यकार उसके प्रति उदासीन से ही रहे हैं। वृन्दावनलाल वर्मा के यथार्थवाद के स्वरूप का अध्ययन उपर्युक्त तीनों प्रकार के यथार्थवाद के प्रकाश में ही किया जाना चाहिए।

साहित्य-क्षेत्र में यथार्थवाद को सर्वप्रथम प्रवर्त्तित करने का श्रेय फ्रान्स को है। अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण और उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में वहाँ इस वाद का उदय साहित्यिक सम्प्रदाय के रूप में हुआ था। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में जाकर यह सम्प्रदाय अपने प्रचार की पराकाष्ठा पर पहुँच गया। इस प्रचार में दुरन्ती नामक विद्वान द्वारा सम्पादित 'Realism' नामक पत्रिका ने अच्छा योग दिया। इसमें यथार्थवाद के जिस स्वरूप की प्रतिष्ठा की गई थी, वह बहुत स्वस्थ था। इस सम्प्रदाय के लोग जीवन के सौन्दर्यात्मक पक्ष के चित्रण को ही यथार्थ चित्रण मानते थे। देखिये फ्रेञ्च रियेल्जिम : दि क्रिटिकल रिएक्शन, लन्दन १९३७, पृष्ठ ११४। इस साहित्यिक सम्प्रदाय के ह्रासोन्मुख होने पर यथार्थवादी दृष्टिकोण भी पतनोन्मुख हो चला। उसका स्वस्थ स्वरूप जीवन के कुत्सित एवं अनैतिक पक्षों के उद्घाटनपरक विकृत रूप में परिणत हो गया। बहुत से साहित्यकार यथार्थवाद के इस

अनैतिक रूप को ही सच्चा यथार्थवाद मानने लगे तथा उसको नये-नये नाम देकर पोषित करने लगे। यथार्थवाद के ऐसे विकृत रूप के पोषकों के मुखिया फ्लावर्ट नामक पाश्चात्य विद्वान थे। अच्छा हुआ, यथार्थवाद के इस विकृत रूप का स्वागत उच्चकोटि के कलाकारों ने कम किया। फलस्वरूप इससे सम्बन्धित उपन्यास बहुत कम लिखे गए। हिन्दी साहित्य भी यथार्थवाद के इस स्वरूप से प्रभावित हुआ किन्तु उपन्यास-क्षेत्र में उसे अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त न हो सकी। इसीलिए उपर्युक्त ढङ्ग के यथार्थवादी उपन्यासों की संख्या हिन्दी में बहुत कम है। फिर भी कुछ कलाकारों ने यथार्थवाद के नाम को कलङ्कित करते हुए ऐसे उपन्यासों की रचना कर ही डाली है। ऐसे उपन्यासों में 'घेरे के बाहर' नामक उपन्यास का नाम निर्दिष्ट किया जा सकता है। योरुपीय उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में यथार्थवाद के जिस स्वरूप को विकसित करने का प्रयास किया है, वह दार्शनिक यथार्थवाद से बहुत कुछ अनुप्रेरित है। फ्रांस के साहित्यिक यथार्थवाद की छाया उस पर बहुत कम है।

योरुप में दार्शनिक यथार्थवाद के प्रमुख प्रवर्त्तक डेकार्टे और लौक नामक दार्शनिक माने जाते हैं। यह दोनों ही दार्शनिक रूढ़ि, परम्परा और अन्ध-विश्वासों के कट्टर विरोधी थे। उनका कहना था कि प्रत्येक साधक को सत्य के प्रयोग करते हुए अपने व्यक्तिगत अनुभवों के बल पर अनुभूत सत्यों को ही यथार्थ सत्य समझना चाहिए। डेकार्टे ने 'डिसकोर्स आफ मैथड्स' तथा 'मैडिटेशन' नामक रचनाओं में स्पष्ट रूप से घोषित किया है कि "सत्यान्वेषण शुद्ध रूप से व्यक्तिगत साधना है।" उसका पूर्व-परम्परा और चिन्तन से कोई सम्बन्ध नहीं है। दर्शन क्षेत्र के उपर्युक्त यथार्थवादी दृष्टिकोण की हमें उपन्यासों में साहित्यिक अभिव्यक्ति मिलती है। डेकार्टे और लौक नामक दार्शनिकों के अनुरूप ही कथा-साहित्य के प्रधान पाश्चात्य समालोचक ईवान वाट ने उपन्यास लेखकों के प्रमुख लक्ष्य का उल्लेख करते हुए लिखा है कि सच्चे उपन्यासकार का प्रमुख कर्त्तव्य अपनी जीवन साधना से उपलब्धि व्यक्तिगत अनुभवों का सच्चा और ईमानदारीपूर्ण प्रभावोत्पादक विवरण देना है। (दि राइज आफ दि नाविल, ईवान वाट, पृष्ठ ११ देखिये) उसके मतानुसार अपने उपन्यासों में उपर्युक्त ढङ्ग के इम्प्रेशन-विधान में जितने अधिक सफल होते हैं, उनकी उपन्यास कृतियाँ उतने ही सुन्दर यथार्थवाद की अभिव्यक्ति करती है।

उपर्युक्त ढङ्ग के इम्प्रेशन विधान के लिए उपन्यासकार को सामान्य के स्थान पर विशेष को महत्त्व देना पड़ता है। जैसा कि केस्म ने अपने "ऐलिमेण्ट्स

ग्राफ क्रिटिसिज्म" में लिखा है—विम्ब (इम्प्रेशन) सदैव विशेष के ही प्रभावपूर्ण होते हैं, क्योंकि विम्ब-ग्रहण कराने की शक्ति विशेष में होती है। ईवान वाट के मतानुसार उपन्यासों में इस विशेष की प्रतिष्ठा दो रूपों में प्रधान रूप से की जा सकती है–एक चरित्र-चित्रण के रूप में और दूसरे वातावरण-निर्माण के रूप में। पात्र और स्थान दिक्, काल और देश की सीमाओं से परिच्छिन्न होकर ही विशेषत्व को प्राप्त होते हैं। उपन्यास में कलाकार की सफलता पात्रों और स्थानों को समुचित दिक्, काल और देश की सीमाओं में परिच्छिन्न करने में ही सन्निहित रहती है।

इतिहास क्षेत्र में भी यथार्थवाद को महत्त्व दिया जाता है। इस यथार्थ-वाद में बाह्य जगत का चित्रण विषयगत अधिक रहता है, विषयीगत कम। इतिहास का अध्ययन जितना अधिक विषयगत होता है उतना ही अधिक भूत और भविष्य का भेद स्पष्ट रहता है और जितना अधिक भूत और भविष्य का भेद स्पष्ट रहता है, उतना ही अधिक वह विवरण यथार्थ समझा जाता है। ('राइज ग्राफ इँगलिश लिटरेरी हिस्ट्री : रेनी वैलेक')

यथार्थवाद की उपर्युक्त तीनों धाराओं के प्रकाश में यदि वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों का अध्ययन किया जावे तो स्पष्ट अनुभव होगा कि वह दार्शनिक और ऐतिहासिक इन दो प्रकार के यथार्थवादों से प्रभावित होते हुए भी मौलिक है।

वृन्दावनलाल के उपन्यासों में हमें यथार्थवादी चरित्र चित्रण की प्रवृत्ति प्रधान रूप से परिलक्षित होती है। यथार्थवादी चरित्र-चित्रण की कुछ अपनी विशेषताएँ होती हैं। यथार्थवादी कलाकार अपने पात्रों को यथाशक्ति टाइप के रूप में विकसित नहीं करते हैं। उनके सभी पात्रों का एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व रहता है। इस व्यक्तित्व को रूप देने का श्रेय परिस्थितियों को होता है। यथार्थवादी कलाकार पात्रों के चरित्र को किसी निश्चित पूर्व परम्परा के अनुरूप नहीं ढालते। वे अपने पात्रों के चरित्र का विकास मनोविज्ञान के सूक्ष्मातिसूक्ष्म सिद्धान्तों के प्रकाश में करते हैं। यही कारण है कि यथार्थवादी चरित्र-चित्रण में पात्र का चरित्र कब किस रूप में कैसा मोड़ लेगा इसका अनुमान पाठक नहीं कर पाता। इस कोटि के चरित्र-चित्रण में पात्र अधिकतर विशिष्ट वातावरण के बीच में रखकर प्रस्तुत किए जाते हैं। यही नहीं, कलाकार पात्रों के व्यक्तिगत स्वरूप का एक अच्छा रेखाचित्र भी खींच देता है, जिससे पात्रों का बाह्य व्यक्तित्व भी निखर जाता है। वह अपने पात्रों का नामकरण भी यथार्थवादी

ढङ्ग से करता है। यथार्थवादी नामकरण में पात्रों को ऐसा नाम दिया जाता है जिससे वे एक विशेष व्यक्ति के रूप में ही सामने आ पाते हैं। (देखिए 'दि राइज आफ दी नाविल, ईवान वाट, पृष्ठ १९) पात्रों को यथार्थवादी रूप देने के लिए कलाकार उन्हें दिक्, काल और देश की सीमाओं में सँवार कर चित्रित करते हैं। इस दृष्टि से वे लौक नामक दार्शनिक से प्रभावित हैं। लौक ने बड़े विस्तार से प्रतिपादित किया है कि विचार और धारणाओं में जब तक दिक्, काल और देश की सीमाओं में स्वतन्त्र रहती हैं, तब तक वे सामान्य रहती हैं, उनसे परिच्छिन्न होने पर ही वे विशेष की कोटि में आ पाती हैं। विम्ब-विधान के लिए पात्रों के विशेष रूप की ही महत्ता मानी जाती है। सफल यथार्थवादी उपन्यास इसीलिए अपने पात्रों को देश काल की सीमाओं से परिच्छिन्न करके प्रस्तुत करते हैं। उन्हें वे एक विशेष सैटिंग में सँवार कर रखते हैं। यथार्थवादी चरित्र-चित्रण की उपर्युक्त विशेषताओं के प्रकाश में यदि हम वृन्दावनलाल वर्मा की चरित्र-चित्रण कला का अध्ययन करें तो हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि उनके उपन्यासों में उनकी सारी विशेषताएँ स्पष्ट उभरी हुई दिखाई पड़ती हैं। वृन्दावनलाल वर्मा ने पात्रों की कल्पना में किसी परम्परा का अनुकरण नहीं किया है। अब उन्होंने अपने उपन्यासों में अनेकानेक कोटि के पात्रों की अवतारणा की है। उनके पात्रों को किन्हीं निश्चित वर्गों में सरलता से नहीं बाँटा जा सकता। इसका कारण यह है कि उनका प्रत्येक पात्र अपना एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखता है जिससे दूसरे पात्र का व्यक्तित्व मेल नहीं खाता। वर्माजी के पात्रों की व्यक्तित्व की निरपेक्षता और स्वतंत्रता ने उनकी यथार्थवादी चरित्र-चित्रण कला में चार चाँद लगा दिये हैं। निरपेक्ष और स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्रधान पात्रों के उदाहरण के रूप में हम 'गढ़ कुण्डार' के नागदेव, 'झाँसी की रानी' के दूल्हाजी, 'विराटा की पद्मिनी' के अलीमर्दन, 'कुण्डली चक्र' के भुजबल और शिवलाल आदि के नाम निर्दिष्ट कर सकते हैं। वर्माजी ने अपने पात्रों के चरित्र का विकास किन्हीं पूर्व निश्चित परम्परा के आधार पर नहीं किया। उनके पात्रों का चरित्र अधिकतर परिस्थितियों के घात प्रतिघात में विकसित होता है। कहीं-कहीं पर तो यह परिस्थितियाँ पात्रों के चरित्र को इतना अधिक विशेष रूप प्रदान कर देती हैं कि उनके चारित्रिक मोड़ों और विशेषताओं की पाठक कल्पना तक भी नहीं कर पाता है। 'विराटा की पद्मिनी' के देवीसिंह का चरित्र इसका ज्वलन्त उदाहरण है। पाठकों ने क्या स्वयं देवीसिंह ने भी कभी यह कल्पना नहीं की होगी कि वह कभी दलीप-नगर की गद्दी का स्वामी बन बैठेगा। किन्तु परिस्थितियों ने उसे उसका स्वामी

बना ही दिया । यह परिस्थितियाँ किन्हीं पूर्व निश्चित धारणाओं अथवा योजनाओं से अनुपूरित नहीं हैं । इन परिस्थितियों का मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों से सुन्दर सामञ्जस्य रहता है । परिस्थितियाँ और मनोवैज्ञानिक आधार ही पात्रों के चरित्र में यथार्थता की प्रतिष्ठा करते हैं । उनके उपन्यासों के नायक नायिकाओं के चरित्र का विकास मनोवैज्ञानिक और परिस्थितिजन्य रूपों में ही अधिक हुआ है । अन्य पात्रों के चरित्र-चित्रण का आधार भी मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि ही है । उदाहरण के लिए हम 'कचनार' के दलीपसिंह, तथा 'विराटा की पद्मिनी' के नायकसिंह आदि पात्रों के नाम निर्दिष्ट कर सकते हैं । इनके चरित्रों का विकास सर्वथा मनोवैज्ञानिक ढङ्ग से हुआ है । उन्होंने अपने पात्रों को एक सैटिंग में भी प्रस्तुत करने की चेष्टा की है । जैसे मृगनयनी का यह उदाहरण है । इसमें लाखी और मृगनयनी का, शिकार को जाते समय का चित्र प्रस्तुत किया गया है ।

"जङ्गल में धीरे-धीरे आहट लेती हुई दोनों बढ़ रही थीं । लू के झकोरों से भूमि के बारीक कंकड़ और बिछे हुए पत्ते उड़-उड़ कर निन्नी के तपे हुए गोरे और लाखी के साँवले गालों पर पड़-पड़ जा रहे थे । उन दोनों ने ओढ़नी को सिर से लपेट रखा था । घुटनों तक मोटे लहगों का कच्छ, उरोज कंचुकी से ढके हुए, पीठ से लगे हुए पेट उघाड़े । गले में मुँगी और काँच के छोटे बड़े दानों की माला । कलाइयों पर काँच की दो-दो चूड़ियाँ पैरों में काँसे या पीतल तक का कड़ा नहीं ।"

वर्माजी ने अपने पात्रों की रूप रेखा भी बहुत यथार्थवादी ढङ्ग से प्रस्तुत की है । ये पात्र का वाह्य रूप रँग कुछ ऐसा प्रस्तुत कर देते हैं जो उसकी अपनी विशेषता बन जाते हैं । उदाहरण के लिए हम मृगनयनी में महमूद बघर्रा का यह चित्र ले सकते हैं—

"महमूद बघर्रा साढ़े तीन हाथ से अधिक ऊँचाई का था परन्तु चौड़ा इतना था कि बौना मालूम होता । इस समय आयु उसकी लगभग पैंतालीस वर्ष की थी । मूछें इतनी लम्बी कि सिर पर उनकी गाँठ बाँधता था और दाढ़ी नाभि के नीचे तक फटकार मारती थी ।"

इस प्रकार यह निस्सङ्कोच कहा जा सकता है कि वर्माजी ने अपने चरित्र-चित्रण को यथाशक्ति यथार्थवादी बनाये रखने की चेष्टा की है ।

उपन्यास की यथार्थवादी प्रवृत्ति का पता हमें देशकाल की योजना से भी चलता है । ई० एम० फोस्टर ने लिखा है कि उपन्यास की प्राणभूत विशेषता

उसका देशकाल चित्रण है। (देखिए आस्पेक्टस आफ नौविल, पृष्ठ २६-३०) यथार्थवादी दार्शनिक लोक ने लगभग इसी बात को दुहराते हुए लिखा है— जीवन को देशकाल की परिधि में प्रस्तुत करना ही व्यक्तित्व विधान का सिद्धान्त है। (देखिए, दि राइसज आफ नाविल पृष्ठ १६) सफल यथार्थवादी कलाकार इसीलिए अपने उपन्यासों में देश, काल चित्रण को विशेष महत्त्व दिया करते हैं। वर्माजी ने इस ओर कुछ और अधिक ध्यान रखा है। सम्भवतः उसका कारण यह है कि उनके अधिकांश उपन्यास ऐतिहासिक हैं। ऐतिहासिक कथाबस्तु तब तक यथार्थ रूप में प्रस्तुत नहीं की जा सकती, जब तक उस कथा से सम्बन्धित देश काल का सम्यक और यथार्थ चित्रण न किया गया हो। वर्णन को सजीवता और यथार्थता प्रदान करने के लिए वर्माजी ने सदैव ही स्थानीय वातावरण का चित्रण किया है। उदाहरण के लिए हम उनके 'अहिल्याबाई' नामक उपन्यास का निम्नलिखित उद्धरण दे सकते हैं। इस उद्धरण में शिकार की एक घटना को काल और स्थान विशेष से परिच्छिन्न कर उसको बिशेष रूप प्रदान किया गया है—

"चोरल नदी से पठार की ओर चढ़ाई है। फिर कहीं जंगल, मैदान, कहीं बड़े-बड़े भरके और खड्ड। इनकी एक ओर चोरल नदी है। हाँके पर हाँके हुए और तीसरा पहर अपनी अन्तिम घड़ी पर आ गया। तब कहीं एक शेर मल्हार की अनी पर चढ़ा। शेर के कन्धों पर बन्दूक की गोली पड़ी। वह गिरा और उठकर घिसटता हुआ एक खड्ड की ओर चला गया।"

इसी प्रकार का उदाहरण 'विराटा की पद्मिनी' से देखिए—

"गढ़ के ठीक सामने पूर्व की ओर नदी के बीचोंबीच एक टापू पर एक छोटा मन्दिर छोटी सी दृढ़ गढ़ी के भीतर था। इस मन्दिर में उस समय दुर्गा की मूर्ति थी। जीर्णोद्धार होने के बाद अब उसमें शङ्कर की मूर्ति स्थापित है। दक्षिण की ओर यह टापू एक ऊँची पहाड़ी में समाप्त हो गया है। कहीं-कहीं पहाड़ी दुर्गम है। जिस ओर यह लम्बी-चौड़ी चट्टानों में ढल गई है, उस ओर विस्तृत नीलिमामय जल-राशि है। नदी की धार टापू के दोनों ओर बहती है, परन्तु टापू से पूर्व की ओर धार बड़ी और चौड़ी है। इस पहाड़ी के नीचे एक बड़ा भारी दह है।"

इस प्रकार के स्थानीय देश काल सम्बन्धी वर्णन ऐतिहासिक उपन्यासों के लिए वहुत अंश में अनिवार्य होते हैं। राहुल साँकृत्यायन ने ठीक ही लिखा है—"ऐतिहासिक उपन्यासों में हमें ऐसे समाज और व्यक्तियों का चित्रण करना

पड़ता है, जो सदा के लिए वियुक्त हो चला है, किन्तु उन्होंने कुछ पद चिन्ह अवश्य छोड़े हैं, जो उनके साथ मनमानी करने की इजाजत नहीं दे सकते।" (आलोचना का उपन्यास विशेषाङ्क देखिए)

उपन्यासों में, विशेषकर ऐतिहासिक उपन्यासों में हमें दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। एक प्रवृत्ति तो वह है जो केवल इतिहास से नाम भर लेकर काल्पनिक घटनाओं आदि के विवरण में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझती हैं। उसे ऐतिहासिक तथ्यों की यथार्थता और अयथार्थता की चिन्ता नहीं रहती। इसके विपरीत एक दूसरी प्रवृत्ति भी दिखाई पड़ती है। इसमें कलाकार कल्पना का उपयोग कुछ सीमित रूप में करता है। उसकी कल्पना वहीं तक नए चित्र कल्पित करती है, जहाँ तक ऐतिहासिक तथ्यों पर व्याघात नहीं पड़ता। पहली प्रवृत्ति आदर्शात्मक है और दूसरी यथार्थ प्रधान। वर्माजी में हमें दूसरी प्रवृत्ति की ही प्रधानता दिखाई पड़ती है। उन्होंने सर्वत्र ऐतिहासिक तथ्यों की खोज की है और उन सत्यों के लुप्तांशों को अपनी कल्पना शक्ति में पुनर्जीवित करने का प्रयास किया है। वर्माजी ने ऐतिहासिक तथ्यों की खोज में कितना प्रयत्न किया है, इस बात का पता उनके 'टूटे काँटे' की भूमिका में लिखे गए निम्नलिखित उद्धरण से प्रकट है—

"टूटे काँटे की मूल कथा का सार बहुत समय से मन को कोंच रहा था। यथेष्ट सामग्री प्राप्त करने की लालसा में प्रकाशित ग्रन्थों को, जो मेरी पहुँच के भीतर थे, टटोला तो उनसे संतोष नहीं हुआ।"

उनके ऐतिहासिक सत्यों के अनुसन्धान की प्रवृत्ति का उपर्युक्त उद्धरण से अच्छा परिचय मिलता है। उन्होंने एक-एक उपन्यास की कथावस्तु की ऐतिहासिक प्रमाणिकता की रक्षा के लिए, यथाशक्ति सब प्रकार के प्रयत्न किये हैं। यही कारण है कि उनके उपन्यास इतिहास का सच्चा स्वरूप भी प्रस्तुत करते हैं और उस स्वरूप के बीच बीच में भरे हुए कल्पना मूलक रंगों की छटा चित्रित करते हैं। उनके सभी ऐतिहासिक उपन्यास यथार्थ घटनाओं का सही चित्रण करते हैं। बहुत से उपन्यासों में तो उन्होंने नए अनुसन्धान गत तथ्यों को भी सामने लाने की चेष्टा की है। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि उन्होंने ऐतिहासिक सामग्री को विषयगत रूप में अधिक प्रस्तुत करने की चेष्टा की है, विषयीगत रूप में कम। उनकी इस विशेषता ने ही उनके उपन्यासों को ऐतिहासिक यथार्थवादी उपन्यास बना दिया है।

वृन्दावनलाल वर्मा के यथार्थवाद की झलक उनके उपन्यासों की भाषा और शैली में भी झलकती है। यथार्थवादी शैली की विशेषता को स्पष्ट करते

हुए ईवान वाट नामक पाश्चात्य आलोचक ने लिखा है कि सच्चे कलाकार का नैपुण्य शब्दों और वाक्यों के साहित्यिक सौन्दर्य विधान में नहीं, वरन् अभिव्यक्ति जनित प्रेषणीयता में अधिक रहता है। यही कारण है कि यथार्थवादी उपन्यासकार अपनी शैली को प्रभाव और प्रवाह पूर्ण अधिक बनाते हैं, चमत्कार और काव्यत्वपूर्ण कम। वृन्दावनलाल वर्माजी के उपन्यासों की शैली में सर्वत्र प्रवाह और प्रभाव को ही बल दिया गया है। उनमें कहीं पर भी झूठे चमत्कार, या प्रयत्नज काव्य सौन्दर्य की योजना का प्रयास नहीं दिखाई पड़ता। उनकी भाषा सीधी, सरल, स्वाभाविक, प्रसाद गुण सम्पन्न और उनकी शैली प्रवाह और प्रभाव पूर्ण है। उनकी इस प्रकार की शैली ने उनके उपन्यासों को और भी अधिक यथार्थवादी रूप प्रदान कर दिया है। संक्षेप में मैं यहाँ पर इसी बात पर बल देना चाहता हूँ कि वर्माजी के उपन्यासों का सौन्दर्य उनके रोमांस में नहीं, उनकी यथार्थवादिता में ही दिखाई पड़ता है। यदि उनके उपन्यास यथार्थवादी न होते तो सम्भवतः उनका उतना मूल्य नहीं होता जितना आज आँका जाता है। जो भी हो, वृन्दावनलाल वर्मा ने अपने उपन्यासों में यथार्थवाद का एक नवीन और मौलिक रूप प्रस्तुत किया है। उसके विशेष अध्ययन की आवश्यकता है।

[साहित्य-सन्देश जनवरी-फरवरी १९५९।

———

उपन्यास कैसे लिखे गये

लेखकों की अपनी लेखनी से

—१—

श्री वृन्दावनलाल वर्मा

उस समय मेरी आयु लगभग ग्यारह-बारह वर्ष की थी जब मैं झाँसी जिले के ललितपुर स्कूल की पाँचवी कक्षा में पढ़ता था। अङ्गरेजी में लिखा मार्सडन कृत भारतवर्ष का इतिहास पढ़ाया जाता था। उसमें पढ़ा कि भारत 'गरम-मुल्क' है इसलिए यहाँ के निवासी कमजोर हैं और इसी कारण वे बाहर से आये ठण्डे देशों के लोगों के मुकाबले हारते चले गये। आगे कभी नहीं हारेंगे क्योंकि ठण्डे देश वाले अंग्रेज आ गये हैं—सदा बने रहेंगे !! मेरा रोम-रोम जल उठा। राम, कृष्ण, अर्जुन, भीम के देशवासी कमजोर! और ये सदा अंग्रेजों के गुलाम बने रहेंगे !! पुस्तक का वह सफा नोचनाच डाला। अभिभावक ने मेरी पिटाई की क्योंकि पुस्तक आठ आने की थी। गरीब घर के लिए आठ आने की हानि कम नहीं थी। जब अभिभावक को कारण मालूम हुआ तब पछताये और बोले—'अंग्रेज लेखक ने गलत लिखा है। जब बड़े हो जाओगे तब अन्य पुस्तकों में सही बात पढ़ने को मिलेगी। मैंने उसी दिन गाँठ बाँधी कि खूब पढ़ूँगा और सही बातों का पता लगाकर कुछ लिखूँगा भी।

इसके कई वर्ष पीछे जब मैं झाँसी में नवें दर्जे में पढ़ता था, एक पंजाबी मित्र के घर किसी भोज में गया। वहाँ बुन्देलखण्ड और बुन्देलखण्डियों की दरिद्रता के साथ उनकी निन्दा—ठठोली रूप में—सुनी। छत्रसाल, वीरसिंह इत्यादि के पहले चंदेले—आल्हा, ऊदल—भी यहीं हुए थे। यहीं लक्ष्मीबाई हुईं। भारत के ऐसे प्रदेश की निन्दा जहाँ मेरे माता-पिता ने जन्म लिया और जहाँ की मेरी मिट्टी है! उन लोगों को उत्तर तो न दे सका परन्तु प्रण किया कि इतिहास और परम्परा के पीछे पड़कर कुछ लिखूँगा और दिखलाऊँगा कि जैसी यहाँ की प्रकृति—पहाड़, जंगल, झीलें, नदियाँ और मैदान—मनोहर हैं वैसा ही यहाँ का इतिहास भी शक्तिशाली और स्फूर्तिदायक है। पहले इतिहास लिखने का विचार था परन्तु किस्से-कहानियाँ, वीरगाथायें सुनने का छुटपन से

व्यसन था और फिर मिल गया वॉल्टर स्कॉट पढ़ने को तो मैंने अपनी बात कहने का माध्यम उपन्यास चुना।

किन्तु प्राचीन के उद्घाटन मात्र की रुचि न थी और न उद्देश्य था। जैसे-जैसे अध्ययन, अवलोकन और मनन करता गया, मेरा निश्चय दृढ़ होता गया कि आधुनिक समस्याओं का समावेश उपन्यासों में अवश्य होना चाहिए, और मैं अपना हल न देकर पाठकों को सुझाव मात्र दे दूँ। मैं तथ्य का उपासक हूँ; तथ्य को सृजनात्मक ढङ्ग से प्रस्तुत करना मैं सत्य की पूजा और कला का प्राण समझता हूँ। यदि यह प्रस्तुतीकरण निरुद्देश्य है—केवल मनोरञ्जन या 'कला के लिए कला' आदर्श है—तो व्यर्थ है। केवल मनोरञ्जन या मनोविश्लेषण लेखक का सामाजिक कर्त्तव्य नहीं है। सामाजिक कर्त्तव्य की सीमा दिखलाई नहीं पड़ती, परन्तु अपनी-अपनी परिधि की स्थापना तो की ही जा सकती है। अपने लिए मेरा मत यही है।

मैंने ऐतिहासिक उपन्यासों के साथ-साथ सामाजिक उपन्यास भी लिखे हैं और नाटक भी। अपनी बात कहने के लिए जब जो माध्यम रुचा ग्रहण कर लिया।

× × × ×

प्रेमचन्दजी ने भी मेरे कुछ उपन्यास पढ़े थे। 'लगन' उन्हें बहुत प्रिय था। एक बार उन्होंने अङ्गरेजी में लिख भेजा था कि 'It is not a noval but pastoral poetry.'

मुझे अपना कौन सा उपन्यास सर्वश्रेष्ठ लगता है ? इस प्रश्न का उत्तर देना मेरे लिए असम्भव नहीं तो बहुत कठिन अवश्य है। पाठकों की अपनी-अपनी रुचि पर निर्भर है। जिस परिस्थिति में पाठक की मनोदशा हो उस पर भी इसका निर्णय अवलम्बित है।

अधिकांश समालोचकों ने मेरे ऊपर अपनी उदारता बरसाई है। मैंने अपने प्रत्येक उपन्यास के प्रत्येक चरित्र को अलग-अलग चित्रित करने का प्रयत्न किया है, क्योंकि वे जीवन से लिये गये हैं, मेरे अनुभव में आये हैं। आपने बहुत कसकर पूछा है कि क्या कोई ऐसे भी समालोचक हैं जो मुझे खलते हों ? मनोविश्लेषण का विद्यार्थी होने के कारण मैं ऐसे आलोचकों की समीक्षा करने में थोड़ा-सा ही समय खर्च करता हूँ। जैसे मैं स्वयं सीमाओं वाला एक मानव हूँ। वैसे ही ये भी तो सीमाओं वाले हैं। और भी अच्छा, और भी बढ़िया क्यों न लिखूँ ?

तो अब जो लिखूँगा वही मेरी सर्वश्रेष्ठ रचना क्यों न हो? अतृप्त हूँ, असन्तुष्ट हूँ। अच्छे से अच्छा लिखता चला जाऊँ, बस यही धुन है। समालोचकों की समालोचक जानें। इतना जरूर कहूँगा कि कुछ समालोचक निस्सन्देह ऐसे हैं जिनसे लेखक और समालोचक दोनों कुछ न कुछ पाते रहते हैं।

अन्य उपन्यासकारों के सम्बन्ध में मेरे क्या विचार हैं? यह मैं नहीं कहूँगा और न कह सकता हूँ, क्योंकि मेरा यह क्षेत्र नहीं है।

कोई कुछ कहे मेरा तो दृढ़ विश्वास है कि हिन्दी प्रगति कर रही है। दस कदम आगे नौ कदम पीछे की बात नहीं है। सम्भवतः दस कदम आगे और तीन-चार कदम पीछे वाली बात हो सकती है। जिन्हें हिन्दी में—आजकल कुछ नहीं दिखलाई पड़ता वे शायद विदेशी भाषाओं के मुहावरों में उलझे हुए हैं।

—२—

श्री इलाचन्द्र जोशी

१—उपन्यास लिखने की रुचि मेरे मन में क्यों जगी, इस प्रश्न की ओर मेरा ध्यान इसके पहले कभी नहीं गया था। जब पहला उपन्यास लिखने बैठा था तब सिवा लिखते चले जाने के 'क्यों और कैसे?' इस तरफ का तो सवाल ही मेरे मन में नहीं उठा। पर आज जब मैं इस प्रश्न पर विचार करता हूँ तब ऐसा लगता है कि मेरी इस रुचि के पीछे निश्चय ही कोई मनोवैज्ञानिक कारण, धारणा या विश्वास अवश्य ही मेरे अनजान में काम कर रहा होगा! विश्लेषण करने पर कई कारणों में से एक कारण सुस्पष्ट रूप से मेरे आगे उभर उठता है। 'घृणामयी' (जो अब 'लज्जा' के नाम से प्रकाशित है) मेरी पहली औपन्यासिक कृति थी। इसके पूर्व में छुटपुट कविताएँ या छोटी कहानियाँ लिखा करता था। कहानियों से निरन्तर कटु और कठोर यथार्थ से संघर्ष होते रहने से मुझे (अनजान ही में) लगा कि स्वयं अपनी और सारे समाज की वास्तविक पीड़ाओं का चित्रण कविता की अपेक्षा मैं उपन्यास के माध्यम से अधिक ईमानदारी और सचाई से कर सकता हूँ। कविता द्वारा केवल सांकेतिक शैली में ही उस मर्म पीड़ा का भावात्मक आभास दिया जा सकता है, पर उपन्यास के द्वारा उसे जीवन्त और ज्वलन्त सत्य का रूप दिया जा सकता है; साथ ही औपन्यासिक शैली में काव्यगत भाव-पक्ष तो निहित है ही।

२—हिन्दी जनता ने मेरे उपन्यासों का कैसा स्वागत किया, इस प्रश्न का उत्तर यदि मैं यह दूँ कि मुझे स्वयं इस बात की ठीक जानकारी नहीं है, तो शायद इस पर कोई विश्वास नहीं करेगा। पर मेरा ईमानदारी का उत्तर यही है, कोई विश्वास करे या न करे।

इस प्रश्न के अन्तर्गत जो उप प्रश्न किया गया है उसके उत्तर में यह कहना है कि मुझे आज के पाठक या आलोचक किसी से कोई शिकायत नहीं है।

३—मैं अभी तक इस बात का कोई निर्णय नहीं कर पाया हूँ कि मेरा कौन उपन्यास 'सर्वश्रेष्ठ' है। केवल इतना ही जानता हूँ कि मुझे अपनी सभी रचनाएँ प्रायः समान रूप से प्रिय हैं।

४—प्रेमचन्द के पूर्व अधिकांश हिन्दी-उपन्यास साहित्यिक स्तर तक नहीं पहुँचते थे। उनकी शैली बाजारू थी और वे पाठक की चेतना के गहरे स्तर को तनिक भी नहीं छू पाते थे। प्रेमचन्द के उत्तरकालीन उपन्यासों में और उनमें जमीन-आसमान का अन्तर है। प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासकारों का साहित्यिक स्तर बहुत ऊँचा रहा है—विश्व-उपन्यास साहित्य के किसी भी युग के अच्छे-अच्छे उपन्यासों की तुलना में इस युग के प्रतिनिधि उपन्यास मुझे किसी भी रूप में हीन नहीं लगते।

५—जिन लोगों का ऐसा विचार है कि उपन्यासों की दृष्टि में हिन्दी-साहित्य की गति अवरुद्ध है, उनसे मैं सहमत नहीं हूँ। जिस तेजी से आज हिन्दी-उपन्यासों की गति चल रही है वैसी गति उसकी मैंने पहले कभी नहीं देखी। गत्यवरोध का जो भ्रम आलोचकों को होता है उसका एक कारण सम्भवतः यह है कि उपन्यासों की तीव्र गति के साथ आलोचकों की दृष्टि दौड़ नहीं लगा पा रही है, फलतः वे अपने आपको यह कहकर धोखे में रखना चाह रहे हैं कि अंगूर खट्टे हैं।

—३—

श्री मन्मथनाथ गुप्त

तेरह वर्ष की उम्र में मैं पहली बार जेलखाने भेजा गया। इसके बाद काकोरी षडयन्त्र तथा नजरबन्दी आदि के सिलसिले में मुझे कुछ कम बीस साल जेलों में रहना पड़ा। मेरा उद्देश्य और मेरा लक्ष्य मेरी बुद्धि और अध्ययन के

साथ व्यापकतर होते गये। यदि थोड़े में कहा जाय तो अन्त तक मैं सभी क्षेत्रों में क्रान्ति का उपासक हो गया।

यह मैं दावा कर सकता हूँ कि मैं भारतीय क्रान्तिकारी संग्राम में एक अदना सा सिपाही था। जब इसी संग्राम के दौरान में मैं ब्रिटिश सरकार की जेल में पहुँच गया और वहाँ रहते-रहते ६-७ साल हो गये और मैंने आगे झाँक कर देखा कि अभी न मालूम कितने साल और बन्द रहना पड़े, तब मेरे मन में यह विचार आया कि क्यों न मैं हथियार बदल दूँ और संग्राम को पूर्ववत् जारी रखूँ। इसी उद्देश्य से (उसके साथ आत्माभिव्यक्ति तो थी ही) मैं पहले कविता और बाद को कहानी तथा उपन्यास की ओर झुका। इसलिए मेरे निकट साहित्य स्वयं कोई लक्ष्य नहीं रहा। वह जीवन का उन्नयन करने तथा उसे ऐश्वर्यशाली बनाने का एक मात्र साधन है।

मैं यहाँ पर बहुत गहराई में उतरना नहीं चाहता। बस इतना ही कहना यथेष्ट है कि मेरे हाथों में एक-एक कहानी तथा उपन्यास ऐसी सर्वतोमुखी क्रान्ति को द्रुतीकृत करने के हथियार मात्र हैं। प्रत्येक उपन्यास में मैंने किसी न किसी बुराई पर आघात करने का प्रयत्न किया है।

'अवसान' में मैंने यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि अपराधी को पैदा करने की जिम्मेदारी समाज पर है। साथ ही मैंने वेश्यावृत्ति, सतीत्व, पुरुष और स्त्री का सम्बन्ध, स्त्री की आर्थिक पराधीनता आदि विषयों पर भी रोशनी डाली है।

'जययात्रा' उपन्यास में मैंने हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्ध के अतिरिक्त बलात्-गर्भिणी बनाई हुई नारी की समस्या उठाई है। क्या किसी मौके पर भ्रूण-हत्या जायज मानी जा सकती है? यदि हाँ, तो किन-किन मौकों पर।

'सुधार' उपन्यास में एक साहित्यिक को किन परिस्थितियों से झगड़ते हुए आगे बढ़ना पड़ता है, यही दिखाया गया है। अरिन्दम नामक क्रान्तिकारी कवि के इर्द-गिर्द प्रेम और घृणा की रोमाञ्चक कहानी से समस्या पर रोशनी डाली गई है।

'गृहयुद्ध' में फिर एक बार हिन्दू-मुस्लिम झगड़े को केन्द्र बनाकर यह दिखलाया गया है कि धर्म बिल्कुल एक प्रतिक्रियावादी शक्ति है। हमने यह दिखाने की चेष्टा की कि हिन्दू के हिन्दू रहते हुए और मुसलमान के मुसलमान रहते हुए केवल ऊपर से समन्वयवादी बातें करने से कुछ नहीं बनने का। धर्म से छुटकारा जरूरी है।

'होटल डि ताज' में मैंने यह दिखलाया कि दोषी वेश्यायें नहीं, बल्कि वेश्याओं की कमाई खाने वाले होटलों के मालिक ग्रौर रेस्टोरेंटों के स्वत्वाधिकारी हैं। वेश्यावृत्ति का सबसे ग्राधुनिक रूप होटलों में ही देखा जा सकता है। 'दुश्चरित्र' उपन्यास में गाँवों में फैली हुई रूढ़िवादी पद्धति की ग्रोर दृष्टि ग्राकर्षित करना है। गाँवों की वर्तमान पद्धति में सच्चरित्र का दुश्चरित्र के रूप में ग्रौर दुश्चरित्र का सच्चरित्र के रूप में ग्राना कोई विचित्र बात नहीं है। यह स्पष्ट कर दिया गया है कि पञ्चायतों के पुनः प्रवर्तन से कुछ नहीं होने का जब तक कि लोगों की धारणाओं में परिवर्तन नहीं किया जाता तथा ग्रपने को सर्वज्ञ ग्रौर सभ्यता तथा संस्कृति के ठेकेदार मानने वाले इन पञ्चों को सही ढङ्ग से शिक्षित नहीं किया जाता।

'ग्रन्धेर-नगरी' उपन्यास में चोर बाजारी तथा मुनाफा सर्वस्व लोग किस प्रकार समाज के दण्ड मुण्ड के कर्त्ता बने हुए हैं। ढोंगी ग्रौर ढकोसले बाजों का ढिंढोरा पिटता रहता है। इस उपन्यास में फिर मैंने गर्भपात के सामाजिक ग्रौर कानूनी पहलू को उठाया है।

'जिच' उपन्यास में १६४२ की क्रान्ति की कमजोरी ग्रौर उसकी ताकत पर रोशनी डाली गई है। एक मीठी सी प्रेम-कहानी के इर्द-गिर्द यह व्याख्या चलती है।

'चक्की' नामक उपन्यास में मैंने यह दिखलाया है कि साम्प्रदायिकता के पीछे साम्राज्यवाद के खूनी पंजे किस प्रकार ग्रन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर क्रियाशील हैं। मैंने इसमें यह भी दिखलाया कि संगठित साम्प्रदायिक, पागलपन के विरुद्ध ग्रहिंसा बिल्कुल बेकार है। इस उपन्यास का भी मूल प्रतिपाद्य यह है कि धर्म खुराफात की जड़ है ग्रौर यह मानव को दानव बना सकता है।

'रक्षक भक्षक' उपन्यास में ऐसे सब पेशों के विरुद्ध, विशेषकर डाक्टरी पेशे के विरुद्ध चोट की गई है, जिनमें दूसरों की मुसीबत किसी की समृद्धि का कारण बन सकती है। ऐसे पेशों के सम्बन्ध में यह सोचना पड़ेगा कि उन्हें निजी व्यवसाय के रूप में रहने दिया जाय या नहीं। इस उपन्यास में ग्राधुनिक कहलाने वाले लोगों की पोल खोली गई है।

'दो दुनियाँ' उपन्यास में यह दिखलाया गया है कि पाकिस्तान के सब्ज़ बाग से भारत या पाकिस्तान किसी देश का भला नहीं हुग्रा। ग्रसली दो दुनियाँ तो गरीबों ग्रौर ग्रमीरों की दुनिया है, वह पहिले की तरह कायम है। ग्रफसर वर्ग की लूट ग्रौर बेईमानी का भी इसमें पर्दाफाश है।

"बहता पानी" उपन्यास में मैंने पहले-पहल क्रान्तिकारी दल के एक छूटे हुये व्यक्ति को लिया है। वह त्यागी है, पर विचारधारा में स्पष्टता न होने के कारण वह बराबर बहकता जाता है।

"काजल की कोठरी" नामक उपन्यास अभी लिखा गया है इसमें कलाकार को जिस प्रकार सेक्स और मुनाफे की भूखी दुनियाँ से संग्राम करना पड़ता है, कला के नाम पर और उसकी पृष्ठभूमि में क्या-क्या बदकारियाँ होती हैं, यह दिखाया गया है।

मेरे लिए यह कहना कठिन है कि मैं अपने किस उपन्यास को सर्वश्रेष्ठ समझता हूँ। मेरे कई उपन्यास मुझे इस पदवी के दावेदार ज्ञात होते हैं। इस समय "काजल की कोठरी" उपन्यास ही मुझे अपना सर्व श्रेष्ठ उपन्यास मालूम हो रहा है, पर शायद उसी प्रकार की बात हुई जैसे मां अपने सबसे छोटे बेटे को सबसे अधिक प्यार करती है। इस सम्वन्ध में मैं अपनी विचार बुद्धि पर विशेष भरोसा नहीं करता।

मेरे उपन्यासों का बहुत अच्छा स्वागत हुआ है। लगभग सभी पुराने उपन्यास दूसरे या तीसरे संस्करण में हैं। कइयों का अनुवाद भारत की अन्य भाषाओं में हो चुका है।

प्रेमचन्द के बाद हिन्दी उपन्यास के शिल्प में बहुत उन्नति हुई है, पर प्रेमचन्द में जो सामाजिक दृष्टि थी, उसकी आज के उपन्यासकारों में कमी है। मुझे हिन्दी उपन्यास में कोइ गत्यवरोध ज्ञात नहीं होता, पर वङ्गला के इधर के उपन्यासकारों में भी जो साधना दीख पड़ती है, उसका हिन्दी में प्राचुर्य नहीं है। मैं मानता हूँ कि ज्यों-ज्यों हिन्दी उपन्यास कुछ जाने-माने केन्द्रों में रहने वाले लेखकों के हाथ से निकल कर कुमारी धरती के पास आयेगा, त्यों-त्यों उसकी अधिक उन्नति होगी।

—४—

श्री गुरुदत्त

मैंने सर्वप्रथम "चन्द्रकान्ता" उपन्यास देवकीनन्दन खत्री द्वारा लिखित पढ़ा था। उस समय मैं स्कूल की पाँचवीं श्रेणी में पढ़ता था। "चन्द्रकान्ता" मुझको बहुत ही रसमय लगा था। वास्तव में लेखक बनने की इच्छा मेरे मन में तब ही उगी थी।

पश्चात् मुझको अन्य अनेकों कहानी और इतिहास की पुस्तकों के पढ़ने का अवसर मिला और मेरी इच्छा कहानी लेखक बनने की बड़ती ही गई। मैं

अभी दसवीं श्रेणी में पढ़ता था, जब मैंने प्रथम बार लिखने का साहस किया। मैंने एक कहानी लिखनी आरम्भ की परन्तु मेरे एक मित्र की दृष्टि उस लिखे पर पड़ गई और उसने वह लिखे पाँच-दस कापी के पन्ने मेरे बड़े भाई साहब को सुना दिये, जिनसे डाँट पड़ने पर मेरे लिखने का उत्साह लुप्त हो गया। यह सन १९१२ की बात है।

इस पर भी उत्साह मिटने के साथ इच्छा नहीं मिटी। तत्पश्चात् १९२४ में पुनः कहानी लिखने के लिए प्रेरणा एक अँग्रेजी पुस्तक "इटर्नल सिटी" के पढ़ने से हुई। एक 'क्रान्तिकारी' शीर्षक से कहानी लिखी और स्कूल जिसमें मैं पढ़ता था, एक साहित्यिक गोष्ठी में पढ़कर सुना दी। बस मेरा साहस यहीं तक पहुँच पाया।

१९२७ में मेरी लिखी कहानी पहिली बार 'माधुरी' में छपी। कहानी थी 'अदृश्य व्यक्ति'।

उपन्यास, जो सर्वप्रथम छप सका वह 'स्वाधीनता के पथ पर' है। यह १९४२ में छपा। इसकी प्रेरणा मुझको शरत बाबू के 'पथ के दावेदार' से मिली थी।

मैं यह भली-भाँति वर्णन नहीं कर सकता कि हिन्दी के पाठकों ने मेरे उपन्यास कैसे पसन्द किये हैं। यह तो पुस्तक बिक्रेता मुझसे अधिक सरलता और सच्चाई से बता सकते हैं। मेरे पास तुलनात्मक आँकड़े नहीं हैं। हाँ ! इतना तो जानता हूँ कि मेरी पुस्तकें उतनी नहीं बिकतीं, जितनी अँग्रेजी अथवा अन्य यूरोपियन भाषाओं के उपन्यास बिकते प्रतीत होते हैं। परन्तु इस बात में तो यहाँ की परिस्थति जिम्मेदार है।

अपने सर्वश्रेष्ठ उपन्यास का नाम बताना भी एक कठिन विषय है। केवल तीन-चार वे उपन्यास, जो अच्छे बिक रहे हैं, के नाम ही लिख कर दे सकता हूँ। ये हैं—स्वाधीनता के पथ पर, पथिक, बहती रेती, देश की हत्या, गुण्ठन तथा प्रवञ्चना। मैं समझता हूँ कि इन सब में, वह सब कुछ, जो कुछ में लिखना चाहता था, भली-भाँति लिख पाया हूँ। यही कारण है कि पढ़ने वाले को इनमें रस मिलता है।

श्री प्रेमचन्दजी के पूर्व काल में लिखे उपन्यास प्रायः भाषा के लालित्य के कारण प्रसिद्धि पाते रहे हैं। प्रेमचन्दजी ने उपन्योसों में भावों को भरने का यत्न किया है। प्रेमचन्दजी में एक और विशेषता दिखाई देती है। वह यह कि

व्यक्तिगत चरित्र-चित्रण को ही लक्ष्य न रख कर उपन्यासों को सामयिक समाज की अवस्था प्रकट करने में साधन मान लिया है।

प्रेमचन्दजी के उत्तरकालीन हिन्दी उपन्यासकार प्रायः या तो आदर्श लिखते-लिखते वास्तविकता भूल जाते प्रतीत होते हैं, अथवा वास्तविकता का विश्लेषण करने में पाश्चात्य सभ्यता की कसौटी पकड़ बैठते हैं। एक शब्द में मेरा कहना यह है कि उपन्यास लिखने में घटनाओं, विवेचनाओं, मनोद्गारों, वस्तुस्थिति और सुझावों का सन्तुलन होना चाहिए। यह आधुनिक उपन्यासों में ठीक बैठता प्रतीत नहीं हो रहा है। मैं स्वयं भी इस सन्तुलन रखने में कितना सफल हो पाता हूँ, कहना कठिन है।

हिन्दी-साहित्य की गति अवरुद्ध है, मैं ऐसा नहीं समझता। मेरे विचार में गति तो है, परन्तु यह उचित दिशाओं में नहीं है। इसमें सबसे बड़ा कारण भारत सरकार का हिन्दी के अच्छे-अच्छे लेखकों को अपनी सेवा में लेकर उनसे अपनी इच्छानुसार कार्य लेना है। हिन्दी के राष्ट्रभाषा हो जाने से हिन्दी के लेखक कुछ ऐसा समझने लगे हैं कि उनका पालन-पोषण सरकार का कार्य हो गया है।

साथ ही इस समय सरकार हिन्दी-पुस्तकों की सबसे बड़ी ग्राहक है। उसके अपने सहस्रों पुस्तकालय हैं और पुस्तक बिक्रेताओं का मुख्य कार्य उन पुस्तकालयों से आर्डर प्राप्त करना मात्र रह गया है। सर्व साधारण पाठक एवं जनता के साथ पुस्तक विक्रेताओं का सम्पर्क कम होता जा रहा है।

इस सब का अभाव हिन्दी-लेखकों के मस्तिष्क पर पड़ रहा है। वह स्वतन्त्र विचारक न रहकर परिस्थितियों से बनाई लकीरों पर चलने वाला बन रहा है। इसको गति अवरुद्ध तो नहीं कह सकते। इसको मिथ्या दिशा में गति ही कहा जा सकता है।

लेखक की उत्कृष्ट कल्पना तो स्वच्छन्द विचार और आचार में उत्पन्न होती है। इसकी रक्षा में ही भावी प्रगति का बीज मिलेगा।

—५—

श्री रांगेय राघव

मेरा पहला प्रकाशित उपन्यास था घरोंदे, जो कालेज-जीवन में ही लिखा था। कालेज का जीवन अनेक कहानियों का संघट्ट साथ और वही मेरी रचना में परिलक्षित हुआ। किंतु यदि मौलिक रचना का पहलापन छोड़ दिया जावे तो उपन्यास मैंने उससे भी पहले लिखे, जो विदेशी साहित्यों के भारतीय वातावरण के अनुकूल किये गये रूपांतर थे जैसे अंधेरे की भूख, बोलते खण्डहर

ग्रौर नबाब का वारिस। उनमें रोमांस का प्रभाव ग्रधिक था।

'घरौंदे' के बाद मेरे सामने दो रूप खड़े हुए। एक ग्रोर जीवन के यथार्थ ने मुझे वर्तमान में ग्रपनी ग्रोर ग्रधिक खींचा, तो दूसरी ग्रोर भारत की ग्रात्मा, उनकी यात्रा ग्रौर संस्कृति की महान् गति ने मुझे ग्राकर्षित किया ग्रौर मैंने ग्रतीत के विभिन्न युगों के सङ्घर्षों में मनुष्य को पहचानने का प्रयत्न किया। सीधा सादा रास्ता, विषाद मठ, हुजूर, काका, पराया, उगल ग्रादि पहले वर्ग के ग्रन्तर्गत हैं तो मुर्दों का टीला, ग्रंधेरे के जुगनू, प्रतिदान, चीकट ग्रौर राणा की पत्नी दूसरे वर्ग में। इस दूसरे वर्ग के ग्रन्तर्गत ही मेरी वह जीवनियाँ ग्राती हैं जिन्हें मैंने उपन्यासों का रूप दिया है जैसे देवकी का बेटा, यशोधरा जीत गई, लोई का ताना, रत्ना की बात ग्रौर भारती का सपूत। मेरे 'कब तक पुकारें' नामक नटों के जीवन से सम्बन्धित उपन्यास में मैंने ग्राम-जीवन के निम्नतर स्तर का ग्रध्ययन किया है ! मैं कभी मार्क्सवादी ही कहला सकूँ ऐसा नहीं रहा। यदि 'सीधा सादा रास्ता' को कोई गौर से पढ़े तो देख सकता है कि उसमें गाँधीवाद का विश्लेषण कम्यूनिस्टों वाला नहीं लिखा गया। मार्क्स से जो मुझे लेना था वही मैंने सदैव लिया, जैसे ग्रन्यों से बहुत कुछ लेने योग्य लिया है। युगों में ग्रपराजित मनुष्य की साधना, वह भावना ढूँढ़ने का पता जो वर्तमान ग्रौर ग्रतीत में मनुष्य की चेतना को उद्‌बुद्ध करती रही है, उसके कष्टों को मिलने की प्रेरणा देती रही है, मेरा प्रयत्न रहा है—ग्रौर वर्ग-युद्ध को मैंने स्वीकार किया है, किन्तु मनुष्य को कभी यांत्रिक चिंतन का दास स्वीकार नहीं किया।

ग्रपने उपन्यासों के विषय में इतना ही कह सकता हूँ कि कोई भी उपन्यास मैंने कम परिश्रम से नहीं लिखा ग्रौर प्रत्येक में जीवन-दर्शन का कोई नया पहलू देने का यत्न किया है, ग्रतः सर्वश्रेष्ठ नहीं कह सकता। सफलता के दृष्टिकोण से मेरी जीवनियाँ ग्रधिक पसन्द की गई हैं ग्रौर 'घरोंदे', 'मुर्दों का टीला' तथा 'हुजूर' का नाम ग्रधिक सुना गया है। मैं किसी 'वाद' में सीमित नहीं हो जाता, क्योंकि मैंने किसी की नकल नहीं की। मैंने उपन्यास का मूलाधार भी ग्रन्य ग्रभिव्यक्तियों के रूपों की भाँति भाव को माना है, ग्रौर भाव के विषय में मेरा मत स्पष्ट ही है कि लोक-कल्याण को समन्वित करके ही युग-सत्य के बीच मनुष्य की चेतना का निखार भाव को लेकर चलता है। चमत्कारवाद का मैं पक्षपाती नहीं हूँ, किन्तु उपन्यास की नवीतम शैलियों को ढंढ़ते रहने का पक्षपाती हूँ। न मैं यौनवादी तृष्णा में व्यक्तिवाद ग्रौर प्रयोगवाद का ग्राश्रय लेना चाहता हूँ, न प्रगतिवाद के चोले में ग्रपने को यान्त्रिक बना

सकता हूँ। मेरे सामने इतिहास है, जीवन है, मनुष्य की पीड़ा है और है वह मनुष्य की चेतना जो निरन्तर अन्धकार से लड़ रही है और इसमें बढ़कर अभी तक कोई सत्य मेरे सामने नहीं आया है। व्यर्थ की समस्यायें मुझे नहीं आतीं और वह भी व्यक्तिवादी टुँटपूँजियेपन की।

मेरे सामने गतिरोध नहीं है। प्रेमचन्द के बाद गतिरोध कहाँ है? मैं विकासवादी हूँ। प्रेमचन्द-परम्परा का तात्पर्य एक यांत्रिक नारा है। क्या लेखक अपने पूर्ववर्तियों की परम्परा मात्र होते हैं? आलोचकों को पाठकों से सीखना है, लेखकों से सीखना है—क्योंकि आलोचकों के मानदण्डों में लेखक फिट नहीं होंगे, उन्हें हमारे बनाये मानदण्डों की नये सिरे से परख करनी होगी। प्रेमचन्द में जो शरद की भाँति मनुष्य के भीतर को चित्रित करने में कमी है उसे क्या हम अन्तिम सत्य मान लें। अभी समय है और हमें बहुत कुछ करना है। कुण्ठा का जन्म सत्य में नहीं होता, अहं में होता है।

—६—

श्री राहुल सांकृत्यायन

इतिहास का प्रेमी और विद्यार्थी होने से उसे मूर्तिमान करने की आकांक्षा हुई। इसी के परिणाम मेरे उपन्यास हैं।

उपन्यास के कई-कई संस्करण निकले हैं। कुछ के गुजराती, मराठी, तेलगू, मलयालम आदि में अनुवाद भी हुए हैं। इससे कहना ही चाहिए कि पाठकों ने स्वागत किया है।

मैं अपने उपन्यासों में किसी को सर्वश्रेष्ठ नहीं कह सकता।

प्रेमचन्द के पूर्व के उपन्यास कुछ दूसरे ही थे। प्रेमचन्द के उपन्यासों के बारे में तो कहना ही क्या है। वह तो हमारे मानदण्ड हैं। उत्तरकालीन उपन्यासों में चाहे प्रेमचन्द के उपन्यासों की तुलना न पाई हो, पर अच्छे-अच्छे उपन्यास लिखे गये हैं, और अब भी वह आगे बढ़ते जा रहे हैं।

मैं उपन्यासों की दृष्टि से हिन्दी-साहित्य में अवरोध नहीं मानता।

७—श्री देवकीनन्दन खत्री, ८—श्री प्रेमचन्द, ९—श्री विश्वम्भरनाथ कौशिक, १०—श्री जयशङ्करप्रसाद, ११—श्री बेचन शर्मा 'उग्र', १२—श्री जैनेन्द्र, १३—श्री सियारामशरण गुप्त, १४—श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी, १५—श्री स० ही० वात्स्यायन, १६—श्री यशपाल।

संख्या ७ से १६ तक के लेखकों के विषय में देखिए डा० नगेन्द्र का लेख जो पृष्ठ ८ से पृष्ठ १६ तक और पृष्ठ २२२ पर छपा है।

[साहित्य-सन्देश, अगस्त १९५६।

(पृष्ठ १६ का शेषांश)

जिकता को उसी समय प्रसाद, वृन्दावनलाल और उग्र ने चैलेञ्ज किया। प्रसाद ने निर्भय होकर सामाजिक संस्थाओं का गर्हित खोखलापन दिखाया, वृन्दावन लाल ने वर्तमान के इतिवृत्त को छोड़ कर अतीत के विस्मय गौरव की ओर संकेत किया, उग्र ने उस उथली नैतिकता को चुनौती दी, परन्तु गांधीवाद के व्यवहार पक्ष का लोक रुचि पर उस समय इतना अधिक प्रभाव था कि प्रेमचंद का गतिरोध करना असम्भव हो गया। उस समय लोगों की दृष्टि गांधीवाद के व्यवहार पक्ष तक ही सीमित थी, उनके अध्यात्म तक नहीं पहुँच पाई थी। जीवन के इस तल तक पहुँचने का प्रयत्न जैनेन्द्रजी ने किया है। विवेक और नीति से आगे अध्यात्म की ओर बढ़ने का उनको और सियारामशरण जी को आरम्भ से ही आग्रह रहा है। उनकी पीड़ा की फिलासफी में गांधीवाद का अध्यात्म पक्ष ही तो है। इस दृष्टिकोण की तत्कालिक प्रतिक्रियाएँ हमें भगवती बाबू की 'चित्रलेखा' और अज्ञेय के 'शेखर' में मिलती हैं। भगवती बाबू आस्तिक प्रवृत्तिवादी हैं। पीड़ा में उनका विश्वास नहीं—उनकी अवस्था स्वस्थ उपभोग में है। अहं के निषेध में नहीं, अहं के परितोष में है। अज्ञेय का दृष्टिकोण शुद्ध वैज्ञानिक और बौद्धिक दृष्टिकोण है-- ये नास्तिक बुद्धिवादी हैं। उनके इसी दृष्टिकोण की दृढ़ता और स्थिरता के कारण ही वास्तव में 'शेखर' हिन्दी की एक अभूतपूर्व वस्तु बन गया है। बुद्धि की इस दृढ़ता के साथ में काश अज्ञेय के पास आस्तिकता का समर्थन भाव भी होता। यशपाल में यह प्रतिक्रिया एक कदम और आगे बढ़ जाती है। उनका दृष्टिकोण वैज्ञानिक न होकर भौतिकवादी हो जाता है। अज्ञेय की बौद्धिकता इनमें भी हैं, लेकिन वैज्ञानिक आत्मलीनता इनमें नहीं है, ये अपने से बाहर जाते हैं। इनमें भौतिकवादी सामाजिकता है।

ऊबे हुए लोगों में से इतने में ही एक आवाज आई 'समझ गए' 'समझ गए' आपने क्या खूब संश्लेषण किया है। बस अब छुट्टी........।' मैंने अपनी आँखें मलते हुए देखा कि काफी दिन चढ़ आया है और श्रीमती जी पूछ रही हैं कि 'छुट्टी है क्या आज ?'

[साहित्य-सन्देश, अप्रैल-मई १९४४।

हमारा आलोचना सम्बन्धी साहित्य

सुमित्रानन्दन पन्त—ले०–डा० नगेन्द्र। इस पुस्तक में छायावाद के स्वरूप के साथ उसके टेकनीक का विवेचन और पन्तजी की नवीनतम कृतियों की आलोचना है। मूल्य ३.५०

साकेत एक अध्ययन—ले०–डा० नगेन्द्र। इसमें साकेत के भावपक्ष कलापक्ष और सांस्कृतिक पक्ष के सम्बन्ध में आलोचना है। मूल्य ४.००

हिन्दी-गीति-काव्य—ले०–प्रो० ओम्प्रकाश अग्रवाल एम० ए०। यह पुस्तक विशेषकर हिन्दी-गीति-काव्य का विश्लेषणात्मक अध्ययन करने के लिए लिखी गई है। इसमें हिन्दी-गीति-काव्य तथा कवियों का परिचय निष्पक्ष रूप से दिया गया है। हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में यह गीति-काव्य अमूल्य निधि है। मूल्य ३.५०

ब्रजलोक साहित्य का अध्ययन—ले०–डा० सत्येन्द्र एम० ए०, पी-एच० डी०। प्रस्तुत पुस्तक लेखक का पी-एच० डी० के लिए लिखा गया प्रबन्ध रूप में एक अद्वितीय ग्रन्थ है। इसमें ब्रजलोक-वार्त्ता का वैज्ञानिक किन्तु रोचक अध्ययन उपस्थित किया गया है। दूसरा संस्करण अभी छपा है। मूल्य ३.००

ऐतिहासिक उपन्यास और उपन्यासकार—ले०–डा० गोपीनाथ तिवारी एम० ए०, पी-एच० डी०। ऐतिहासिक उपन्यास और उपन्यासों पर प्राप्य सामग्री के लिए आपको इस पुस्तक की आवश्यकता होगी। इस पुस्तक में लेखक की शोधपरक प्रतिभा का आभास सहज ही मिल सकेगा। विशेषता यह है कि पुस्तक में आधुनिकतम सामग्री का उपयोग कर लिया गया है। इस पुस्तक में विषय की गहराई और विस्तार दोनों ही मिलेंगे। मूल्य ३.००

रसज्ञ-रञ्जन—ले०–आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी। इस ग्रन्थ में द्विवेदीजी के महत्वपूर्ण साहित्यिक लेख संग्रहीत हैं। मूल्य १.७५

प्रसादजी की कला—सम्पादक–डा० गुलाबराय एम० ए०। इस पुस्तक में प्रसादजी की बहुमुखी प्रतिभा के विभिन्न पक्षों पर विविध विद्वानों द्वारा आलोचनात्मक प्रकाश डाला गया है। मूल्य ५.००

गुप्तजी की कला- ले०–डा० सत्येन्द्र। गुप्तजी पर प्रथम आलोचनात्मक पुस्तक। मूल्य ३.००

कला, कल्पना और साहित्य—ले०–डा० सत्येन्द्र के साहित्यिक निबन्ध उच्च कक्षा के विद्यार्थियों के लिए। मूल्य ५.००

भाषा-भूषण—डा० गुलाबराय। १.००

पन्तजी का नूतन काव्य और दर्शन—ले०–डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय। प्रस्तुत पुस्तक में पन्तजी के नूतन काव्य की बड़ी विशद और महत्त्वपूर्ण समालोचना है। अरविन्द दर्शन और मार्क्सवाद की तुलना करके पन्त-दर्शन की कड़ी परीक्षा की गई है। हिन्दी में इस ढङ्ग की यह अपूर्व पुस्तक हैं। मूल्य १३.२५

मानस-माधुरी – ले०–डा० बलदेवप्रसाद मिश्र। रामचरितमानस जैसे उत्कृष्ट ग्रन्थ पर कई पुस्तकें प्रकाशन में आईं परन्तु उनमें प्रामाणिक पुस्तक का सदैव अभाव रहा है। डा० मिश्र की इस पुस्तक को प्रकाशित कर हमने उस अभाव की पूर्ति की है। यह पुस्तक उतनी ह आवश्यक है जितना कि 'रामचरितमानस' का प्रत्येक परिवार में रहना। अतः आज ही पुस्तक प्राप्ति के लिए लिखिए। मूल्य ८.००

कहानी दर्शन—ले०–श्री भालचन्द गोस्वामी 'प्रखर'। लेखक ने इस पुस्तक में कहानी का सर्वतोमुखी दर्शन दार्शनिक दृष्टिकोण से किया है तथा कहानी की विभिन्न परिभाषाएँ देकर उसके विभिन्न तत्त्वों और प्रकारों पर प्रकाश डाला है। कहानी के शिल्प-विधान और शैलियों का विवेचन सर्वथा नूतन है। कहानी के सर्वाङ्गीण अध्ययन के लिए प्रस्तुत पुस्तक परमोपयोगी है। मूल्य १०.००

हिन्दी-आलोचना सिद्धान्त : और विवेचन—सम्पादक–श्री महेन्द्रजी। 'साहित्य-सन्देश' आगरा में प्रकाशित कतिपय लेखों का संग्रह। इसमें डा० गुलाबराय, डा० नगेन्द्र, डा० विश्वनाथप्रसाद, डा० भोलाशङ्कर व्यास, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि प्रसिद्ध आलोचकों के २६ निबन्धों का संग्रह है। आलोचना-शास्त्र का विधिवत् अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों तथा अनुसंधित्सुओं के लिए इसमें बहुत उपयोगी निबन्धों का संग्रह किया गया है। मूल्य ४.००

———

Kris... contained ... but was ...

...Minister ... nothing ... the activities of ... Hence there was ... curbing its activi...

Mr Wankhede ... New York on Se... the Indian delega... Nations General ...

He told newsm... the USA he wo... American Co-ope... ask it to set up ... Maharashtra.

The League ... willingness to se... plant in India b... been taken abou... the project. As ... in Gujarat has ... getting the proj...

Congres... meet a...

Express N...

NEW DELHI, ... member team ... which will tour ... campaign for a ... tation of sociali... semble in Jaip... the birthday of ...

The team will ... Secretaries, Mr ... Mr Chandrasekh... nath Pahadia, a... wari Sinha. Mr ... has fought for ... banks and aboli... ses will also be ...

In the first la... team will visit A... pur, Lucknow a... reaching Howr... rah, it will ... Madras and from ... Hyderab... lore and tour ... nationsit Poona ... the tour will ... Meanwhile, the ... Secretary, Mr ...

...Sena was ... Maharashtra ... to ensure ... er to life ... Shiva Sena ... Maharashtra

...pointed out ... Minister, Mr ... cribed the ... " organi-...

One of the objec... UNCTAD is to get preferential tariffs for goods manufactured by developing nations. India is vitally interested in this since it could lead to a re-orientation of the entire sales policy of Indian industry. At present industry is thriving on a completely sheltered market, and has to be both cajoled and threatened before thinking of exports. But if the advanced na-...

...1966-67, but the Corporation has sanctioned the statutory 4 per cent.

Mr Kashyap said the Corporation did not have the resources to pay bonus at the rate of 20 per cent as demanded by the employees. If the agitation continued it might not only affect the growth of the Corporation but might even jeopardise the essential supplies of...

...ensured to concentrate on exports.

United front

There is every reason to believe that the developing nations will present a united front to the UNCTAD on this matter. Preferential tariffs will not only immediately benefit nations exporting manufacturers, they will in the long run also help those nations which at present export only primary products. There are only nominal tariffs at present on primary products but huge tariffs on processed products. If these tariffs were abolished or drastically cut, then developing nations could set up processing industries which would export finished products instead of just commodities, as at present. This would not only raise the export value of such products, it would also lead to the industrialisation of developing nations in those fields for which they are best suited.

While the developing nations will almost certainly reach unanimity on the topic of manufacturers, they may find it defficult to agree on commodities. By and large there is a world surplus of commodities, and prices have been steadily falling ever since the Korean War. One obvious method of reversing this trend is to curb production and give each developing nation an export quota. This is precisely what is recommended by the major exporters of commodities.

However, the small exporters of commodities are not agreeable to curbing their production. On the contrary, they want to expand their share of world trade in commodities. While production curbs and quotas would greatly benefit the large, traditional exporters, they would be against the interests of small exporters who are eager to increase their exports in these fields.

A typical example is that of coffee. Brazil and Colombia who account for the bulk of cofee exports, want production curbs. But India, which wants to increase its

Gandhi Jayanti

NEW DELHI, Sept 22 (UNI)—Gandhi Jayanti week will be celebrated throughout the country from October 2.

The National Committee for the Gandhi Centenary has planned special programmes for the week and has decided to observe it as the preparatory week for the centenary celebrations.

The committee has drawn up an elaborate programme for the centenary and circulated it all over the country.

The Organising Secretary of the Committee, Mr Devendra Kumar Gupta, in an appeal to the ...

---

ed with the cost of living index but it was much higher than what the Union Government was paying to its employees.

Kerala, W. Bengal for food zone status quo

Express News Service

NEW DELHI, Sept 22—Kerala and West Bengal are expected to fight for status quo if the question of food zones comes up in a big way for discussion at the conference of Chief Ministers to be held next week.

On the agenda will be a review of the past year, drawing up a food policy, procurement target and determination of quotas for States for contribution to the Central pool.

It is believed that the Chief Ministers of Gujarat and Himachal Pradesh who have been wanting larger zones will certainly bring up the subject. In fact Himachal Pradesh wants to be with Punjab as it finds itself high and dry in regard to food supplies. The Delhi Union Territory too wants to be in the same zone as Punjab and Haryana.

The question of zones has been discussed in April and July this year. In the latter meeting the Chief Ministers preferred to continue the present single State zone. The subject, however, crops up at every conference. Kerala, which once fought for a larger zone, preferably one zone for the South, now feels it safer to pin the responsibility on the Centre and sit at ease.

It is gathered that Kerala now finds the present Madras Government tough as far as movement across the border is concerned. The Congress Government was also wedded to enforcing zonal restrictions but with all that some supplies got across. The DMK Government has sealed the border for purposes of inter-State movement.

The West Bengal Government, whose record in procurement is dismal, finds it cosy to ride a high horse and resort to occasional dharnas. Informed sources say that nothing will suit it better than continue the present arrangement.

Above all, the surplus Governments have also become wiser. They do not think any more that it is good for deficit States to buy at fantastic prices as it is their bitter experience that lured by money the marginal agriculturists sell even their food stocks.

The Food Corporation ...